सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : चार

किरण-वीणा वाणी कला और बूढ़ा चाँद
पौ फटने से पहिले पतझर : एक भावक्रान्ति गीतहंस

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

अनुक्रम

किरण-वीणा

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९६७]

स्नेही बन्धु
स्व० पुराणीजी की
स्मृति को—
सस्नेह

विज्ञापन

'किरण-वीणा' में मेरी नवीनतम रचनाएँ संगृहीत है, जिनमें अधिकांश सन् १९६६ में लिखी गयी हैं। इन रचनाओं के विषयों मे पर्याप्त वैचित्र्य है, जिसका कि पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। 'वाणी' की 'आत्मिका' की तरह ही इस संग्रह के अन्त में 'पुरुषोत्तम राम' शीर्षक कविता में मेरी आत्म-कथा की भी रूपरेखा आ गयी है। 'आत्मिका' की कथावस्तु मुख्यतः मन तथा जीवन के धरातल की है, प्रस्तुत रचना इनके अतिरिक्त मेरी चेतनात्मक अनुभूतियो से भी सम्बन्ध रखती है।

अपनी अस्वस्थता के बाद पाठकों के सामने यह संग्रह प्रस्तुत करने में मुझे प्रसन्नता होती है।

१८/बी० ७, के० जी० मार्ग
इलाहाबाद
१ दिसम्बर, १९६६

सुमित्रानंदन पंत

मैं हूँ केवल
एक तृण-किरण,
जिसको मानव के पग धर
चलना धरती पर !
मेरे नीचे
पड़ा अडिग पर्वताकार शव—
पथराया केंचुल अतीत का !...
मुझको क्या उसमें नव जीवन डाल
जगाना है जड़ शव को ?
नहीं,—मुझे उर्वर भू रज से
नया मनुज गढ़ना अब,—
उसमें फूंक
स्वर्ग की साँस
अगोचर !
मृत को पुनः जिलाना
घातक होगा दारुण,—
नया मनुज
किरणों के कर से
खोले नया हृदय-वातायन !—
मैं हूँ केवल एक तृण-किरण !

किरण वीणा

किरणों की वीणा में—
सूर्य चन्द्र तूँबे दिग्-उज्ज्वल—
स्मेरमुखी ऊषाएँ हँस - हँस
गाती रहती प्रतिपल !

यह मेरी रस मानस तन्त्री,
साँसों के तारों में नीरव
आत्मा का संगीत भुवन अब
जन्म ले रहा अभिनव !

अन्तर्मुख सौरभ में बसकर
बहता चेतस का माणिक जल,
खिलते अश्रुत गीतों के पद
श्वेत पीत सरसिज दल !

स्वर्ग धेनुएँ पूँछ उठाकर
रँभा रही सुन मर्म मौन स्वर,
अन्तः सलिला स्वर्गगा के
तीर विचर रस कातर !

किस पावक का लोक अगोचर
उतर रहा प्राणों के भीतर—
नया कल्प अब उदित हो रहा
तम का मुख कर भास्वर !

कौन देव करते आवाहन
चन्द्र चेतना की अंजलि भर—
दुग्ध धार-सी ज्योति बरसती
नव छन्दों में झर-झर !
—किरणों की वीणा में !

तुम कौन ?

चन्द्र किरण किरीटिनी,
तुम कौन आती
मौन स्वप्न-सजग चरण धर ?
हृदय के एकान्त शान्त
स्फटिक क्षणों को
स्वर्ग के संगीत से भर !

मचल उठता ज्वार
शोभा-सिन्धु में जग,
नाचता आनन्द पागल
भाव-लहरों पर
थिरकते प्रेरणा पग !
इन्द्र-धनुष मरीचि दीपित
चेतना का मर्म में
खुलता गवाक्ष
रहस्य भास्वर !
अमर वीणाएँ निरन्तर
गूँज उठती, गूँज उठती
स्वप्न नि:स्वर—
तारकों का हो खुला
अनिमेष अम्बर !
मर्त्य से उठ स्वर्ग तक
प्रासाद जीवन का अनश्वर
रूप के भरता दिगन्तर !
चन्द्र किरण किरीटिनी,
तुम कौन आती
मौन स्वप्न-सुघर चरण धर !

नवोन्मेष

फिर किशोर क्वारे स्वप्नों का
कचनारी सौन्दर्य बरसता—
दिङ् मुकुलित कर अन्तर !
किस वसन्त के सूर्य स्पर्श से
दहक उठा फिर प्राणों का वन,
अनिर्वाप्य इच्छा का पावक
सोया था आत्मा में गोपन,—
उमड़ सिन्धु-आनन्द लोटता
जीवन के चरणों पर !
कौन शक्ति यह मेरे भीतर
शंखों की-सी नादित पर्वत
लोक जागरण की वेला में
घोषित करती जीवन-अभिमत ?
लो, इन्द्रिय माणिक मन्दिर का
खुला स्वर्ग तक स्फाटिक तोरण,
आते-जाते देवदूत शत
अन्तर में भर हीरक स्पन्दन !
प्राणों के मरकत प्रांगण पर
विचरण करता शाश्वत नि:स्वर—

जन्म ले रहा नया मनुज अब
तरुण अरुण,—भू-निशि दीपित कर!

फिर किशोर अवारे पावक का
कचनारी ऐश्वर्य बरसता
ज्वाला से भर अन्तर!

सूर्योदय

फालसई तूली से किरणें
नव शोभा की स्वरलिपि लिखती
जीवन के आँगन पर!

भू-यौवन के पावक घट-सा
उठता सूर्य शून्य दिशि उर भर,
उतर रहे चम्पक जघनों से
नव प्रकाश के स्वर्णिम निर्झर!

यह अनन्त यौवना प्रकृति
भव-निशि विषाद लेती हर!

सरिता वीणाओं-सी गाती
रजत वह्नि में लहरें न्हाती,
चपल, मुखर, भंगुर-गति जल में
सोया नील शान्ति-सा निःस्वर!

यह विराट् सुख का रंगस्थल
शाश्वत मुख पर क्षण का अंचल,
सृष्टि नित्य नव स्वर-संगति में
बढ़ती सुन्दर से सुन्दरतर!

खोलो हे मन का तृण-पिंजर
स्वच्छ सीमा से निकलो बाहर,
भू-रज भुजग, विहंग बनो उठ,
पंख शून्य में फैला भास्वर!

फालसई तूली से किरणें
श्री शोभा की स्वरलिपि रचतीं
प्राणों के प्रांगण पर!

देव श्रेणी

नयी देव श्रेणी को
जन्म दे गया, लो, मैं
नव मूल्यों में नये प्राण भर,
रश्मि किरीटी हिम शिखरों-सी
उठती जो तिर जीवन सागर!

कर्दम में डूबे
युग के आकण्ठ मनुज को
नव विकास पथ पर स्थापित कर,
मिटा गया इतिहास तमस
चैतन्य लोक दिखला
दिग् भास्वर!

एक सूर्य अब अस्त हुआ
मानव आत्मा में—
बिखर रहा चैतसिक धूम
बन घन ताराम्बर,
अरुणोदय होने को उर में
एक ज्योति झुक रही
क्षितिज से
मानव भू पर!

किसको छूने
हाथ बढ़ाता
बौना व्यक्ति
उठा भू से पग?
चन्द्र खिलौना व्यर्थ—
उदय नव सूर्य स्वयं जब
उदय हो रहा उर के भीतर!

अन्तः समता ही की क्षमता
ला पायेगी
बाह्य लोक समता
बहु भेद भरी जन भू पर;
नयी एकता में बँधने को
अब भू मानव
अतिक्रम कर युग-युग के अन्तर!
नयी देव श्रेणी को
जन्म दिया तप मैंने
नव मूल्यों में
उर-स्पन्दन भर!
देव मनुज पशु
नया मनुज बन जीयेंगे जब,
तब होगा चरितार्थ
धरा पर जीवन ईश्वर!

प्रेरणा

कौन अनछुआ तार बज उठा
अनजाने इस बार,

फूट पड़ी झंकार,
हृदय में स्वर्ण शुभ्र झंकार!

भाव शिरा यह सूक्ष्म अगोचर,
या चेतना किरण-क्षण निःस्वर,
तन्मय होता अन्तरंग
तिर शोभा पारावार!

खुलते क्षितिज
क्षितिज पर भास्वर,
पार शिखर स्वर,
पार दिगन्तर,
आत्मा के हीरक प्रकाश से
होता साक्षात्कार!

देह प्राण मन के जड़ बन्धन
स्वतः खुल गये सुन माणिक-स्वन,
जगत् नहीं, मैं नहीं,
प्रेम-लय में
ईश्वर साकार!

संवेदन

वह शुभ्र स्वर्ण की सूक्ष्म डोर
जिस पर चढ़ता मेरा अन्तर
उस रजत अनिल के अम्बर में—
रस गीत जहाँ पड़ते झर-झर!

द्राक्षा वैसी न मधुर मादक,
मधुमय क्या वैसे सुधा-अधर?
प्राणों में वह झंकार नहीं
उन गीतों में जो मोहित स्वर!

वह कौन लता, किस अम्बर में?
चिन्मूल सभी के उर भीतर,
सौन्दर्य प्रवालों में पुलकित—
सित सुरभि हृदय में जाती भर!

वह कौन मेघ, रस शुभ्र हरित,
आनन्द बरसता रिमझिम झिम,
रोमांचों में हँस सुप्त हृदय
स्वप्नों में जग उठता स्वर्णिम!

विस्मृत हो जाता देह-भाव,
विस्तृत अस्मिता,—नहीं विस्मय,
घुल जाते जड़ संस्कार मलिन,
अस्तित्व पिघल होता तन्मय!

उस तन्मयता में भाव बोध
जगता मन में स्वर बन नूतन,
सुरवीणाएँ बजती गोपन
संगीत स्पर्श हरता तन-मन !

यह कौन अप्सरा-अंगुली छू
आत्मा का करती रस मन्थन,
सपने बन जाते शब्द-मूर्त,
जगते रस चेतन संवेदन !

मानव की मूर्ति निखरती नव
इतिहास-पंक से उठ ऊपर,
वह संस्कृति प्रतिमा में ढलता,
भू मनुज-प्रेम का बनती घर !

सौन्दर्य प्रदेश

इन चन्दन आरोहों पर चढ़
मेरा मन हो उठता मूर्छित,
नीलम तम की सोयी घाटी
मुझको सुख से करती विस्मृत !

मैं शुभ्र ग्रीव चित् शिखरों पर
धरकर स्वप्नों के पग निःस्वर
चढ़ता प्रकाश आरोहों पर
लहराते मरकत जल के सर !

जग उठते रस सरसी उर में
चम्पक रँग हंस-मिथुन सोये,
चूमते गन्ध-कमलों के मुख
वे मुक्ता - फेनों से धोये !

घण्टियां मेमनो की बजती,
घाटी के हों पग-पायल स्वर,
ऐसे प्रभाव पड़ते गोपन
भावाकुल हो उठता अन्तर !

चम्पक शिखरों से घाटी तक
सौन्दर्य देश सित रस उर्वर,—
आनन्द वहाँ चित् पावक पी
बरसाता जीवन सुख निर्झर !

रूप स्वप्न

खुले हृदय के रुद्ध द्वार !
भू जीवन के पुलिन चूमता
नव भावों का रश्मि ज्वार !

सीमा लाँघ रही असीम-तट,
तृण के सम्मुख नत विशाल वट,
अतिक्रम करता अब अरूप को
रूप-स्वप्न उर में साकार !

इन्द्रियमुख ही आत्मा के स्वर
मिटा निखिल बहिरन्तर अन्तर,
रूप-मांस बन शून्य बसाता
भू पर जीवन का घर-बार !

रजत वह्नि सोपान से उतर
दिव्य चेतना बनी भाव-नर,
पार लग रहा, लो, अपार—
पहुँची तरणी मँझधार !

सम्मुख मरकत पर्वत पाटी,
हँसती नीलम नभ की घाटी,
हीर कूप में डूब सिन्धु
पाता दिक् कूल उदार !

हरे प्राण-तिनकों का मृद् घर
जहाँ वास कर जीवन ईश्वर
चिर कृतज्ञ,—वह पिता पुत्र,
पत्नी मा, जन परिवार !

जन्म मरण सुख हित नित कातर
मर्त्य न अमर, न सरित न सागर,
सृजन मुक्त नव स्वर भरता
तृण मुरली बन स्वरकार !

स्वप्न-सत्य वर, देश काल तर,
हार शूल हर, विजय हार घर,
बोध-दृष्टि से निराधार
पा गया हृदय आधार !

सृजन आस्था

कब फूट पड़ा मरकत गिरि से जीवन का रजत मुखर निर्झर,
उर पाहन कैसे पिघल उठा कुछ गूढ भेद या विधि का वर !
सुरधनु ज्वालाओं में लिपटे इसके विगलित पावक के स्वर,
कंपता प्रहर्ष-उन्मत्त हृदय आवेशों के सुख से थर्-थर् !

युग डमरु नाद, अब नयी सृष्टि दृग मूर्त हो रही उर भीतर,
चित् सूक्ष्म राग, नव आस्था के हों गूँज रहे स्वर्णिम मधुकर !
पागल हो सित आनन्द, नयी प्रतिभा में ढलता रस निर्भर,
अनगढ़ वन पर्वत कला—तूर्य सन्देश, सूर्य-रव दिग् भास्वर !

स्वप्नों के डिम्बों से कढ़ता जीवन का खग-शावक कलरव,
आकार ग्रहण करती भावी चेतना-पंख फड़का अभिनव !
कट मध्ययुगों का रुग्ण भार मर्दित करता मानव-अन्तर,
विद्रोह कर रहा आत्म बोध अस्तित्व निखरता उठ ऊपर !

स्थितियों की प्रस्तर-कारा में हत जन भू मन जीवन जर्जर,
युग शंख-नाद तोड़ें इसको, दे नव जीवन सन्देश अमर !
जन पर्वत बन कर युग मानव निर्माण करे निज उर का जग,
इतिहास-सिन्धु के भेद लाँघ नव मनुज-एकता के धर पग !

स्वप्न-सत्य

वे हीरक स्मृति की प्रिय घड़ियाँ, माणिक सुख के मनमोहक क्षण,
द्रुत बदल जगत का जाता पट, तुम आते प्राणों में गोपन !
किस तड़ित् स्पर्श से जाने कब खुल पड़ता उर का वातायन,
सौ-सौ सुषमा के शुभ्र शरद हँस उठते अन्तर में पावन !

मेघों से दिखलाता शशि मुख रज-मोह निशा पथ कर दीपित,
रस की असीम स्वर्गंगा में इन्द्रिय-विषाद कर अवगाहित !
दिक् विकसित होता जीवनक्रम धुल जाता भू-रज का आनन,
सित प्रीति-स्पर्शमणि-अंगुलि से कुत्सित कुण्ठित बनता कांचन !

पतझर वन में जग खिल उठते भावों के अंकुर संवेदन,
स्वप्नों का सत्य जयी होता, खुलते यथार्थ के जड़ बन्धन !

अमर पान्थ

भू जीवन के अमर पान्थ, जय !
तुम्हें देखता सुनता कब से
मिलता पूर्ण न पावक-परिचय !

रचना श्रम में निरत निरन्तर
श्रान्ति क्लान्ति मन के प्रिय सहचर,
फूलों के पग धर, शूलों के
संकट-मग पर चलते निर्भय !

हँसमुख गर्त बिछे पग-पग पर,
मुँह बाये निश्चेतन गह्वर,
गुण्ठित ज्योति,—एक सत्, अगणित
छायाएँ उपजाती विस्मय !

तमस बदलता अब प्रकाश में,
युग क्रन्दन चरितार्थ हास में,
तुम विकास पथ पर, भू-मन का
हृदय-स्वर्ग से करते परिणय !

भटके व्यर्थ अबोध प्राण मन,
वरण किये कितने व्रत साधन,
कितने गुरुजन, कितने दर्शन,
मिटा न उर का भय, पथ संशय !

ज्योति स्पर्श सित शाश्वत क्षण का
बोध समग्र बना जीवन का,
एक दृष्टि से वस्तु जगत् जो
अपर दृष्टि से वह जगदाश्रय !

इह-पर बहिरन्तर संशय लय,
एक अखण्ड सत्य तुम निश्चय,
स्वर्ग धरा-रज ही में गुण्ठित,
अक्षय सित रस में उर तन्मय !

इन्द्रिय जग चरितार्थ हुआ अब
लोक स्वार्थ परमार्थ हुआ अब,
मुझमें अपने को पाकर तुम
पूर्ण कृतार्थ हुए चिन्मृण्मय !

प्रीति आस्था

रजत शान्ति नभ से कब उतरा
मैं मरकत आँगन पर ?
ज्ञात न था, यह शूल फूल की
भू ही आत्मा का घर !

भार मुक्त मन, अब न असम्भव-
प्रेरित उसका रोदन,
यह सन्तोष कि सीमा ही
निःसीम तत्त्व का दर्पण !

कुसुमित इन्द्रिय वीथी ही में
आत्मा करती विचरण,
दीप-हीन दीपक-लौ द्युति-मृत,
युगल मिलन ज्योतिः क्षण !

उठा सत्य-पग जन-भू मग से
पंगु बना शिव सुन्दर,
विश्व विकास रहा प्रभु वंचित
कलुषित प्रभु-विरहित नर !

मध्ययुगों का मृतक बोझ
कुण्ठित करता जन - अन्तर,
अतिक्रम कर इतिहास,
मनुज मन का होना रूपान्तर !

संदर!

स्वयं बीतने को अब पतझर
सहज मंजरित दिङ्मुख,
भू रचना उन्मेषित मन मे
समा न सकता क्षण सुख!

मुक्त,—ऊर्ध्व में टँगी बुद्धि
प्रभु-मुख विलोक मानव में,
स्वर्ग लोटता जन आँगन पर
चिद् विकास पथ भव में!
व्यक्ति समाज न दृष्टि-बिन्दु अब
ईश्वर भू पर गोचर,
नयी प्रीति-आस्था घर करती
नव मानव उर भीतर!

रस सूर्योदय

सूर्य चन्द्रमा के प्रकाश में मैं न देखता जग को,
भौतिक लोचन—दीपित करते वस्तु जगत् के मग को!
मेरे उर का रस सूर्योदय देता दृष्टि मुझे नव,
देख रहा अन्तर्विधान मैं, अन्तर्जीवन वैभव!
चन्द्र-सौम्य आभा में दिखता सूक्ष्म भाव-जग भास्वर,
स्वर्णिम मानस-भू प्रसार ऊपाएँ हँसती निःस्वर!
अग-जग ईश्वर का निवास, सित प्रेम-तत्त्व ही ईश्वर,
स्थाणु-ब्रह्म मे इन्द्रिय-अंकुर फूट रहे रस-उर्वर!
नव जीवन पल्लव, भावों के सुमन, चेतना सौरभ
वितरित करते सूक्ष्म ब्रह्म को—उतरा भू पर चिद् नभ!
हुआ कूप-तम में स्वर्णोदय हृदय गुहा ज्योतिर्मय,
ज्योति तिमिर परिरम्भण भरते, भू पथ श्रम से निर्भय!
नया मूल्य देना जीवन को इसमें मुझे न संशय,
मानव भीतर से विकसित हो बहिर्जगत् पर पा जय!
फूलो-से ही खिलो सहज—कहते थे ईसा निश्छल,
बहिरन्तर सन्तुलित विश्व हो भव विकास का यह पल!

वंशी

छिद्र भरा नर वंश मिला मुझको धरती पर,
फूँक दिये मैंने इसमें नव आत्मा के स्वर!
मेरु वंश की मुरली, सप्त कमल दल सरगम
अगणित रागों का नित जिनसे होता उद्गम!
जन-भू के छिद्रों को भरने आता युग कवि,
नये स्वरों में रँग जाता मानवता की छवि!

रीता बाँस मिला मुझको—प्रभु प्रति कर अर्पित,
प्रीति श्वास से भर उसको जन-भू मंगल हित—
मुक्त किया मैंने उर-राग, युगों से कुण्ठित,
पूर्ण-प्राण पा रसावेश चिद् वंशी मुखरित!

जो लगते थे छिद्र—राग स्वर थे वे श्रुति-घर,
जिन्हें सँजो, साकार हो उठा जीवन-ईश्वर!
सीमित दृष्टि न देख सकी थी प्रभु का प्रिय मुख,
मानव ईश्वर खड़े परस्पर लो, अब सम्मुख!

एक सत्य बहता उर में, रस वंशी स्वर में,
श्रुतियों के पथ से प्रेरित जन-जन अन्तर में!
हरित प्राण-वंशी में आत्मा की हीरक-लय
नये बोध मे करे मनुज-उर को रस-तन्मय!

संयुक्त

तन से बाहर रह, मुक्त प्राण मैं इन्द्रिय भुवनों में रहता,
मन से ऊपर स्थित, प्राणों के पावक जल स्रोतों में बहता!

मानवी गुणों का प्रेमी मैं चाहता मनुज-भू हो संस्कृत,
सौन्दर्य मजरित जन-जीवन हो भाव विभव मधु से गुंजित!
ईश्वर-मानव ले जन्म नया भू पर, जो जन-मन में गुण्ठित,
नव आत्म-बोध उतरे उर में, नव मूल्यों में हो नर केन्द्रित!

सित प्रीति-तडित् चिद् धारा से इन्द्रिय दीपक हों रश्मि ज्वलित,
रज-तन के शोभा दर्पण पर अन्त: प्रकाश मुख हो बिम्बित!
भू-जन के मंगल से प्रेरित विज्ञान शक्ति हो रचना रत,
जीवन शोभा हो दिक् प्रहसित भव लोक प्रेम नव मानव व्रत!

जन अन्न वस्त्र आवास तृप्त हों, वह शिक्षा संस्कृति साधन,
इन सबसे महत् मनुज मन हो ईश्वर के प्रिय मुख का दर्पण!
आनन्द मेघ वह, रस अक्षय, उर्वर जिससे जन-भू प्रांगण,
उससे वियुक्त यह विश्व नरक, संयुक्त, स्वर्ग रज का प्रति कण!

तन में रहकर भी मैं विदेह भू-ईश्वर पद रज प्रति अर्पित,
मन में स्थित भी मैं मुक्त शोक रस अमृत स्पर्श से चिर हर्षित!

स्वानुभूति

जब तक मैं प्राप्त करूँ तुमको तुम सहसा हो जाते ओझल,
अन्तर में होते सहज उदय बन नील मुक्ति के उज्ज्वल पल!
अपने ही में अनुभव करने तुम करते मौन मुखर इंगित,
जीवन कर्मों के भीतर से हो सके स्वतः सत्ता विकसित!

जग में ही रह, भव बन्धन से हो जाता मुक्त हृदय तत्क्षण,
रुपहली मुक्ति, निःसीम मुक्ति—कर सकती मुख न गिरा वर्णन!

आलोक हृदय में भर जाता आलोक मधुर बाहर-भीतर,
मैं बन जाता आलोक रूप, तन-मन अभिन्न उसके सहचर !
वह सित प्रहर्ष का होता क्षण दिक् काल हीन रस-संवेदन,
आते ही होते अन्तर्हित तुम, गुह्य उपस्थिति से भर मन !
मैं सूक्ष्म अदृश्य जगत् में बस भोगता स्वप्न-प्रेरित जीवन,
खुल पड़ता चिन्मय के मुख से मृण्मय यथार्थ का अवगुण्ठन !

प्रश्नोत्तर : १

कहाँ, ईश्वर का वास कहाँ ?
धरा पर प्रेम निवास जहाँ !
सखे, क्या नरक, स्वर्ग, अपवर्ग ?
घृणा ही नरक, प्रेम ही स्वर्ग !
स्वर्ग से ऊपर क्या ? सित प्रेम !
नरक से नीचे ? अविजित प्रेम !
मुक्ति क्या ? सहज प्रेम-अर्पण,
प्रेम वंचित क्षण ? भव बन्धन !
कर्म फल का हो कैसे त्याग ?
लोक हित अर्पित कर कृति-भाग !

प्रेम क्या ? अमृत वह्नि ही प्रेम,
आत्म-हवि देने में भव क्षेम !
पाप क्या ? होना आत्म विभक्त,
पुण्य ? भव प्रति होना अनुरक्त !
दया क्या ? प्रभु का परिरम्भण,
धर्म ? तन्मय रहना प्रतिक्षण !
ज्ञान ? साधन भर, सिद्धि न साध्य,
प्रेम ही आराधक, आराध्य !
नहीं साबुन से अधिक विराग,
हृदय पट मलिन न हो, मन जाग !
भक्ति से श्रेष्ठ सहज अनुराग,
प्रेम ही अशन, शयन, भव-याग !

दीप सूर्य

यह दीप सूर्य
उर स्नेह भरा
निशि गह्वर में हँसता जगमग !—
जब सूर्य चन्द्र तारा न रहे
चिद् जुगनू बन

निर्देशित करता रहा
जगत् जीवन मग !

यह पावक पलने में झूला
मृण्मय दिशि आँगन में खेला
नभ मारुत ने लोरी गायीं—
यह उठा अचेतन तम से जग
जो इसकी सोयी परछायी !

भू पर तम की कुण्डली मार
यह उठा ऊर्ध्व फण बन मणिधर,
ब्रह्माण्ड विवर से निकल
काल प्रहरी-सा
ज्योति नयन, दिग् भास्वर !

यह उठा, उड़ा द्रुत रश्मि पंख,
छूने अनन्त का
काल हीन रस अम्बर !

यह दीप सूर्य,
उतरा प्रकाश के निर्झर-सा
दे काल हीन सत् को प्रवाह,
रह सका न सित सूनेपन में,
यह लाँघ प्राण सागर प्रथाह,
स्थिर हुआ हृदय मन्दिर में बस
बन प्रीति शिखा,
तज ज्ञान नेत्र का रुद्र दाह !

यह दीप सूर्य
अब हृदय ज्योति,
आनन्द सृजन रस में तन्मय,
सौन्दर्य वहन में रत निर्भय,
नव भाव विभव करता संचय !
इसका परिचय ?...
यह हरे प्राण मन का संशय,
यह हरे विश्व संकट,
भू भय,
जग में हो मनुज हृदय
की
जय !

आकांक्षा

अब भाव शिराओं में बहता नखशिख कचनारी सुख निःस्वर,
घुल गयी राग सुरभित चादर, शारद प्रसन्न लगता अन्तर !

क्या होगा इस अकथित सुख का यह हीरक किरणों से विरचित,
निःशब्द स्वर्ग चाँदनी सौम्य छायी रहती उर में अविदित!

अपने ही में परिपूर्ण स्वयं आनन्द सिन्धु यह : उर मज्जित :
प्राणों की खोहों में गाता निश्चेतन तम को कर पुलकित!

मैं मन के इस तन्मय सुख को होने दूंगा न समाधि-निरत,
तन के रोम्रों में बह, भू को यह शोभा उर्वर धरे सतत!

मैं जीवन रज का प्रेमी हूँ, होने दूंगा न विरज मन को,
क्षर मिट्टी में सनने, अरूप अपनाता रूप-मुकुर तन को!

जो गीत हृदय-वंशी स्वर बन फूटता,—वहन कर विश्व-हर्ष,
मानव उर को स्वर्णिम लय में बाँधे उसके सित भाव-स्पर्श!

क्या सित समाधि सुख? अन्तर्मुख भावावेगों में होना लय,
मैं धारण कर स्वर्गीय ज्वार भू को प्रकाश दे सकूं अभय!

मैं कर्म-समाधित, जन-भू का संस्कार कर सकूं लोकोत्तर,
नव मनुष्यत्व की ज्योति बनें, आभा उर अंकुर,—मेरे स्वर!

स्नेह दृष्टि

तुम कैसा सित पौरुष
सात्विक बल भर देती,
हो उठता निर्भीक हृदय
पा दृष्टि स्पर्श स्मित!

ये जो छाया के प्रासाद
उठे भू मन में
युग-युग के लूले लँगड़े
जीवन मूल्यों के—

मैं प्रकाश की असि से
उन्हें मिटा जाऊँगा,—
झाड़-पोंछ जाऊँगा
मनुज धरा का आँगन!

ये जो वाष्पों के घन दुर्ग
खड़े पृथ्वी पर
रूढ़ि रीति के
विधि विधान के—

तहस-नहस कर दूंगा मैं
इनको पल-भर में,
प्रखर प्रेरणा झंझा-से
झकझोर हृदय को!

कैसा कोमल बल भर जाता
मेरे भीतर,

हिंसा स्वयं ग्लानिवश सो जाती
मूर्छित हो—

घृणित उपेक्षित को
जन-भू पर निर्भय करने
उठ जाते मृण्मय-कर स्वतः
अभय मुद्रा में !

शब्द मौन रह जाते,
दृष्टि स्नेह की नि:स्वर
अन्तर से झाँकती—

बदल जाता जग का मुख,—
काँटे की झाड़ी से घिरा
फूल-सा अकलुष

मनुज दीखता
शिशु-सा विवश
जघन्य परिस्थितियों की
निर्मम कारा में
आजीवन बन्दी !

विहंगिनी

स्वर विहंगिनी
फैला मुक्ताभ पंख
प्राणों में फूंक शंख,
उठती तुम ऊर्ध्व वेग
गगन रंगिणी !

मन के कर क्षितिज पार
खोल हृदय-स्वर्ग द्वार
बरसाती रस निर्झर
ध्वनि तरंगिणी !

भेद बुद्धि-सूक्ष्म व्योम
पीकर अमृतत्व सोम,
गाती आनन्द मत्त
चिर असंगिनी !

बेध चन्द्र, बेध सूर्य,
घोषित कर सत्य-तूर्य,
हरती भव दृष्टि भेद
स्वप्न भंगिनी !

तम की केंचुल उतार
चूम दीप्त सहस्रार,
नाभि विवर में जगती
चिद् भुजंगिनी !

फूल

जाने कैसा
आत्मबोध का था
अवाक् क्षण—
विस्मय से अनिमेष
फूल देखता रह गया
मुग्ध, स्वर्ग सुख !—
गहरे मूलों से
धरती के
रस का ले सुख !

चाँद

टूटी चूड़ी-सा चाँद
न जाने निर्जन नभ में
किसकी मृदुल
कलाई से गिर पड़ा !—
हाय, दूज की चाँद
कौन, जग से अदृश्य,
गोरी होगी वह !

पक्षी

पहिली आध्यात्मिक उड़ान
पक्षी ने भरी !
सदेह धरा-से उठ ऊपर
वह अम्बर छूने को मचला—
चिर आत्म मुक्त, भर स्वर !
किरणों के रँग
गूँथ परों में,
उतरा फिर धरती पर,
दाने चुन,
चुग मुँह भर !

मौन फूल

अपलक, असीम में-से तन्मय
प्रार्थना कर रहे मौन फूल,
आँखों में उर का स्नेह-अश्रु
हिमजल मोती-सा रहा झूल !

मुख पर खिलते शत भाव-रंग
सचराचर उर की हो आशा,
खुलता सौरभ का सूक्ष्म-विश्व—
नव भू-जीवन की अभिलाषा!

केसरी प्रेरणा तारों को
झंकृत कर गा उठते मधुकर
मंगलमय रच मधुचक्र महत्
मानस तन्त्री में नव स्वर भर!

आकाश, सूर्य, किरणें, समीर
सब एक भावना से प्रेरित
लगते समग्र भव-संगति में
आनन्द मग्न, चेतना ग्रथित!

यह धरती भी अधखिली कली
भूमा के जीवन की सुन्दर,
प्राणों के शाश्वत यौवन में
भावी के स्वर्ग छिपे निर्भर!

लक्ष्य

मैं न अब रस गीत लिखता,
प्यार करता हूँ!
मौन सर्जन प्रक्रिया
चलती हृदय में—
ताप उसको कहूँ गोपन,
गूढ़ हर्ष कहूँ ?...
मैं न अब खग गीत गाता,
प्यार,
तुमको प्यार करता हूँ!
सूक्ष्म चित् सौन्दर्य
उर में उदय होता—
प्रेम के आलोक मे
खोया हुआ मुख,
कनक वर्णी...
फालसयी परिवेश मण्डित—
इन्द्रधनुओं के
अछूते रंग कोमल
बिखर बहु छाया स्तरों में
भाव गन्धी
मोहते
मन के दृगों को!

ऊब बाहर के जगत-से
हृदय को
विश्राम मिलता
डूब भीतर !
जहाँ केवल प्यार
निःस्पृह प्यार
ले जाता तुम्हारे
निकट मुझको—
वही पथ है
लक्ष्य भी,
तुम भी वही
मैं भी वही हूँ—
हाँ, तुम्ही
इस सत्य को
सम्भव बनाती !
मैं न शब्दों को पिरोता,
प्यार,
केवल प्यार करता हूँ !

आश्रय

प्रेम,
तुम्हारा हूँ मैं,
इसमें मुझे न संशय,
तुम सर्वाश्रय !
तुम्ही दृष्टि हो,
रूप सृष्टि
चैतन्य वृष्टि हो !
आँखों में सौन्दर्य,
हृदय मे सित रस ममता,
प्राणों के उल्लास,
सृजन सुख क्षण की क्षमता !
और कौन-सी मुक्ति चाहिए,
मुक्ति चाहिए !
या अमरत्व, रहस्य तत्व,
ईशत्व चाहिए ?
तुम असीम आनन्द सिन्धु हो,
सूर्य चन्द्र तारा—
प्रकाश के केन्द्र बिन्दु हो !

तुम्हीं जीवनी शक्ति,
सत्य अनुरक्ति,
समाज-मरन्द व्यक्ति हो !

कहाँ शब्द ?
जो व्यक्त कर सकें
वह सब आशय
जो तुम मुझमें भरते रहते,
हे परमाश्रय !

बीज

बीज सत्य की
सूक्ष्म खोज में
तत्ववादियों ने
छिलकों को छील-छीलकर
फेंक दिया था—
उनको मायावरण मानकर !

मैंने फिर से
उन्हें यथावत्
बीज ब्रह्म में
सँजो दिया है !

अब समग्रता में
मैं उसको देख रहा—
वह
साँस
सृष्टि में लेता
शाश्वत !

का ते कान्ता

का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः ?
भू शोभा ही मनुज प्रेयसी,
जीवन महिमा,
लाँघ चुका नव मनुज प्रेम
गत युग की सीमा !

जाग रहा उर में चित् स्पन्दन,
स्वप्न चकित, अपलक उर-लोचन,
दौड़ रहा सित रक्त
शिराओं मे नव चेतन !—

का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः ?
मनोदृष्टि पर विजयी
भू आत्मा की गरिमा !

एक संचरण बाहर-भीतर,
एक सत्यमय निखिल चराचर,
आस्था प्रेरित धी,
शिव शिवतर,
जन भू जीवन बन ढलती
श्रद्धा की प्रतिमा !

का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः ?
व्याप्त अकेला मैं ही जग में,
मैं ही भव-विकास के मग में,
शूल फूल में,
ज्योति तमस में
मूर्त प्रेम हूँ मैं प्रतिपग में !
बिन्दु सिन्धु मे, जन्म-मरण में
मैं ही स्वर्ग सृजन की प्रतिमा !
का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः ?

दारु योषित दृष्टि

उमा, दारु योषित की नाईं
जग को नही नचाते
करुणा सिन्धु गुसाईं !
यन्त्रारूढ विश्व-भूतों को
माया-बल से
नही भ्रमाता ईश्वर !—
सम्यक् दृष्टि नहीं यह !
ऐसा तो मानव भी नहीं करेगा,
वह तो परमात्मा है !
मंगलमय हैं प्रभु,
सम्पूर्ण दया निःसंशय;
प्रतिक्षण संघर्षण रत रहते
जीवों के संग !
आगे बढ़ने,
भव विकास को गतिक्रम देने !
वैसा तो पूंजीपति करते,
उत्पादन साधन यन्त्रों को
अधिकृत कर जो,
क्षुधारूढ जनगण का
शोषण करते,—
उनको नाच नचाते !
ईश्वर
पूंजीपतियों का पूंजीपति—

तुम्हीं जीवनी शक्ति,
सत्य अनुरक्ति,
समाज-मरन्द व्यक्ति हो !

कहाँ शब्द ?
जो व्यक्त कर सकें
वह सब आशय
जो तुम मुझमें भरते रहते,
हे परमाश्रय !

बीज

बीज सत्य की
सूक्ष्म खोज में
तत्ववादियों ने
छिलकों को छील-छीलकर
फेंक दिया था—
उनको मायावरण मानकर !

मैंने फिर से
उन्हें यथावत्
बीज ब्रह्म में
सँजो दिया है !

अब समग्रता में
मैं उसको देख रहा—
वह
साँस
सृष्टि में लेता
शाश्वत !

का ते कान्ता

का ते कान्ता, कस्ते पुत्र: ?
भू शोभा ही मनुज प्रेयसी,
जीवन महिमा,
लाँघ चुका नव मनुज प्रेम
गत युग की सीमा !

जाग रहा उर में चित् स्पन्दन,
स्वप्न चकित, अपलक उर-लोचन,
दौड़ रहा सित रक्त
शिराओं में नव चेतन !—

का ते कान्ता, कस्ते पुत्र: ?
मनोदृष्टि पर विजयी
भू आत्मा की गरिमा !

एक संचरण बाहर-भीतर,
एक सत्यमय निखिल चराचर,
आस्था प्रेरित थी,
शिव शिवतर,
जन भू जीवन बन ढलती
श्रद्धा की प्रतिमा !

का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः ?
व्याप्त अकेला मैं ही जग मे,
मैं ही भव-विकास के मग में,
शूल फूल में,
ज्योति तमस में
मूर्त प्रेम हूँ मैं प्रतिपग में !
बिन्दु सिन्धु में, जन्म-मरण में
मैं ही स्वर्ग सृजन की प्रतिमा !
का ते कान्ता, कस्ते पुत्रः ?

दारु योषित दृष्टि

उमा, दारु योषित की नाई
जग को नहीं नचाते
करुणा सिन्धु गुसाईं !
यन्त्रारूढ़ विश्व-भूतों को
माया-बल से
नहीं भ्रमाता ईश्वर !—
सम्यक् दृष्टि नहीं यह !
ऐसा तो मानव भी नहीं करेगा,
वह तो परमात्मा है !
मंगलमय हैं प्रभु,
सम्पूर्ण दया निःसंशय;
प्रतिक्षण संघर्षण रत रहते
जीवों के संग !
आगे बढ़ने,
भव विकास को गतिक्रम देने !
वैसा तो पूंजीपति करते,
उत्पादन साधन यन्त्रों को
अधिकृत कर जो,
क्षुधारूढ़ जनगण का
शोषण करते,—
उनको नाच नचाते !
ईश्वर
पूंजीपतियों का पूंजीपति—

अक्षय धन-कुबेर वह;
शोषण के बदले
वितरण करता वह निज धन—
जो जन-जन का जीवन,
तन-मन का,
उर प्राणों का
स्पन्दन है !

उमा,
प्रेम है ईश्वर, वह निःसीम प्रेम है !
सत्यं ब्रह्मन्, ज्ञानं ब्रह्मन्,
शक्ति स्वरूप
अनन्तं ब्रह्मन्—
पूर्ण प्रेम ही ब्रह्म, सत्य, शिव,
शुद्ध ज्ञान, मांगल्य शक्ति है !
ब्रह्म-शक्ति माया को, ईश्वर जीव जगत् को
छिन्न-भिन्न कर
हाय, आत्महत्या की
मध्ययुगी दर्शन ने !
परमेश्वर, देवाधिदेव जो
पंक-कीट भी वही नहीं क्या ?
वह अपने
सित अनघविद्ध निःसीम प्रेम में
सृष्टि रूप में भी क्या
ईश्वर नहीं अकलुषित ?
उमा,
जगन्माता तुम, श्री तुम,
विश्व प्रेयसी,
भूजन को सित प्रेम दृष्टि दो,
पूर्ण, अखण्ड, समग्र दृष्टि दो !

सर्प रज्जु भ्रम

हाय, सर्प को रज्जु बताकर
भ्रम ही आया हाथ,
अधर में अटका औंधा
ब्रह्मवादियों का
दिवान्ध मन !
जीवन का वासुकि सहस्र फन
कुण्डल मारे दिशा काल पर,
स्वतः सिद्धः,

(जड़ ही में चेतन !)
गिर पर धारे चिन्मणि भास्वर !
भव विकास क्रम में
गति के शत चिह्न अगोचर
छोड़ रहा यह अथक, निरन्तर !
मिथ्या बतला सिद्ध सत्य को
दीपक से बिलगा
दीपक की लौ अतिचेतन,
ब्रह्मवाद ने, निश्चय,
किया अमंगल जग का
भव तम भ्रम में
भटका मू जन।
अन्त जहाँ वेदान्त—
देखता परे वहाँ से
कवि का ईश्वर-अन्तर,
अविच्छिन्न जग-ब्रह्म,
सत्य भव-सर्प,—
ब्रह्म का मूर्त रूप भर !
रूप शब्द को छोड़
अर्थ की खोज व्यर्थ,
सित शब्द-अर्थ सम्पृक्त परस्पर,
रूप सर्प ही ब्रह्म, परात्पर !
रज्जु रज्जु, भ्रम भ्रम,
तम भ्रम से शून्य असंशय
ब्रह्म सर्प क्षर-अक्षर !
दीप ज्योति ही में होता
मृद् दीपक गोचर,
ब्रह्म ज्योति ही जग
ब्रह्म ही निखिल चराचर !
अन्न प्राण मन छील ब्रह्म से
ब्रह्मवादियों का भ्रम ही
बन गया ब्रह्म—
कवि को प्रिय ईश्वर,—
इह-पर कारण !
सर्प रज्जु भ्रम में फँसकर, हा,
(माया मिली न राम !)
शून्य मे लटका छूँछा
ब्रह्मवाद का
ज्योति-अन्ध मन !

भक्ति न माँगो,
मुक्त प्रेम देता,
बदले मे मुक्त प्रेम मैं लेता ! —
मनुज प्रीति ही मूर्त भक्ति,
कहता तुमसे ईश्वर मानव,
चिद् दृष्टि तुम्हें दे अभिनव !

भक्ति काम दो छोर नही,
निष्कलुप प्रेम पथ दुस्तर !
वही काम जो भक्ति
हृदय स्थिति पर
जन कृति पर निर्भर !

प्यार प्रिया को करते जब तुम
मैं ही बनता चुम्बन,
भक्ति मुझे देते, मैं ही
चरणों पर होता अर्पण !

मुझे दास प्रिय नहीं, सखा प्रिय,
मैं हूँ मानव सहचर,
पति - पत्नी से कही निकटतर
प्रेमी उर का ईश्वर !

भक्ति ठीक थी,
जब विभक्त थे इह-पर में
भव ईश्वर,
मैं अखण्ड दोनों ही में
जन भू पर अब
ईश्वर नर !

माँगो मत, मिमियाओ मत,
मैं ईश्वर हूँ न कि प्रस्तर !
अति संवेदनशील,
मनुज कांक्षाओं से मैं
अधिक वेगमय, द्रुततर !

भू इच्छाएँ ज्ञात मुझे,
वे सब विकास पथ पर—
पूरी होंगी—मेरा अक्षय वर !
तुम्हें पूर्ण अधिकार
उन्हें छीनो पाओ,
भोगो हो निर्भय !

मत निराश हो असफलता से,
निज कर्तव्य करो,
जन हित कर संचय !
स्वार्थ घृणित अति
महत् लोक हित,
निज को पर, पर को निज करने ही में
सार्थकता अविरत
मानव जीवन की निश्चय !
सृजन प्यार करना है,
वह क्षण मैथुन हो
या ईश्वर चरणों में होना
निरहं लय;
इन्द्रिय रति हो,
आत्म बोध गति,
लोक कर्म में होना या रस तन्मय !
यह जगती प्रेयसी मनुज की,
प्यार करो इसको—
अगणित आँखों से आँखें मिला;
सृजन सुख इच्छा से
भू शोभा मांसल
स्फीतवक्ष में गहा अनन्त युग
एक प्राण मन हृदय प्रणय;—
राग द्वेष कुण्ठा से कहीं महत् रे
रचना कर्म,—
मनुज हित
प्रेम स्वर्ग पथ निर्मित करने ही में भू पर
मानव आत्मा की जय !

तृण तरी

छोड़ प्रणय द्वेषनिरत जग में
तृण की तरी चली,
मैं निर्भर हो निरखता,
किसके बल से लघु तृण चली ?
छिद्र अनेक तरी में तृण की
चली सहज चली—
तृण न डूबते सरिता में,
वह लहरी ही उछली !
सत्यों के तृण, क्षमा न माता
चिन्ता पावक छली,

प्रीति तरी, जन-जन उर के
स्वर्गिक भावों में ढली !
जीवन कर्दम से उठकर
खिल ग्रायी कमल कली,
सूक्ष्म चेतना बल इसका बल
ग्रात्मबोध में पली !
तन-मन की ग्रांधी में
जब भी प्राण-सरित मचली
चीर नीर यह ग्रास्था तरणी
सहज पार निकली !
जब-जब भी सित सत्य ग्रभीप्सा
उर में फूली फली
जग के मृग मरु में
चल जीवन तृष्णा स्वयं जली !

ग्रमृत तरी

उस पार मृत्यु तट पर जो नत जीवन ज्योति धरी थी
मैं उसे छीन लाया, लो, यम से, —यह ग्रमृत तरी थी !
चिद् विस्तृत, जन्म मरण के पुलिनों को करती ज्योतित,—
ग्रानन्द तरी पर बैठा मैं ग्रब रस के भग मे स्थित !
छँट गया मोह-तम, जिसको मैं मृत्यु समझता ग्राया,
मेरे प्रकाश में वह थी मेरी ही मानस-छाया !
मर गयी मोह रज देही जो मुझे किये थी सीमित,
प्रिय जन्म-मरण मेरे शिशु, दोनों मुझसे ग्रालिंगित !
ये श्याम गौर दो भाई खेला करते मिल प्रतिक्षण
मेरे करतल-प्रांगण मे हँस, खोल, मूँद निज लोचन !
सब नाम-रूप ग्रब मेरे हरि हो, केशव हो, माधव,
निज को नित ग्रतिक्रम करता मैं बन पुराण से ग्रभिनव !

व्यवस्था

इस जगती का कांटों का मग,
जो रुके हुए
वे गन्ध-फूल बन सकें सुभग
जब प्रेम धरे धरती पर पग !
यह ग्रन्धकार की कृपण गली,
जब सत्य मार्ग ही में ग्रटका,
दृग ज्योति बहक, भटकी पगली,

तव हृदय स्पर्श पा,
सत्य ज्योति
जीवन मंगल पथ पर निकली !
यह अग्नि गर्त का सागर-तम—
उठ सका न जब चैतन्य ऊर्ध्व,
छाया भूमा उर में दिग्भ्रम,
तब रची प्रेम ने सृष्टि
सुझाया भव विकास का
क्रम निरुपम !
रवि चन्द्र न थे या दिशा काल,
जब प्रकृति अन्ध थी,
पुरुष पंगु,
प्रारब्ध सुप्त ज्यों अन्धकूप,—
निकला वशी लय पर विमुग्ध
निश्चेतन बिल से सृष्टि व्याल:
अपरूप शून्य
बँध प्रीति पाश में
बना व्यवस्थित जगज्जाल !

नया बोध

जब अवाक् हो उठता अन्तर
बहता तव संगीत मौन में
किस अम्बर से झर-झर !
यह अशब्द संगीत
न उसमें भाव, अर्थ ध्वनि, लय, स्वर,
तन्मयता अज्ञात,
आत्म-पर रहित,
स्वयं पर निर्भर !
चेत नहीं रहता जब मन को
कौन बजाता तब उर-वीणा
संकेतों से निःस्वर !
ज्योति-कमल खिल कुम्हला जाता,
अन्धकार उर घेर न पाता,
भान उपस्थिति का मिटता,
पर,
हृदय शून्य में नहीं समाता !
जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति न,
रहस अवस्था में किस
कौन प्राण अभिषेकित करता
ज्ञान-अगोचर !

कूल नहीं, जल नहीं, सरित वह
मूल नहीं, दल नहीं, हरित वह,
इह-पर, इस-उस पार न उसमें,
पूर्ण रिक्त संग पूर्ण भरित वह,—

नये बोध में जग मन कहता
जो वह, वही जगत् यह,
भिन्न न जग से ईश्वर!
...जब अवाक् रहता हृत अन्तर!

मृद् वास

खो जाता निर्वाक् नीलिमा में
किशोर मन फिर-फिर,
निर्निमेष रह जाते लोचन
नील मुक्ति में तिर-तिर!

मुझे घेरती शरद धुली
नभ की निर्मलता क्षण-क्षण,
नीड बसाने को वह कहती
गगन शून्य में नूतन!

हृदय स्पन्दनों का मैं विस्मय-नीड़ सँजोता सुन्दर,
जहाँ प्रेम रह सके स्वप्न-पंखों के सुख में छिपकर!
भय संशय शूलों से बिंध वह हो न जाय आहत मन,
उसे सुरक्षित रखने मैंने चुना स्वर्ग का आँगन!
प्रेम हँसा,—बोला, तिनकों का वास बना क्षण भंगुर
भू पर मुझे बसाओ—भय संशय के फूटें अंकुर!
शूलों पर चल, मैं भू कल्मष उर शोणित से धोकर
क्षण भंगुर को शाश्वत सुख का दे जाऊँगा सित वर!
द्यावा पृथिवी में न समाता, भूमा मेरा मन्दिर,
अमृत पुत्र, शिशु-क्रीड़ा करता मृत्यु-अजिर में अस्थिर!
नीत शून्य हृत्स्पन्द रहित जग हित प्रकाश गृह भास्वर,
धरती को ही चिद् जीवन का मुझे बनाना मृद् घर!

अमर यात्रा

तृण की तरी
तीर पर ठहरी,
पान्थ,
पार जो जाओ!
व्यर्थ धर्म नय पथ, दर्शन मत,
यान ज्ञान-विज्ञान के महत्,

यह तृण तरणी,
सीमा ही में लय
असीम तुम पाओ !

हरित-पंख तृण तरी क्षिप्रतर,
भव सागर अब और न दुस्तर,
नव आस्था में डूब
हृदय का
कल्मष भार डुबाओ !

सृजन गुहा की द्वार यह तरी,
प्राण चेतना ज्वार से भरी,
आर पार का भ्रम न वहाँ
तुम इसमें जहाँ समाओ !

तरी सिन्धु, भव सिन्धु ही तरी,
दृष्टि हृदय की हो जो गहरी
प्रति कण तीर;
काल-लहरों पर
शशि-कर नीड़ बसाओ !
पान्थ, पार जो जाओ !

तम प्रदेश

इन अँधियाली के तरुओं पर ताराओं की छाया भाती,
चिर हरे अँधेरे कानन में वह आँख मूँद पथ दिखलाती !

चिंघाड़ रहे वन पथ में गज,—वह हरी आँख का नृप नाहर,
उसकी दहाड़ से हर्ष ध्वनित निश्चेतन मन के मद-गह्वर !

यह अन्ध गर्त अहिराज विवर, पैठा सहस्रफन फणिमणिधर,
वह कुण्डल मारे तन-मन पर भय के सुख से कँपता अन्तर !

चौकड़ी मारकर चपल हिरन पड़ते उड़ सिंहों के मुख में,
कानन कराल, डूबे सब पशु भीषण-मादक कर्दम-सुख में !

इस तम कानन में चम्पक की प्रिय वीथी, प्राण मलय सुरभित
अन्तरतम में बहती कलकल हीरक-जल की सित बोध सरित !

भू-मन को सींचा करती वह तम-तट प्रवाह रखते जीवित,
यह अन्धकार चिज्ज्योति अन्ध सित ज्योति अन्ध तम प्रति अर्पित !

गिरि रीछ गहन तम वन भीतर निश्चेतन कर्दम में पोषित
द्रुत कूद लिपट जाते मन से, छूटते नहीं बल से किंचित् !

सार्थकता पशु से लड़ने में, जूझना प्रेम से होता नित,
रस पर्वत चिद्घन अन्धकार जिससे बहु राम कृष्ण कल्पित !

भव भेद दृष्टि भर तम प्रकाश दोनों मन मुद्रा के दो मुख,
देता प्रकाश सित सत्य बोध, तम-सिन्धु सन्तरण शाश्वत सुख !

अभिसार

नीलम तम के निभृत कक्ष में,
रहती तुम छिप निःस्वर,
हरित तृणों का मरकत प्रांगण
भाता स्फाटिक सुन्दर !

मौन मिलन सुख में मिलती तुम
रस तन्मय बन मधुक्षण,
कौन प्रेरणा करती तुमको
तन मन जीवन अर्पण !

विस्मृति का सित अन्धकार ही
नव प्रकाश उर में भर
बरसाता आनन्द-स्पर्श-प्रिय
आत्मबोध के निर्झर !

चन्दन सौरभ से भर जाता
रोमांचित अन्तर्मन,
सूक्ष्म स्नायुओं में बहता
नव जीवन का संवेदन !

तुम आती जब, शक्तिपात
सह पाता सिहर न तृण तन,
भावों के पथ से करती
अभिसार हृदय में गोपन !

जन्म ले रहा नया मनुज
स्वप्नों के उर के भीतर,
अभी वस्तु-आधार न प्रस्तुत
उतर सके जन-भू पर !

तुम्ही खोल सकती भू-पथ पर
ज्योति क्षितिज वातायन,
रूढ़ि तमस से मुक्त, युक्त-नर
करे धरा पर विचरण !

गत भू-स्थितियों में सीमित अब
आत्म प्रेत निज मानव,
नव्य मूल्य केन्द्रिक बन, भव को
भाव विभव दे अभिनव !

चित्प्रदेश

नील भँवर जीवन रस सागर !
फिरकी-सी उर नाव डोलती,
काँप रहे जड़-चेतन थर-थर।

यह स्वर्णिम स्वप्नों की नौका
प्राण वायु का खाती झोंका,
पार लगे इस तृण तरणी मे
कितने योगी यती व्रती वर !

आर न पार, न आना-जाना,
बिन्दु-बिन्दु पर अमर ठिकाना,
शंकित चित्त न पास फटकते,
यहाँ डूबने का न, पथिक, डर !

सरित न कूप, न सरवर सागर,
कूलहीन रस कूलो में भर
नित अकूल ही रहता,
रस ही भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर !

यह न समाधित, यह न जागरित,
सुख सुख मे न समाता परिमित,
यहाँ डूब मरने मत आओ,
अति जीवित हो जाओगे तर !

परम बोध

नीलम का भू जीवन मन्दिर, मरकत तृण पुलकों का प्रांगण,
सित प्रीति शिखा स्थापित भीतर, आनन्द प्रणत करता पूजन !
हंसों के स्वर्णिम रथ पर चढ सौन्दर्य उतरता भाव-मौन,
रोमांचों का स्रक् अर्पित कर सोचता, रहस यह शक्ति कौन !
आश्चर्य महत्, कहते द्रष्टा देवाधिदेव का अधिष्ठान,
यह मुक्ति न बन्धन, परम बोध, गाता शोणित अमरत्व गान !

प्राणों का सुख उठता पुकार, हो जाता हृदय स्वत: तन्मय,
इस कूप-सिन्धु में दिङ् मज्जित लय हो जाते सब भय संशय !
यह रस के सित तम का काबा, घनश्याम राम जिससे विकसित,
जीवन प्लावित रखता जग को चिर जन्म-मरण तट कर मज्जित !
यह सृजन शक्ति का विजय केतु, अभिभूत जगत् के जड़-जंगम,
तम-ज्योति मुक्त, गंगा-यमुनी मानव हृदयों का सित संगम !

यह भक्ति न कीर्तन आराधन, चित् सत्य सृष्टि क्रम में सर्जित,
प्रस्तर की ईश्वर प्रतिमा भी पा हृदय-स्पर्श होती विगलित !
रस-बोध गहन ही नीलम मणि, सित रोमांचों के तृण मरकत,
यह रस तन्मयता का स्वभाव मिलता कण-कण उर में पर्वत !

सीख

अवसाद ?
मत पास फटकने दो इसको,—
जीवन-विकास हित

घातक यह,
भूजीवी के हित
घातक यह !

नहीं स्पिनोजा ही का मत
यह मेरा भी अनुभव, अभिमत !

हाँ, आह्लाद ?
इसे निज जीवन-सखा बनाओ,
श्रम को अपनाओ,
भू-जीवन मंगल गाओ !

अपने लिए नहीं
स्वदेश के लिए भी जियो,
घाव भग्न-हृदयों के सियो !

यह धरती
जगती उनकी है
जो अपने ही नहीं
दूसरों के हित भी
जीवित रहते—

युग विकास वेला में—
औरों के भी
सुख-दुख सहते !

स्वर्ण किरण

तुम कहती हो
(मन में दर्प दबा गोपन)
मैं स्वर्ण किरण
क्यों नहीं बाँट देता
तुमको भी,
औ' उबार लेता
तुमको भी—
अन्धकार में भटक रही जो,
मग में पग - पग
अटक रही जो !

गलत समझती हो तुम मुझको !
स्वर्ण किरण क्या बाँटी जाती ?
वह क्या किसी एक की थाती ?
भला, कौन होता मैं
स्वर्ण किरण का वितरक ?
—मुझे न ऐसा दम्भ,
नहीं झक !

स्वर्ण किरण तो
बरसाता सित चिदाकाश
बिखरा अनन्त उल्लास !
रोम - रोम में घुसने को
आतुर लगतीं वे
अनायास !
तुम चाहो तो
तुम भी उनको चुन सकती हो
गुन सकती हो,—
दीपित कर सकती
उर मन्दिर आँगन
तत्क्षण !

पर तुम तो
दुख के गौरव का
बोझ वहन करना,
भार सहन करना
कर्तव्य समझती अपना !
सुख हो मिथ्या सपना !

दुख ढँक लेता ईश्वर का मुख
धूमशेष वह मन का हुतभुक्,
छाया घन-सा छा जाता जो
आत्मा के अकलंक चन्द्र पर
उर प्रकाश हर !
दुख जो निष्क्रिय
वह तुमको प्रिय,
अपने ही मे सीमित
तुमको रखता सक्रिय !

स्वर्ण किरण तो
तब पैठेगी भीतर
जब तुम अपने मन का
फेंको दमित अहं का
विषधर फन
गर्वित गुण्ठन !
क्या है दुख ?
अपने ही को रखना सम्मुख !
सुख ?
स्वार्थ विमुख हो
जग जीवन प्रति होना उन्मुख !

स्वर्ण किरण
इससे भी पर
अक्षय अक्षर,
आनन्द दीप्त क्षण !

आत्म नम्र ही
जिसको कर सकता
श्रद्धा से वरण,
आस्था से
भव-सिन्धु कर तरण !

प्रश्नोत्तर : २

कवि, क्या कवित्व ?
रस सिद्ध शब्द !
क्या गीत ?
स्फुरण, मार्मिक नि:स्वर !
क्या अलंकार ?
असमर्थ अर्थ !
क्या छन्द ?
स्वत: झंकृत अक्षर !

रस ?
ध्वनि समाधि, वाणी से पर !
सौन्दर्य ?
प्रीति-मुख का दर्पण !
आनन्द ?
तत्व का रहस स्पर्श !
क्या अमर काव्य ?
रसमय दर्शन !

सौन्दर्य

पूछा हँस आनन्द ने सहज,
'कवि, क्या सुन्दरता अपने में
स्वयं पूर्ण है ?'

कहा हृदय ने,
'हाँ,
आनन्द प्रसू सुन्दरता,—
अपने में
वह स्वयं पूर्ण है !'

कहा प्रेम ने,
'कवि, क्या सुन्दरता अपूर्ण है ?'
बोला कवि,
'वह मृद् प्रदीप भर,
प्रेम,
तुम्हीं हो हृदय-ज्योति
सौन्दर्य-दीप की !
जिसको सित आनन्द रश्मियाँ
घेरे रहतीं !'

दृष्टि

यह नीलिमा
नयनिमा—
शाश्वत मौन नयनिमा,
देख रही अनिमेष तुम्हें जो !
सोच रही विस्मय अवाक्
तुम कितनी सुन्दर हो
भू पर···कितनीऽ···सुन्दर !
जब प्रसन्न रहती तुम
उषा सुनहली स्मिति का
सित प्रकाश बरसाती निश्छल !
लज्जारुण हो उठता नभ
पी अधर लालिमा उज्ज्वल !

तुमको देख उदास
मौन गम्भीर साँझ
छा जाती भू पर—
रुक जाती तृण तरु अधरों पर
दिशि उर मर्मर !
लौट नीड़ को जाते खग
सोते कलरव स्वर !
तारा-घन-सा
चिन्तन-गहन दीखता अम्बर
अपलक निशि में,—
कैसे तुम प्रमुदित मन
सुख से रहो निरन्तर—
कैसे हो दुख का क्षय
प्रज्ञा उदय
धरा पर !

कब से चिन्तातुर
अगाध अन्तर अनन्त का—

पहचानो तुम मुख पतझर का,
पहचानो तुम
मुख वसन्त का !

शुभ्र शरद-सा
रहे अरूप चेतना का मन,
उठे प्रीति सौन्दर्य ज्वार
जीवन सागर में
हो कृतार्थ भू-प्रांगण !

नभ की सित नीलिमा
समा जाती
मेरे नयनों में निःस्वर—
भाव दृष्टि
अन्तर को देकर !

और देखता तब मैं अपलक
कितनी सुन्दर हो तुम भू पर
कितनी सुन्दर !

ईश्वर ही का सत्य अनश्वर
सुन्दरता में स्वप्न-मनोहर
उतरा हो तुममें
सर्वांग मधुर स्वरूप धर !

धरती यदि
फूलों में खिलती,
वैसी ही तुम
उसे दीखती—
अकलुप निरुपम !

सौरभ में यदि
भरती वह उच्छ्वास,
तुम्हारे प्रति अनुराग
हृदय में उठता जाग !
यदि समीर
फिरता मद विह्वल,
या लहरों की बजती पायल,
तो वे केवल
तुम्हें देख हो उठते चंचल !

शुभे,
मधुर सौन्दर्य स्पर्श पा
मैं भी तन्मय
सुख विभोर हो
तुम्हें गोद मे लेता हूँ भर—

और उठाकर
लगा हृदय से लेता सत्वर !

लगता तब,
मैं निखिल सृष्टि का भार
उठाये हूँ कन्धों पर,
निखिल विश्व दायित्व लिये हूँ
अपने ऊपर !

ईश्वर-सा अनुभव करता
मैं अपने भीतर !
हँस उठते सब रोम
रूप की तड़िच्छक्ति से
पौरुष से खिल उठता अन्तर,—
मस्तक से श्रम बिन्दु
बरस पड़ते झर झर झर !

कैसे प्राण,
तुम्हारे रहने योग्य बनाऊँ
मैं वसुधा को,
मृण्मय घट में
भरूँ सुधा को !

कैसे निज सर्वस्व लुटाकर
तुम्हें बिठाऊँ
निर्भय, जन-मन सिंहासन पर !—
स्वर्ग प्रीति की प्रतिनिधि
तुम बन सको धरा पर
मानवीय हो जग,
घर द्वार बसे ईश्वर का !

तुम पर
श्री सौन्दर्य ज्योति
आस्था प्रतीति पर
शलभ मुग्ध नर
तन-मन जीवन
करे निछावर !

भारत नारी

भारत नारी,
तुम शोभा-चेतना तपोज्वल,
कभी अपावन भी हो सकता क्या गंगाजल ?
कितने शुभ्र वसन्त रुके जीवन डालों में—
(शिशिर अश्रुकण अब न रहेंगे स्मित गालों में !)
अभिवादन करने को प्रिय चम्पक अंगों का !
(सुरभित कांचन को न मोह कृत्रिम रंगों का !)

कबरी में होंगे कृतार्थ हँस फूलों के दल
नव मरन्द गन्धों से गुम्फित विस्तृत अंचल !
चंचल मलय समीरण साँसों में प्रवेश कर
शील संयमित, जग में उर सौरभ देगा भर !
कोकिल कुहुक कहेगी—जग मंजरित आम्र वन,
देह मान छोड़ो, विदेह प्रेयसी, सखी बन !
तुम वसन्त में लिपटी होगी शरद सौम्य स्मित
भेद यही, मुख चन्द्र सलज होगा अकलंकित !
सहज प्रेम बाँटो, बन प्राण जलधि में तरणी,
मोह मुक्त हों राम, प्रेयसी तुम, जगजननी !

प्रेम

जाने कैसे उदय हृदय में
होता वह मुख !
दीप शिखा, कंचन तारा-सा,
सलज अप्सरा-चन्द्रकला-सा—
वह प्रिय-श्री मुख
मूर्त स्वप्न सुख !

लो, वह शोभा मुकुल
खिल उठा अब दृग सम्मुख,
भाव-लोक में
खोल पँखड़ियाँ मांसल !
वस्तु कुसुम से भाव कुसुम यह
कहीं मनोरम,
निरुपम,
सद्यः कोमल !

विहँस रहे प्रतिपल
सुषमा के सित सौरभ दल !
कितना रूपैश्वर्य निरन्तर
स्वर्ण मरन्द सुभग झर-झर
प्राणों में निखर रहा निःस्वर !
कौन छन्द गा सकते महिमा
कवि तन्त्री में स्वर भर !
सूक्ष्म अग्नि लपटें हों प्रतिक्षण
फूट रहीं छू रागाकुल मन,
खुलते उर में
क्षितिज पर क्षितिज
भाव बोध के नूतन !

यह सौन्दर्य फूल में सीमित ?
(फूल नहीं वह, चुम्बित मुख स्मित ?

फूल न मुख, वक्षःस्थल स्पन्दित ?
वक्ष न, हृदय प्रणय प्रति अर्पित ?)

तो, सौन्दर्य फूल में सीमित ?
या वह मेरे अन्तर में स्थित ?
मुग्ध दृष्टि से जब छवि प्रेरित
तुम्हें देखता मैं सुख विस्मृत ?

स्वर्ग विभव में स्नात
तुम्हारे अंग-अंग से
नव लावण्य बरसने लगता
राशि-राशि,—अम्लान, अतन्द्रित !

तुमको लगता
तुम्हें निहार रहा मैं तन्मय
निर्निमेष दृग, विस्मित !

एक किरण हँस उठती
मौन मुकुल के मुख पर,
एक स्वर्ग आलोक
तुम्हारे रोम-रोम से उमड़
फूटने लगता बाहर !

बदल निखिल जाता परिवेश
विरस जीवन का
तड़ित् स्पर्श से !
शाश्वत लगता प्रणत
महत् उस क्षण पर निर्भर !

प्रेम,
कौन-सी अमृत शक्ति तुम ?
मिट्टी स्पर्श-पुलक पा
हँसती दूर्वा श्यामल,
रंग पंख पुष्पों को बरसा
तृण तरु गुल्म लताएँ कँपती
सुख से पागल !

अमृत स्पर्श से
शत सहस्र ब्रह्माण्ड
सूर्य शशि तारा स्पन्दित
निद्रा से ज्यों जग
भर देते नील शून्य का अंचल !

और एक साधारण मुख
लावण्य कमल वन
अमित रूप-सुषमा के
पावक दल फैलाकर

दष्टि भ्रमर को
करता मुग्ध, निर्निमिप प्रतिपल !

सबसे बड़ा फूल,
रस शतदल
मनुज हृदय—
जिसमें असंख्य भावों की
शोभा स्मित पंखड़ियाँ
प्रेम स्पर्श से
नव रहस्य भुवनों में खुलकर
आँखों को रखतीं अपलक
उर में विस्मय भर !

उदय हृदय में होता जो मुख
उसकी सुषमा, महिमा, गरिमा
तन्मय प्रेम-दृष्टि पर निर्भर !
मनुज हृदय ही स्वर्ग,
प्रेम ही जन-भू ईश्वर !

चन्द्रमुख

अब भी चाँद दिलाता याद
किसी प्रिय मुख की
मेघों से आ बाहर !
भले वहाँ दिग् यान भेजकर
वैज्ञानिक जन-लोक बसायें,
कहें, वहाँ ऊबड़ खाबड तल,
वाष्प, रेत, कंकड़ रज छाये !

नही मानता ग्रह उसको मन,
वह सौन्दर्य प्रतीक मनोहर,
निरुपम मोहक रूप बिम्ब-भर,—
विश्व प्रेयसी का मुख दर्पण !

अब भी याद दिलाता चाँद
शील सुषमा की
स्निग्ध रश्मि बरसाकर !

खोज रहा मैं शरद सौम्य मुख
जो हर ले उर-प्राणों का तम
हर ले जीवन का कृतघ्न श्रम,—
गहराती जाती
संकट की निशा धरा पर,
श्रद्धा आस्थाहीन हृदय,
छाया मन में संशय भ्रम !

मुझे प्यार चाहिए,
प्रेयसी भी,
जो चाँद,
हृदय में नीड़ बसा स्वप्नों का
बरसा श्री सम्मोहन
दीपित करे धरा पथ,—
अमृत सिक्त भू प्रांगण,
सार्थक हो गरिमा से मानव जीवन !
और कौन प्रेयसी
तृप्त कर सकती
मन की अग्नि पिपासा,
कवि की आशा
शोणित की विद्युत् अभिलाषा ?
कौन प्रेयसी
मूर्तित कर अमूर्त संवेदन
स्वप्नों को दे सकती
पेम ? जीवित मांसल भाषा ?

गड़ गया प्राण-पंक में
उसका सित रथ,—
घर-आँगन से बाहर उसको
सुलभ नही
महिमा विस्तृत पथ !
घृणा द्वेष से, कलुष क्लेश से
जर्जर स्वर्गिक हंस
पड़ा जन-भू कर्दम में
क्षत विक्षत,
चाँद, मूर्च्छित श्लथ !

याद आती मुझको
किस चन्द्रमुखी की ?...
उमड़ सिन्धु रस प्रेम
मग्न कर देता निःस्वर
जन-भू अन्तर !

आत्म कथा

प्यार न मुझको मिला स्त्रियों से,
मिला सहज आदर,
मैं प्रसन्न हूँ ! कहाँ प्यार को रखता
जग से डर !

प्रेम बन सका मैं
अपना सर्वस्व त्याग तुम पर,
नयी पीढ़ियों को देता हूँ
नये प्रेम का वर !
युवतीजन को युवक समादर दें,—
वे कोमल तन,
प्यार करें युवती युवकों को,
प्यार मनुज जीवन !
शोभा बने धरा की नारी,
शोभा स्वर्ग प्रकाश,
मुक्त हृदय दे प्रेम विश्व को
भू हो प्रेम निवास !

अमृत-प्रेम का गरल पान कर
मैं हूँ न्योछावर,
प्रेम देह-मन से उठकर ही
बनता श्रेयस्कर !
प्रेम प्रकाश-सदृश बरसे
जन धरणी पर झरझर,
सार्थक हो भू जीवन,
मुक्त हृदय हों नारी नर !
ऊर्ध्व श्वास, लय कहाँ हो रहे
ओ द्रष्टा मानव,
भू को करो प्रेम रस तन्मय,
स्रष्टा बन अभिनव !
वशीभूत सित प्रेम - तत्व के
अग-जग, सचराचर,
प्रेम सत्य शिव सुन्दर स्रष्टा,
प्रेम मनुज - ईश्वर !

वेणी वार्ता

सिर से आँचल खिसका
मृदु वेणी लहराती
जब तुम आती
छाया वीथी से
नत सिर, स्मित मुख
क्षण - भर
सन्ध्या आँगन में रुक,—
वातावरण बदल - सा - जाता
तुम्हें घेरकर

चंचल हो उठती समीर
कवरी सौरभ पी;
स्वर्णिम शोभा - तीर
हीर किरणों - से निःस्वर
प्राणों में धँस
रोमों में हँस
भावाकुल कर देते अन्तर !
उपचेतन आकांक्षा का
स्मिति दीप्त सुनहला छवि मण्डल
छा लेता अविकल
सौम्य सलज प्रिय मुख को
कुछ पल !
मुझे पीठ पर लहरी
उस भूरी कवरी में
सभी मानवी मधुर भाव
तिरते-से मिलते !
कवि का किसमे क्या दुराव ?
करुणा ममता
स्मृति, स्नेह, शील,
शोभा लज्जा—
अनगिनत मानसी हाव-भाव
अन्तर में खिलते ।

हंसगमनि,
हिलडुलकर
सुगठित पृष्ठ भाग पर
आमन्त्रित-सा करती मुझको
शोभा लहरी
श्यामल कवरी
कोमल सन्ध्यातम-सी छहरी !
कहती चुपके—मुझको छू लो,
छोड़ो भय संशय,
यदि निश्चय, चाहता हृदय,
तो,
छू लो, मुझको छू लो !
कौन लोक मर्यादा इससे भंग हो रही !
या यह भूरी कवरी ही
निज रंग खो रही !
शोभा-तम की सी निर्झर
यह तुमको

यदि लगती सुन्दर—
तो छू लो निर्भय !
यह होगी
वेणी ही की जय !

सम्भव, तुम खेलना चाहते
इस पाली-पोसी नागिन से
कितने दिन से !

शोभा जिसका गरल
स्नेह सौरभ ही दंशन !

तो क्यों उन्मन ?
छू लो, चुपके छू लो,
दुविधा भूलो !

मैं अपने पर संयम रखता,
वर्जित फल जो
उसे न चखता !

वेणी मुझको भले लुभाये
सुन्दरता मन में गुँथ जाये—
पर, मैं वेणी छू लूँ तो
तुम क्या समझोगी ?
वयस मान से गाली मुझको
भले न दोगी—
मन में तो झिझकोगी,
छल क्रोधित भी होगी !

भिन्न रूढ़ियों में है पली
तुम्हारी वेणी
मर्यादा तम श्रेणी !

इस स्वतन्त्र भारत में
तुमसे स्वतन्त्र होकर
यदि वह मुझे बुलाये,—
तुम्हें न भाये !—
होगी क्या न ढिठाई ?
छू लूँ वस्तु पराई !

तुम परिणीता—
(वैदेही थी यद्यपि सीता !)
अंग-अंग तुमने
पति के प्रति किये समर्पित !
काम मूल्य में सीमित !
और बँध गया अब मन
केवल देह - भाव में;

डूब गयी आत्मा की शोभा
चर्म नाव में—
निखिल विश्व से गुण्ठित !
सत्य कबिरा की बानी
नाव बिच नदी समानी !!
जो निश्छल सौन्दर्य प्रेरणा
उदित हो रही मेरे मन में
वह कलुषित हो जाय न
खोकर त्वच - प्रिय तन में
तम के वन में !

मुझको भय है,
यह संशय है—
जो अप्सर - अंगुलियाँ
तुम्हारी वेणी को छू
खेलेंगी निःस्वर
दुविधा संकोच भूलकर—
(वे होंगी भावांगुलियाँ भर !)
क्या तुम उनका मूल्य
ठीक से आँक सकोगी ?
उर के भीतर
झाँक सकोगी ?
आदर भी क्या दे पाओगी—
भू-नर का मन अनुभव-भोगी !
फिर, ऐसे अप्रिय प्रसंग को
वृथा जन्म दूँ—
मैं ऐसा न कामना-रोगी !
तुम स्वतन्त्र भारत की
नारी हो निःसंशय,
पर धरती की नारी अब भी
देह - बन्दिनी,—निश्चय !

रुका मनुज जीवन विकास - क्रम,
छाया चारों ओर ह्रास - भ्रम !
स्त्री न काम-प्रतिमा से निखर
अभी बन पायी
शुभ्र प्रीति - प्रतिमा—
सौन्दर्य बोध श्री प्रतिमा !
गूढ़ विवशता
मन मे छायी !

मैं इस आशा
अभिलाषा से
धीरज धारे,
संयम से हूँ मन को मारे—

आनेवाली नयी पीढ़ियाँ
भू जीवन में
मूर्त कर सकेंगी
नारी में शुभ्र प्रेम को,
भाव क्षेम को,—

आज काम कवरी
जो नागिन-सी बल खाती,
हृदय लुभाती,
कल, वह बन
आनन्द सिन्धु लहरी
नाचेगी मुक्त पीठ पर !
कलुष दीठ हर !

भाव मुग्ध
भावी भू यौवन
खेलेगा
विषहीन नाग से,
प्रेम आग से !

सम्यक् बोध

तन से विभीत, मन के वन में जो करते रिक्त पलायन जन
वे जीवन-ईश्वर के द्रोही जिनसे विषण्ण जग का आँगन !

तन ही ईश्वर का विटप-वास आत्मा में जिसके मूल गहन,
प्राणों के कलरव से मुखरित मन धूपछाँह-जग का आँगन !

भू कर्म-भूमि, – भव कर्म-हीन जो करते ऊर्णनाभ-चिन्तन,
वे मनोजाल में फँसे मूढ युग - युग के मृत चर्वित चर्वण !

इन्द्रिय-द्वारों से जगती का जो करते नवयुग-बोध ग्रहण
वे ही प्रबुद्ध मानव देते भव क्रम-विकास को गति नूतन !

नर तन आत्मा का रूप-बिम्ब, वह ईश्वर का मन्दिर सुन्दर,
रचती तन्मय-रज भाव-सेतु सित प्रेम विचरता नित जिस पर !

तन का तम आत्मा का प्रकाश मिल, बुनते धूपछाँह जीवन,
भगवत् महिमा बनती रहती चेतन से जड, जड़ से चेतन !

रचना-प्रिय प्रभु, इन्द्रिय-मुख से गह दृश्य शब्द, रस गन्ध स्पर्श
नव सूक्ष्म भाव-वैभव जग में भरते नित श्री-शोभा प्रहर्ष !

तन से त्रासित, वैराग्य-निहत धिक् भस्म-काम जो निष्क्रिय मन,
वे ज्ञान-शुष्क-मरुस्थल में तप, मृग जल पी, ढोते जन्म-मरण !

रूप गर्विता

तुम सुन्दर हो, सन्देह नहीं, सुन्दरता का अभिमान तुम्हें
जो सुन्दर शशि-मुख का कलंक क्या इसका भी कुछ ध्यान तुम्हें ?
सौन्दर्य हृदय ही का सित गुण जो होता तन-मन पर बिम्बित,
लहरों पर करवट लेती ज्यों शशि आभा सम्मोहन रच स्मित !
भावना भंगिमा से झाँके ज्यों उषा झरोखे से मुकुलित,
कुम्हला ही जाता फूल-मांस अंगों पर मत हो अवलम्बित !
जाओ, सुहृदों से मिलो सहज, उनका कर अभिनन्दन सस्मित,
सौहार्द्र द्रवित उर शोभा में हो सीमित-रूप-अहं विकसित !
त्रेता की पतिव्रता विदेह, द्वापर की परकीया तन्मय,
तुम भावी की आत्मीया हो इसमे मुझको न तनिक संशय !
तन का परिणय पावक कर्दम, मन का परिणय द्वाभा-संशय,
आत्मा का परिणय ज्योति अन्ध यदि हृदय न प्रणय सुरभि मधुमय !
आओ, मृद् तन से बाहर हो उर सौरभ शील करो वितरण,
मन पंखों पर उड़ छुए विश्व, तन से बोझिल स्तम्भित जीवन !
रूपसि, जो तुमको शोभा प्रिय तन का तृण बोध करो अर्पित,
सित प्रेम देहरी लाँघ, बनो उर सुषमा ज्वाला से मण्डित !

मोह मुग्धा

दर्पण में तिरते धूप छाँह
सर में उठती लहरें प्रतिक्षण,
उर-मुकुर कपोलों पर पढ़ता
मैं तेरे मन का संघर्षण !
आँखों से भी झाँका करती
अन्तर की भाव व्यथा गोपन,
जाने तू क्यों रहती उदास
मैं समझ न कुछ पाता कारण !
मत रूप-मोह में प्राणों को
तू बाँध, निछावर कर तन-मन,
कैशोर व्याधि भर यह उर की,
क्षण रूप मोह निर्मम बन्धन !
तू भाव-साधना से वंचित
जो देता राग जनित संयम,
आदान-प्रदान हृदय का कर
तू काट मोह-सुख का तम भ्रम !
सबसे मिल, मन का सौरभ पी,
उर को न किसी पर कर अर्पित,

जो फूल वृन्त से झर पड़ता
वह मुरझाता रज में निश्चित !
सित प्रेम मोह से भिन्न, सुवे,
रज-मोह लिपटता - भर बाहर,
शुचि प्रेम डूबता अन्तर में,
वह बन्धन, यह चिन्मुक्ति अमर !

मिथ्या न, मोह - पगली बेटी,
ऋषि याज्ञवल्क्य के आर्ष वचन,
प्रिय आत्मनस्तु कामाय सदा
पति, स्त्री, सुत, सुहृद्, सर्व, धन, जन !

इन निखिल वस्तुओं में जग की
प्रिय आत्म-सत्य ही का वितरण,
स्त्री सुत पति प्रेमी सहचर पशु
आत्मा ही के सित पावक कण !

आत्मा का दर्पण पा उसमें
मत देख मुग्ध अपना ही मुख,
ईश्वर मुख बिम्ब विलोक शुभ्र
जो व्याप्त चतुर्दिक् दृग सम्मुख !

तन में सीमित मन मोह-भ्रान्त
तन ही को करता आत्मार्पण,
तन से बाहर—मन आत्मा का
शोभा प्रकाश सुख का प्रांगण !

तू भाव-गौर देही में रह
श्यामे, नित बाँट हृदय-सुख क्षण,
बन भू जीवन प्रेमिका सुघर
कर मोह-मुक्त पथ पर विचरण !

उद्बोधन

ओ छाया-शशि भारत अबले, तू छिपी-छिपी फिरती निर्मन
क्या तू न धरा की श्री-शोभा कुसुमित जिससे जग का प्रांगण !

पुरुषों से कट हट रहती क्यों, क्या हृदय-हीनता का कारण ?
तू उच्च-बोध से पीड़ित या लघु हीन ग्रन्थि से कुण्ठित मन !

पुरुषों के सँग घुल-मिलकर तू रख सकती क्यों न हृदय पावन ?
शोभा-प्रेमी के स्वप्नों का प्रिय मुख को बनने दे दर्पण !

तन-मन पवित्रता का प्रेमी भारत नारी का अभिभावक,
मैं देह-भीत मन से न तुष्ट, सित हृदय-मुक्ति का आराधक !

यह राग साधना का भू-युग हो काम प्रीति मख को अर्पित,
वे भाव-विक्षत नर घृणा पात्र जो शोभा-तन करते लांछित !

भू उर के तप्त उसाँसों को होना संयम घृत से शीतल,
उर के प्रकाश में हो परिणत सहजीवन क्रम में प्राणानल !

सह प्राण तड़ित् के स्पर्श शनैः बन शुभ्र हृदय चेतना युक्त
इस मध्ययुगी भू-भ्रात्मा को पशु काम द्वेष से कर विमुक्त !

तन से विभीत मानवता से जीवन विकास क्रम चिर बाधित,
स्त्री-नर भय से अघ में सनते पाकर प्रतीति होते भ्रादृत !

सहजीवन भ्रावश्यक मानिनि, तन से ऊपर उठ पाये मन,
भ्रात्मा का स्वर्ग-क्षितिज उर में खुल सके,—धन्य हो भू प्रांगण !

उर की पवित्रता से तन भी रहता पवित्र, यह निःसंशय,
यह भ्रात्मा के प्रति भ्रघ महान् तन का मन पर छाया हो भय !

सित प्रीति यज्ञस्थल निखिल सृष्टि दिव-हवि स्त्री-नर के शुचि भ्रवयव,
भ्रानन्द जात भव सहजीवन शोभा-मंगल का हो उत्सव !

भ्रो स्नेहमयी लज्जे, शीले, कवि उर का नम्र निवेदन भर,
जन भू मन का कल्मष धो, मा, हों प्रीति ग्रथित नव नारी नर !

विरहिणी

विरहिणि, युग भ्रभिसार करो !
मध्य युगों के कुन्जों से कढ़
नवयुग नारी बन निखरो !

श्री शोभा मन्दिर हो स्त्री तन
संयम तप के मन से पावन,
न्योछावर हो प्रेम डगर पर
भू यौवन को भ्रंक भरो !

देह न रति से होती कलुषित
हृदय प्रेम प्रति जो सित भ्रर्पित,
व्यक्ति रूप को तजो, मोह वह,
मनुज हृदय को भ्रभय वरो !

विरह न सत्य, रूप-स्मृति-कुण्ठित,
भ्रात्मज्ञान से रहता वंचित,
युगल प्रतीक पुरुष स्त्री का हो
हृदय-मिलन,—भव सिन्धु तरो !

हृदय एक रे, हों भ्रनेक तन,
हृदय बोध को कर मन भ्रर्पण,
नव युग श्री सीते, श्री राधे
जन-भू विरह-विषाद हरो !

जीवन पीठ बने जो भ्रभिनव
शाश्वत मिलन धरा पर सम्भव,
नव्य मूल्य केन्द्रिक भू-मन गढ़
धरा-स्वर्ग पथ पर विचरो !

घृणा द्वेष निन्दा का भू-पथ,
गड़ा पंक में आत्मा का रथ,
शप्त शूल को खिला फूल में
बढ़ो अभय, न डरो, न डरो !

बहता सित आत्मिक रस-सागर
भू मन पुलिनों को मज्जित कर,
तन के स्तर पर यह भगवत् रति,
देह-गेह में रह, न मरो !

हिम अंचल

बैठकर हिम-चोटियों पर
मौन, सित एकान्त गाता !

देखता-सा नील का मुख
फिर धरा की ओर उन्मुख
सेतु-सा वह स्वर्ग-भू के मध्य
शब्द-रहित सुहाता !

हिम शिलाओं तले शीतल
बह रहे जल स्रोत कलकल,
दृग् अगोचर,—वेणु हो
एकान्त निर्जन मे बजाता !

बज मृदंग ढिमिक-ढिमिक स्वप्न
चकित कर देते श्रवण मन,
हिम शिलाओं में छिपा नद
भेद सत्ता का बताता !

सूर्य किरणें सप्त रँग स्वर
गीत गाती यहाँ नि.स्वर,
शुभ्र उर एकान्त मे
संगीत मे गम्भीर माता !

दूर जाती दृष्टि—निश्चल
श्वेत घन हिम राशि केवल
अकथनीय असंग सित सुख,
समाधिस्थ स्वयं विधाता !

वसन्त

अह, कब से रुका विधुर वसन्त
अब झुका मुग्ध जन धरणी पर
लोटता उमड़ आनन्द-मत्त
फूलों का गन्ध-फेन सागर !

भू से गिरि-शिखरों पर चलता
स्मित रंगों के चंचल-पग धर
दिङ् मर्मर के कर क्षितिज पार
नभ को बाँहों में लेता भर !
पीले मरन्द की पंग उड़ा
दे रहा ढील गह मलय-डोर,
द्रुत कूद शिखर से धरती पर
दौड़ता लपट-सा वन किशोर !

अब लतिकावृत वन-श्री का उर
पावक-अंगुलि नख से विक्षत,
झुक फुल्ल-भार माधवी-लता
रस ढीठ युवक सम्मुख पद-नत !
एकाग्र—गगन-से दिशा श्रवण,
सुन शंख-हर्ष कोकिल के स्वर
पंख-ध्वनि कर कुसुमित सन्देश
देते उड़ अग्रदूत मधुकर !
अब बीजों के मुख में अंकुर,
अंकुर-करतल में नव किसलय,
किसलय-वेणी में गुँथे फूल,
फूलों के मृदु उर मधुप-निलय !
कितने छाया-रँग के प्रवाल
रवि किरण तूलियों से चित्रित
प्रारूप दिगन्तों में अनन्त
ऋतु-सुषमा का करते अंकित !
अब आँगन कचनारी अम्बर,
रोमांचित लगती अमराई,
पल्लव-मांसल मंजरित धरा,
वन-वन पलाश-लपटें छाईं !
अन्तर का यौवन रे, वसन्त
वह सूक्ष्म भाव-वैभव सुरक्षित,—
दिक् शोभा पी दृग निर्निमेष,
मधुचक्र जगत् रस-श्रम विरचित !

पावस

तुम भू-ऋतुओं की सम्राज्ञी
नभ से भू पर करती शासन,
राजोचित महिमा गरिमा से
दिव पथ पर चलता रथ दिक्-स्वन !
दिग् विजय दर्प से फहराता
अम्बर में इन्द्रधनुष केतन,

किरणों के सतरंग पुष्पहार
सुरगण विस्मित करते अर्पण !

तुलना न तुम्हारी मधुऋतु से
वह भू अंग भले करे कुसुमित,
सौरभ मरन्द उच्छ्वासों से
जन-मन का क्षितिज करे रंजित !

सन्तों को प्रिय हो भले शरद्
चेतना चन्द्रिका से परिवृत,
हों मुक्त हंस करते विचरण
जल कमल पत्रवत् अन्त:स्थित !

हेमन्त शिशिर संकीर्ण हृदय
रीते वन आँगन के पतझर
असि-धार शीत खर सरित-मरुत
कँपते रहते तन-मन थर्थर् !

तुम जल-कुबेर, कृषकों की ऋतु,
उर मुक्ता लड़ियों से मण्डित,
सुन पग-ध्वनि भावाकुल जन-भू
होती शस्यों में रोमांचित !

विद्युत् लेखा-सी तन तनिमा,
रखती अनिमेष नयन विस्मित,
भू के विषण्ण जीवन के क्षण
अन्तः स्फुरणों से कर दीपित !

घन अंजन रेखा से, नभ की
नीलिमा दृष्टि करती मोहित,
उड़ती बलाक-ध्वज श्वेत पंक्ति
दिक् शान्ति पत्र लिखती हो सित !

सुन मन्द्र स्तनित कँपते दिगन्त
निश्चेतन होता समुच्छ्वसित,
हँस उठती पुलक प्ररोहों में
भू-रज नव बीजों से गर्भित !

आओ, श्यामे-सागर तनये,
झनका नव स्रोतों की पायल,
जन धरणी का सन्ताप मिटे
भू-अंचल हो दिक् श्री श्यामल !

शरद

अब हरी धूप से धुली दिशा नीलातप का नव नभ मण्डल,
ओझल जाने कब हुआ रिक्त तीतर-पंखी मेघों का दल !
विहगों के रोंए गहराये, लहराये पंखो मे नव रँग,
कलरव में सुख की चिनगारी, उल्लास-भरे पुलकों के अंग !

निर्मल जल, मचल रही लहरें, कँपते दुहरे तिहरे प्रतिफल,
अब सरित धार में रजत वेग बज उठती पुलिनों की पायल !

मत पूछो, वाष्प-शिथिल समीर इठलाती कौशा-मसृण चंचल,
गन्धों की तन्वंगी ऋतु को बाँहों में भर मधुरज कोमल !

यह कौन किशोरी, नव गोरी, जो हँस-हँस हर लेती जन-मन,
मन से भोगा जा सका न जो क्या वह शाश्वत सित यौवन-क्षण ?

ऋतु नहीं, सौम्य शशि-मृग पर चढ़ फिरती अकलुष ज्योत्स्ना सुन्दर
निज भारहीन श्री शोभा मे चल पाती जो न कठिन भू पर !

[illegible] मोहित, निःस्वर ?
[illegible] का रूपान्तर !

पावस विषाद मिट गया, स्निग्ध उर में प्रहर्ष-जग उठा निखर,
छाया बनकर भाया प्रकाश माया में हो गुण्ठित ईश्वर !

पतझर

अब नरकुल के लम्बे पत्ते ताँबई रंग के मन भाते,
पीले - पीले पतले डण्ठल पागल बयार में लहराते !

दो पैरों पर खरगोश खड़े फुनगियाँ नरम चुन-चुन खाते,
भय से सतर्क दो उठे श्रवण संकेत विपद् का बतलाते !

थल के जीवन की चल लहरी, शंकित-सी, रोमिल पूँछ फुला,
गिलहरी नाचती तड़ित्-स्नायु पाकर सम्मुख मैदान खुला !

अँगुलियाँ राम ने फेरी थीं, हो सदय, पीठ पर रोम-भरी,
इस जीव-जगत् की चपला के अब भी स्मृति-छाप लगी गहरी !

चौकड़ी मारना भूल हिरन चरते लेटे, तृण-खर, कँप-कँप,
सींगों से खुजा परस्पर तन सेंकते निभृत मे स्नेहातप !

खग-शावक पतझर आँगन में उड़, कुदक, मटक, चुगते दाने,
मर्मर स्वर भर झरता तरुवन, गाता अब उर न चहक गाने !

तरु विरल-टहनियों के पंजर कँपते पीले दो-एक पत्र,
भू पर कृश-छाया रेखांकित रज-लुण्ठित मरकत शीश-छत्र !

वन में ही नहीं, मनुज मन में अवसाद कहीं गहरा छाया,
चेतना एक भू-जीवन की—ठिठुरा जल, ठिठकी गिरि-काया !

जीव बोध

बतखों की चिकनी पीठों से चिपके गीले ओसों के कन,
वे पंख झाड़, ग्रीवा मटका, करतीं प्रभात आतप सेवन !

पीली चपटी चोंचों मे अब फूटता भयार्त तरल गायन,
करुणार्द्र ककहरा जीवन का रटता हो भूखा-प्यासा मन !

चितकबरा, राखी पृष्ठ भाग, भूरे रँग के मटमैले पर,
खैरे रँग का उभरा सीना, जल-थल से पंक उन्हें प्रियतर !

कीचड़ में चोंच गड़ा, चुनतीं पोषण, जीवो जीवस्य अशन,
पतले झिल्ली के पंजों पर चलतीं वे, पंकिल भू-प्रांगण !

कर्दम स्तर पर भी, ज्ञात उन्हें, सित अनघ-विद्ध जीवन-ईश्वर,
जो समा न सकता अग - जग में वह छिपा कीट के उर भीतर !

सापेक्ष जगत् यह निःसंशय, सब मानों में स्थितियाँ बिम्बित,
निश्चय ही वह निःसीम महत् जो पग-पग पर क्षण में सीमित !

खोज

अब फिर से
आकाश कुसुम को
शशक शृंग को
खोज रहे वन्ध्यासुत चिन्तक—
नये क्लीव दर्शन से गर्भित,
अहं समाधित !—
आत्म व्यथा की प्रसव वेदना
सह मर्मान्तिक !

छाया शब्दों का कोलाहल
मिलता नहीं समस्या का हल,
विश्व समस्या का कोई हल !

भय संशय के
धुन्ध धुएँ के घिरते बादल,
बढते श्वेत चीटियों के
दल पर शतमुख दल !

विजित पडी श्रद्धा आस्था
धरती पर घायल,
सृष्टि पहेली,—नहीं कहीं हल,
कुछ भी तो हल !

मध्ययुगों के मूढ़
अन्ध विश्वासों से हो बाहर
विजय-ध्वजा फहराता
आता
अन्ध आधुनिकता का युग रथ—

यन्त्र-अश्व
भौतिक-चक्रों पर
बढते युग-यथार्थ के पथ पर—

नव सारथि विज्ञान
ढीलता रश्मि
अनास्था की जन-दुस्तर !
अह, यह अणुबम, वह उद्जन बम,
छाया युग-मानस मे दिग्भ्रम !
अन्ध गली मे धँसा बुद्धि रथ,
तन-मन रक्त-व्रणों से लथपथ,
व्यथा अकथ,
युग कथा अकथ !

इने-गिने अस्तित्व शेष अब,
सहते मूक अमूर्त क्लेश सब,
शून्य सत्य से मनोदेश जब
रिक्त अहंता ही अशेष तब,—
बिम्ब प्रतीक उभरते अगणित
संवेदना भंगि परिवर्तित,
कथ्य शून्य हो भले
कलात्मक शब्द-वेश अब !
रस न लेश अब !
बलिहारी, यह नव युग की छवि,
मैं न बन सका युग-स्रष्टा कवि,
जुगनू ही संगठित
चमकते बन नव युग रवि—
मनुष्यत्व पर
गिरा लाज पवि !

क्षणजीवी

हम अँधियाले वर्तमान क्षण ही में रहते,
कटु यथार्थ का दंश मर्म में प्रतिक्षण सहते !
गहरी व्यक्ति व्यथा की गाथा गाते गोपन,
घोर ह्रास विघटन का क्रन्दन बनता दर्शन !
स्वयं जिये भोगे क्षण को कविता में जीते,
घूँट मूक अस्तित्व वेदना विष की पीते !
तुम कल के नव आदर्शों के गाने गाते,
ऊर्ध्व पलायन सिखा लोक-मन को बहकाते !
रीते भावी सपने लिये लगाते फेरी,
चिड़ियो के रोमिल पंखों की हो मृदु ढेरी !—
तुम यथार्थ की आँधी में फू: उड़ जाओगे,
आँख फेर युग कर्दम से थू: मुड जाओगे !
हम संवेदनशील, ढील देते जन-मन को,
नैतिक हो कि अनैतिक ढोते जीवित क्षण को !

संवेदन की ठोकर खाता मन पग-पग में,
वह अमूर्त वेदना दौड़ती अह, रग-रग मे !

सहज स्फुरण का क्षण होता क्या गज-भर लम्बा ?
वह भी क्या घरहरा, ढला लोहे का खम्भा ?
सृजन प्रेरणा होती जिन कवियों की लम्बी
कलाकार वे नहीं, 'शब्द-सागर' - भर दम्भी !

उछल चटुल मछली जब जल के ऊपर आती
उस प्रयोग में वही नयी कविता बन जाती !
भावी कविता होगी सूक्ष्म तार की भाषा
अपने ही में खोये कवि से हो क्या आशा ?

चित्रों, बिम्ब, प्रतीकों की वह होगी शैली,
कथ्य-शून्य, रसहीन, मुक्त छन्दो की थैली !
कौओं के हों चरण-चिह्न भू-रज पर अंकित
संवेदन भरते कविता मे विद्युत् इंगित !

कहाँ समाज ? व्यक्ति सत्ता ही बाहर-भीतर,
सत्य मात्र व्यक्तित्व, बिन्दुओं का ही सागर !
मानव-मूल्यों का भी प्रश्न कहाँ पर आता,
आँख मूँद अस्तित्व स्वयं जब हमें चलाता !

आस्था किस पर टिके ? चतुर्दिक् बौद्धिक संशय !
मिटी न भोग-पिपासा, छाया धुन्ध, मृत्यु भय !
घोर अनास्था सच्ची पृथु भावी-पुराण से,
अन्ध अराजकता अच्छी जड़ विधि-विधान से !

तुम भविष्यवक्ता बन रटते भावी, भावी,
वर्तमान क्षण बुरी तरह नव कवि पर हावी !

सूरज और जुगनू

सहज भाव से बोला सूरज
स्व-प्रकाश—
तुम मेरे ही दीप्ति-अंश,
क्षण ज्योति हास !

अपने ही छोटेपन के
अज्ञात बोध से
भड़क उठे जुगनू
यह सुनकर !

छेड़े बर्रों-से सब धूम
अराजकता के
अन्ध वेग में,

चमके तुनक तमक वे;
सूरज को ललकारा,
किरणों को फटकारा!

(ओजहीन ललकार
चिनगियों-सी
अपनी ही
लव लघुता में निराधार
बुझ गयी स्वतः)
दिनकर भी चुप रहा अतः!

बोले क्रुद्ध जुगनू
सौ-सौ आँखें तरेर,
हम अंश तुम्हारे?
बचारे छायाप्रभ स्फुलिंग
तम से भी हारे?

अहंवीर, आलोक-हीर हम,
भव तम सकते तुरत चीर हम;
आत्मदीप, मणि ज्योति द्वीप,
निशि-तम प्रवाह में अडिग,
धीर हम!

जाओ, जाओ,
हट जाओ,
तुम व्यर्थ न दर्प दिखाओ!
हमें तुम्हारी
तनिक नहीं परवाह,
तुम दिन के,
तो, हम निशीथ के
ज्योतिवाह!

सूर्य अस्त हो गया,
सुनहली द्वाभा बरसा,
सन्ध्या उर में
सूर्य सो गया!

हँसे ठहाका मार
तुरत जुट
झुटपुट में पटबीजन!...

निशि पथ निर्जन,
तिमिर वन गहन,
निकल पड़े दल बाँध
कूप-नीडों से अपने
थोथे सपने!

लगे नाचने घूम - घूम सब
युग-भू तम में झूम - झूम अब,
तड़प, उगलने लगे प्रकाश
धरा आँगन में !

काले तिमिर-कोयले पर
बैठे चिनगारी की
तितली-से,
उसको सुलगाने को
आशान्वित
निज मन में !

चटुल स्फुलिंगों का हो जंगल
ज्योति-बिन्दु खद्योतों का दल,—

अन्धकार आँखों का बहरा
होता गया और भी गहरा,
और, और भी गहरा—

खद्योतों का युग जो ठहरा,
युग जो खद्योतों का ठहरा !

धरती

जन कर-स्पर्शों को ठहरी मैं, नव जीवन में होने पुलकित,
मा धरती, रज-प्रतिमा, जिसमें इतिहास जीव-जग का गर्भित !

मैं ठण्डी सूर्य,—मयूख जाल रज रोम-कणों में अन्तर्हित,
पी आत्म ज्योति, आनन्द मूक, मैं जीवन-पीठ बनी विकसित !

मैं मनुज देह हूँ—सूक्ष्म स्नायु, जो स्वर्णिम भाव-विभव पोषित,
दास्यों से पशुओं, मनुजों तक भव एक सृजन सुख से प्रेरित !

मैं मृद् प्रतिमा ही नहीं,—विहग बन, उड़ती विस्तृत अम्बर में,
यह धरा चेतना—वितरित जो, जगती के निखिल चराचर में !

मुझमें हँसते फूलों के पल, मुरझाता चेतन स्पन्द-रहित,
मैं जन्म-मृत्यु के पलने में जीवन तारुण्य झुलाती नित !

मैं मानवीय बन सकूँ—वन्य युग-बर्बरता से उठ ऊपर,
मनुजों को ही सौंपा मैंने, जीवन-विकास दायित्व अमर !

शशि मंगल मेरे पथ सहचर, नर उनसे हों कि न हों परिचित,
जन-भू जीवन-मंगल उनको, सबसे पहिले करना अर्जित !

पुरुषार्थ अजेय मनुज सम्बल, उर लोक-प्रेम को कर अर्पित,
राष्ट्रों में बिखरी युग-भू पर, नव मनुष्यत्व करना स्थापित !

भारत भू

यह शतियों की शोषित धरती, जो जनगण की भारत माता,
बड़ा सदय औ' बड़ा निष्करुण इसके सँग अह, रहा विधाता !

मृत-निशा में ज्योति-दिशा पा, इसने परम तत्व पहचाना,
मृत्यु-सिन्धु तिर, अमृत पुरुष का पाया शाश्वत ठौर-ठिकाना !
कहाँ रुक गया इस भू का मन, धरती से उठ गये चरण क्यों ?
परम तत्व से ज्योति अन्ध हो, शून्य ब्रह्म का किया वरण क्यों ?

सहज दृष्टि खो गयी हृदय की तर्कों मतवादों से जर्जर,
खड़ा रहा देखता सामने खिसियाया-सा जीवन - ईश्वर !
छील-छील तन-मन प्राणों का, ब्रह्म-समस, जो आत्मा पाया,
उसको लेकर मन जन-भू पर हाय, न पुनः लौटकर आया !!
जो अखण्ड सित सत्य, हुआ वह जगत्-ब्रह्म में द्विधा विभाजित,
रहा उपेक्षित विद्वान्धों से सृष्टि-तत्व वरदान अयाचित !

चिन्मय हुआ हृदय, पर वह क्या जगदात्मा में भी रस-तन्मय ?
जगत्-अयस को बना सका क्या प्रेम स्पर्शमणि से सुवर्णमय ?
मुक्तात्माएँ खद्योतो-सी भू-तम कर पायी न प्रकाशित,
रहा अपरिचित जीवित भास्कर, जन भू-जीवन में जो प्रसरित !
हुआ सृजन-सुख में भी रत क्या विमन, रसो वै सः का द्रष्टा ?
धिक् वह सत्य-बोध-असि, जिसने खण्डित किये सृष्टि औ' स्रष्टा !

शत सहस्र जन-कर-पद से कर जग-निवास ईश्वर को विरहित,
अमृत-शक्ति के अमित स्रोत से किया लोक-जीवन को वंचित !
अह, कब से यह भूमि पड़ी है तन-मन जीवन से क्षत-विक्षत,
खड़ा पीठ पर पद-नत जन के दारिद्र्यों का दुःसह पर्वत !
जीवन-मृत भू के नारी-नर रूढ़ि रीतियों के जड़ पंजर,
पथराये जन ग्राम, विकृत अनुकृति विदेशियों की हत नागर !

पक्षपात पीडित समाज को देख विवश आँखें आती भर,
लगता अमरों की जन-भू का स्थाणु ब्रह्म ही स्वतः गया मर !!

पुनः खुल रहे मुँदे हृदय-दृग, मन समग्र के करता दर्शन,
प्राण-शिराओं मे फिर गाता नव जीवन शोणित भर स्पन्दन !
ज्योति-तमस आलिंगन भरते, माया-ब्रह्म प्रीति-संयोजित,
धरा धूलि से उगता ईश्वर भाव शस्य सम्पद् बन विकसित !

बहिर्मुखी भौतिक भू-तम को अन्तर्दृष्टि प्रकाश दान कर
शिव-समाधि से जगता भारत, युग-भू-संकट गरल पान कर !
अमृत तत्व अन्वेषी भू, इसको प्रणाम, यह कब निःसम्बल,
भू जीवन प्रेरणा ही अमृत—जो जन-मन में भरती नव बल !

भारत गीत

जय भारत, जय स्वदेश !
जगी जहाँ सत्य ज्योति,
जगा दीप्त नवोन्मेष !

प्रथम सूर्य - दृग प्रभात
हँसा अमर रश्मि स्नात,
बँधे निखिल सचराचर
प्रीति-पाश में अशेष !

आत्म शक्ति में अजेय,
विश्व शान्ति परम ध्येय,
कर्म-तरुण, भक्ति-प्रौढ़,
ज्ञान-वृद्ध भू विशेष !

तम से पर जो प्रकाश,
जन-उर उसका निवास,
हृदय ध्यान - बोध मग्न,
पलक मौन निर्निमेष !

छाया दिग् - धूम ह्रास,
रुद्ध अब मनुज विकास,
शिविरों में बँटा विश्व,
युद्ध-नद्ध राग-द्वेष !

देख शत्रु बल - प्रमाद
करती भू सिंह नाद,
शौर्य वीर्य में अदम्य,
सजते सुत वीर वेश !
जय भारत !

जय गीत

जय भारत माता,
जयति ज्योति-स्नाता !
शान्ति ध्वजा-सा शुभ्र हिमालय
नभ में फहराता !

सुरधनु से घन-कवरी मण्डित,
शरद-कला मस्तक पर शोभित,
शस्य हरित, मलयानिल सुरभित,
आँचल लहराता !

मनःशिराओं में, तप-दीपित,
ऋषि-मुनियों का बहता शोणित,
आत्म तेजमयि, पद नत सागर
गुण गरिमा गाता !

विश्वप्रेम, करुणा - ममतामयि,
शक्ति - पीठ, जीवन-क्षमतामयि,
सिंह वाहिनी, दुष्ट दमन हित,
चण्डी विख्याता !

अभये, अरि-उर भय से थर-थर,
अजये, बलभृत कोटि बाहु-कर,
मंगल ज्योति, अमंगल हारिणि,
जग जननी त्राता !

आक्रोश

अणु विनाश होने को भू पर
प्रकृति शक्तियाँ गाती जय,
मनुज-इतर धरती के प्राणी
हँसते,—मन में भय विस्मय !
सुनता मैं डमरु-ध्वनि नभ में,
मरुत छेड़ते तूर्य - स्वन,
अग्नि जीभ चटकार रही, लो,
नाच रही लहरें शत फन !
कौन मरेगा ? युग भू की
क्षुद्रता, मनुज मन का तम-भ्रम,
त्वक् स्पर्शी सभ्यता मरेगी,
प्रलय सृजन ही का उपक्रम !

घृणा-द्वेष, अवसाद मिटेंगे
दर्प, शक्तिमद, संघर्षण,
शेष आज क्या सभ्य जगत् में ?—
घोर ह्रास कुण्ठा विघटन !
यदि प्रबुद्ध होता भू मानव
मनुष्यत्व से अभिषेकित
वह अणु उद्जन अस्त्र बनाता
महानाश से अभिप्रेरित ?
यदि संस्कृत होता, असंख्य क्या
पशु - जीवन करते यापन ?
दारिद्र्यों के भूखे पंजर
विवश बिताते दारुण क्षण ?
क्या कुरूप होता जन-भू मुख ?
कर्दम सना मनुज प्रांगण ?
लोक-रक्त के प्यासे करते
जन का तन मन धन शोषण ?
भौतिकता के लौह-मंच पर
युग दानव करता ताण्डव ?
क्रान्ति नहीं यह प्रगति नहीं—
अब जीवित कहाँ रहा मानव !!

मैं सित प्रकृति पुरुष का प्रेमी
अमृत प्रेम के जो अवयव,
नव मानवता में हो मूर्तित
युगल हृदय का रस वैभव!

युध्यस्व विगतज्वरः

आओ, उधर चलें,
मानवता का सूर्योदय
जहाँ नहीं हो सका अभी!—
घन अन्धकार की सीमाओं पर,
अहंकार के आरोहों पर!

मृत्यु खोह-सा मुँह बाये,
नथुने फैलाये,
तोपें जहाँ गरजतीं
दैत्यों-सी दहाड़कर!
ज्योति पुत्र जूझते निडर
नेत्रान्ध तमस से!

रक्त स्नान कर रही धरा,
नभ आग उगलता,—
आँधी बिजली कौंध रहीं
काला प्रकाश भर!
लोहे के निर्मम पद
रौंद रहे करुणा का
सौम्य वक्ष
ताण्डव प्रहार कर!

स्वप्न पलक
नव आशाऽकांक्षा की
कलियों को
कुचल रहे भू-दानव प्रतिपग,
विस्फोटों की
क्रूर वृष्टि कर!
देख रहीं जो कलियाँ
स्मित अनिमेष दृगों से
नव मानवता का मुख
प्राण-हरित गुण्ठन से!

मत रो, मृत युग सन्ध्याओ,
मत रो, रण खेतो!
मत रो, खलियानो,
मत रो, जीवन की ममते!—

यदि अरुणोदय को
ढँक लेता—लौह कपाट
नरक का भय-तम !
यह भी निश्चय
ईश्वर ही की
वरद कृपा है !
यह निःसंशय
जगदीश्वर ही की
महिमा है !—
युद्ध कर रहा जो
प्रकाश-धनु ले निज कर में,
चित् पावक शर बरसा
तमचर युग दानव पर !—
यह सचमुच ही
ईश्वर की
निःसीम दया है !

कौन भूत ये
कौन प्रेत ?
किन संस्कारों के
कटु कर्दम में पोषित
रेंग रहे युग-भू पर !
सर्पों-से गुम्फित,
सहस्र स्वर
फूत्कार भर
छा लेते जो
मुख दिगन्त का !

महासमर की तैयारी यह,
एक ओर भी महासमर की,—
मनुष्यत्व का महासमर जो—
करवट बदल रहा इतिहास
क्षितिज के तम को
रक्त - स्नात कर !
सभी युद्ध संघर्ष
एक उस महासमर के
अंश. मात्र हैं,—
मानवता का महासमर जो !
मनुष्यत्व को स्थापित करना
जन धरणी के
कर्दम किल्विष के प्रांगण पर !

अतः लड़ो,
रो नहीं, अहन्ते,
व्यक्ति व्यथे,
विगतज्वर होकर
युद्ध करो—
निर्भय होकर
भव युद्ध करो,
नव भू जीवन,
नव जन मानव हित !

मनुष्यत्व के संग ही, निश्चय,
विश्व शान्ति
स्थापित हो सकती,
सृजन शान्ति
अर्जित हो सकती,
इस पृथ्वी पर !
तस्मात् युध्यस्व
भारत !

सूर्यास्त

कहते, सूरज अस्त हो गया !
सूरज कभी न उदय-अस्त होता
प्रिय बच्चो,
उसका उदय अनन्त उदय है !—
नये-नये अरुणोदय लाता
जो भू-पथ पर—
नयी सुनहली किरण बखेर
नये क्षितिजों में !

सूरज अस्त नहीं होता है,
महापुरुष भी कभी नहीं मरते
प्रिय बच्चो,
मृत्यु द्वार कर पार
अमर बन जाते हैं वे,
और, युगों तक जीवित रहते
जनगण मन में !
मृत्यु गुहा के अन्धकार का
द्वार पार कर
अगणित सूर्यों का यह कौन
सूर्य हँसता अब
भारत के आकाश-दीप में—

युग जीवन का नव प्रभात ला
भू-आँगन पर !
उदित हुआ स्वातन्त्र्य सूर्य नव
स्वर्णिम किरणों का जगमग
टँग गया चँदोवा
नील मुक्ति पर !
नव जीवन आकांक्षा की
स्वर्गिक लपटों से
तेजोज्वल अभिषेक हो रहा
तरुण अमर भारत आत्मा का,
शोभित जो फिर
भू जन मन के सिंहासन पर !
अग्नि बीज बो रहा तिग्म
नव युग का सूरज—
ज्वाल पंख फिर नये प्ररोह
उगें जन-भू पर,
मानवता के स्वर्ण शस्य से
हँसें दिशाएँ !
नया ऐतिहासिक अरुणोदय है
यह बच्चो,
घूम रहा वह अमृत सूर्य
अविराम धुरी पर
नव प्रकाश के घट उड़ेलता—
परिक्रमा करती जन-धरणी
ज्योति स्नात हो !
ओ गीता गौतम गांधी की
भू के बच्चो,
नव प्रकाश की किरणों के
मणि-स्तवक सँजोकर
भेंट करो

इन गुलदस्तों को
तुम जन-जन को—
कभी न मुरझाने के ये
फूलों के गुच्छे—
इनसे मन का कक्ष सँवारो !
आत्म त्याग की अमर मृत्यु से
डरो नहीं तुम,
जियो देश के हित मर मिटकर !
वह अमरत्व भरी तन की रज
बरस रही अब

चिद् अम्बर से
धरा धूलि पर—
गिरि शिखरों, सर सरिताओं
सागर लहरों से,
खेल रही वह—
लोट रही
भू के खेतों में,
नयी फसल बनने,
नर-रत्नों की पीढ़ी को
नया जन्म देने को !—

नव आशा उल्लास, नयी शोभा सम्पद् की
जीवन हरियाली मे,
अक्षय शौर्य वीर्य की
मरकत मंजरियों में
फिर-फिर मुसकाने को !

मृत्यु-अन्ध भय की खोहों को
आलोकित कर
एक समूचे कर्म जागरित
लोक राष्ट्र की
आत्मा का रस सूर्य
सास्कृतिक स्वर्णोदय बन
उदित हो रहा
अस्त कर तमस !
मृत्यु सिन्धु को तिर
मानवता का प्रकाश नव
उतर रहा
जन-भू जीवन के
मंगल-तट पर !

उसके मस्तक को छू
हिमगिरि ऊँचा लगता,
उसकी पद रज धो
सागर जल पावन बनता;
उसकी बाँहें
निखिल दिशाओं को समेटती—
उसका मानस
विश्व मनस बन
नव जीवन में मुखरित होता !

जन्म मृत्यु भीतो है,
अविनश्वर आत्मा का

सित स्फुलिंग बुझता रहता
फिर-फिर जल उठते !

आकाशों की ऊँचाई में
अन्तरिक्ष के विस्तारों में
मनुज हृदय की
गहराइयाँ उडेल
निरन्तर

शान्ति सूर्य वह
भू को स्वर्णिम पंखों की
छाया में लिपटा
नव जीवन सन्देश दे रहा
निखिल विश्व को !

ताल ठोंकता रण दानव
युग शृंग पर खड़ा—
भौतिक युग का पशु
लोहे के पंजे फैला
बिजली की टाँगों पर दौड़
दहाड़ रहा है,
हिंसा-लोहित मुखड़े से
कटु अट्टहास भर—
अणु बम का मोदक दबोच
बायीं मुट्ठी में !

सावधान, आनेवाली पीढ़ी के बच्चो,
सावधान, भारत के युवको,
राष्ट्रशक्ति के जीवन - स्तम्भो,
आज तुम्हारे ही कन्धों पर
लेटा है वह अमृत पुरुष
द्यावापृथ्वी तक—
ध्यान-मग्न गौतम समाधि में !

योग्य बनो तुम,
वहन कर सको साहस से
दायित्व देश का,
नये राष्ट्र का,
नये विश्व,
नव मनुष्यत्व का !

सम्भ्रान्त स्मृति

अनुपस्थिति में भी
अनुभव करता जनगण मन
एक उपस्थिति अब भी

अपने बाहर-भीतर !—
शान्त, सौम्य,
चिन्मौन, अगोचर !

कोई ज्यों
नीरव रहस्यमय इंगित करके
पथ निर्देशन करता हो
जन का—अदृश्य रह !
एक हाथ उठ
लिखता हो ज्योतिर्मय अक्षर
जीवन की
अनबूझ समस्याएँ सुलझाने,—
बढ़ काल-करतल की
गोपन रेखाएँ पढ़ !

कैसा बीता एक वर्ष, अह,
दारुण सुन्दर !
भूमि कम्प-सा
दौड़ रहा रोमांच हृदय में···
जिसे स्मरण कर !

समाधिस्थ बैठा युग
ज्वालामुखी शिखर पर !
दुर्निवार कुछ रुका हुआ
प्रतिपल के पीछे—
पद-चापों की आहट सुन
बढ़ने को आतुर !

उन्नत सिर अब भी हिमाद्रि,
पद धोता सागर,—
घिरा शत्रुदल से
बल संचय करता भारत;
काँटों की झाड़ी में खिल
हँसमुख गुलाब-सा,—
खोंस गये जिसको स्मृति में
आदर्श बना तुम—
शोभा के शाश्वत वसन्त से
हृदय मोहने !

पुनः ग्रीष्म आया,
लौटा सन्ताप हरा हो !
लोट रहे अन्धड भू रज पर,
अन्ध बवण्डर
ढँकते फिर नभ का मुख,
मारुत-अश्वों पर चढ़ !

किन्तु, धूलि के पर्वत को
निर्भीक लाँघ कर
एक शिखर-आकृति जगती
मन के नयनों में;—

धरा धूलि में मिला
तुम्हारे प्राणों का बल
जैसे, फिर साकार हो उठा हो
कण कण में!

गंगा लहरों से प्रतिक्षण
सित अंगुलि उठ कर
संचालन करती हो अब भी
भू जन का पथ,
हे जनगण मन के
अधिनायक!

घोर ह्रास विघटन के
भय संशय के युग में
अनाचार की बाढ़ रोकने
अन्धकार का पाट चीरकर
ज्योति-तीर दिखलाती
निर्मय—लोक यान को,
निखिल विश्व मंगल से प्रेरित!

निज अक्षय आत्मा की
आभा से दिङ् मण्डित,
सतत उपस्थित
मनोजगत् में,
तुम्हें नमन
करता नत जन-मन,
प्रणत,
शत नमन!

हेनरी के प्रति

सिद्ध वीलियम फॉकनर - जैसे कलाकार ने
जिसकी आकृति चुनी, तूलिका के जादू से
जन मन पर अंकित करने, निज स्वप्न कक्ष में,—
कौन भाग्यशाली हेनरी वह? कोई विश्रुत
भूपति, कोई सन्त, महात्मा, शूरवीर या
विश्व विदित कवि अथवा जन-प्रिय जन अधिनायक?—
विस्मय मूढ़ रहा अन्तर, अनिमेष दृगों से
चित्र देखकर भाव-स्तब्ध हेनरी का अद्भुत!

सहसा मन ने कहा, नहीं, यह अश्रुत हेनरी
इन महानताओं से कहीं अधिक महान है !
मुग्ध कल्पना की आँखों के सम्मुख तत्क्षण
एक नया ही क्षितिज खुल गया मानवता का—
साधारणता जहाँ असाधारण लगती थी !
गत जीवन इतिहास - मंच की क्षुद्र यवनिका
अपने आप सिमटकर अन्तर्धान हो गयी !
और, सहस्रों हेनरी, वन फूलों - से उगकर,
तारों-से खिल झिलमिल, हँसने लगे भीड़ में !

ज्यों समुद्र की बूँदों का अस्तित्व न होता
अपना, या व्यक्तित्व ही निजी,—वे सब केवल
सागर कहलातीं, तुम भी महिमा गरिमा से
वंचित, अपनेपन ही में ओझल, अनजाने,
जगती के अस्तित्व के लिए अति महत्वमय
उपादान हो, हेनरी, इसमें मुझे न संशय !

सरिता का थोड़ा ही सा जल फल फूलों के
मूल सींचता, या पथिकों की प्यास बुझाता,
शेष अकूल अथाह प्रवाह अनन्त काल के
छोर - हीन पुलिनों में बहकर मुक्त निरन्तर
सरिता को सरिता अविराम बनाये रहता !—
तुम भी अपनी राशि - राशि साधारणता से
सृष्टि चक्र का गतिक्रम जीवित रखते अविरत !

हे रहस्यमय, किस अज्ञात कुल गोत्र वंश में
जनमे तुम ? इतिहास न जिसका भेद बताता,
या दर्शन ही मूल्य न जिसका आँक सका है !
कौन वस्तु तुम ? कौन सत्य ? जग की समष्टि को
जो नित जीवन - गौरव देते मूर्त, अखण्डित !

धन्य भाग्य वह जननी, जिसकी पुण्य - कोख ने
जन्म दिया तुमको, आकुल हो अंक लगाया;
कितनी महती आशा, चिर अभिलाषा तुम पर
केन्द्रित कर वह, लोरी गा-गाकर सुख-तन्मय,
नव जीवन पलने में रही झुलाती तुमको !
भले नहीं जग आँक सका हो मूल्य तुम्हारा,
किन्तु, हृदय की स्नेह - कसौटी में स्वर्णांकित
मूल्य तुम्हारा सर्वोपरि था माँ के मन में !

घास-पात, वन वृक्षों के सँग बढ़कर तुम नित
भू - अंचल को जीवन - मांसल रहे बनाते,
जग के दुख से द्रवित, मौन करुणा - ममता के
ध्रुव प्रतीक-से, तुम निश्छल मानव आत्मा के
प्रतिनिधि बन अज्ञात, अपरिचित, तुच्छ उपेक्षित,
जाने अपनी किस निगूढ़ सत्ता से, उर की

जीव - सुलभ समव्यथा शक्ति से जन-जीवन को
करते रहे प्रभावित सूक्ष्म अदृश्य रूप से !
विश्व सभ्यता के विकास को जीवित रखने
उसके रथ चक्रों से मर्दित हो प्रसन्न मन !

शिक्षित संस्कृत सभ्य जनों से कहीं श्रेष्ठ तुम,
जिसके उर को दया क्षमा ममता का स्पन्दन
प्रेरित करता रहता, गूढ़ नियम संचालित,
जिसका मन न विषाक्त विश्व-वादों में खण्डित
आत्म त्याग ही ध्येय सहज जिसके जीवन का !

परवश, कातर, अति नगण्य,—निजप्राण शक्ति से
जगत-सिन्धु को रखते तुम जीवन आन्दोलित;
हेनरी, आस्था के अदृश्य दृढ़ सूत्र में बँधे
तुम निश्चय निज दुर्बलता में भी अजेय हो !

नष्ट भले हो जाय विश्व-सभ्यता मनुज के
किसी पाप से—किन्तु अमर, अक्षय, पावन तुम
दग्ध धरा से हरी दूब - से उग फिर कोमल,
शील-नम्र, नत सिर, ईश्वर की अमृत सृष्टि को
जीवन का उपहार नवल दोगे स्मिति - स्वर्णिम,
नव प्रभात की दिव्य प्रतीक्षा में रत अपलक !

ध्वंस शक्तियाँ कार्य कर रहीं जिस युग-भू पर
जहाँ ह्रास-विघटन का तम छाया दिग् भ्रामक,
उसमें तुम अपनी सहृदय असाधारणता से
विश्व शान्ति के, लोक प्रीति के सौम्य दूत-से
आश्वासन देते जग को अज्ञात रूप से !
नहीं जानता, नव जीवन रचना को उत्सुक
हिंस्र धरा कब सहज बन सकेगी मनुजोचित !

प्रिय हेनरी, निज मौन उपस्थिति से तुम अविचल
जग को रहने योग्य बनाते हो निःसंशय !

कौन तुम्हारे लिए बना सकता प्रिय स्मारक ?
स्मारक हो तुम स्वयं महाजीवनी शक्ति के,
मानव की क्षमता के, प्रभु की सित ममता के,
लघु से लघु, अति महत् से महत्—अवचनीय तुम !

नयी आस्था

डार्विन के ये मित्र
एक पादरी महोदय !—
चिन्तित रहते जो उसके
आत्मिक मंगल हित !

और सोचते,
कैसे पश्चाताप रहित

प्रभु करुणा वंचित
नास्तिक आत्मा को
मरने पर शान्ति मिलेगी--
पापों के स्वीकरण बिना !
वे प्रायः आकर
डार्विन को उपदेश दिया करते,
समझाते,—सखे, चार्ल्स,
मुझको महान् दुख,
तुम प्रसिद्ध विद्वान्
सुज्ञ अन्वेषक होकर
ईश्वर के प्रति विमुख,
धर्म आस्था से विरहित !!
कैसे होगा पापों से उद्धार
आत्म कल्याण तुम्हारा ?
डार्विन बात टालते रहते,
हँसकर कहते,—
पोप महोदय,
मुझको नहीं धर्म पर आस्था,
सच है,—
पर वैज्ञानिक आस्था
मुझमें सित जीवनी - शक्ति प्रति—
सर्व शक्तिमयि जो
असंख्य जीवों की पर्वत,—
धरा - स्वर्ग के दिव्य स्वप्न-सी
जो विकास पथ पर प्रतिदिन
मेरे मन की आँखों के सम्मुख !
पोप लौट पड़ते निराश हो !
डार्विन की अटपटी
अधार्मिक बातें सुनकर !
और, एक दिन
जब प्रातःवन्दना शेष कर
दैनिक पत्र उन्होंने देखा—
छपा प्रथम ही पृष्ठ पर मिला
समाचार प्रिय डार्विन के
देहावसान का !
दया द्रवित हो उठा तुरत
पितृ हृदय पोप का,—
शोकपूर्ण वह समाचार पढ़ !
वे व्याकुल हो
झुके प्रार्थना करने नत सिर
प्रेतात्मा की शान्ति के लिए !

दिन - भर
सहृदय पोप चित्त में रहे समव्यथित !
पुनः साँझ को प्रणत प्रार्थना कर
डार्विन की आत्मशान्ति हित,
भारी मन ले
लेटे वे सूनी शय्या पर
बार-बार करवटें बदलते !
अर्ध रात्रि के बाद नींद में
उन्हें स्वप्न जो आया—उससे
हृदय-नेत्र खुल गये पोप के !
देखा,
सुहृद् चार्ल्स के मंगल से प्रेरित वे
उसकी आत्मा की रक्षा हित
नरक लोक में भी प्रयाण करने को उद्यत—
निकट रेल स्टेशन पर जाकर
टिकट ले रहे स्वयं विकट सातवें नरक का !—
और, टिकट विक्रेता
देख रहा विस्मय से
मान्य धर्म गुरु वृद्ध पोप को
लेते टिकट नरक का दारुण !
वे चुपचाप
बिना कुछ मन का भेद बताये
बैठ गये शापित गाड़ी में—
जोकि पापियों, अभिशप्तों को
महानरक पथ पर धकेलती !
प्रथम नरक का स्टेशन आया,—
चीख रहे थे जन के दुष्कृत
दण्डित होकर,—
दारुण चीत्कारों से
कान फटे जाते थे !
नरक दूसरा आया—
लोहे के पहियों से
पिसते कटु निर्ममता से
आहत पापी जन,
नदियाँ बहती तिक्त रक्त की !
नरक तीसरा—
तप्त शलाकाओं से
छेदे जाते थे तन
भूख प्यास के मारे
दारुण दुरित - ताप में
तड़प रहे थे दुष्ट पातकी !

धार्मिक कट्टरता की कटुता
मूर्तिमान थी नरक रूप धर !

इस प्रकार,
रोमांचक दृश्यों से आतंकित
पहुँच सके जब पोप छठे दयनीय नरक में—
वे अधमरे हो चुके थे तब
नारकीय भीषणता से
मर्दित मूर्छित हो !

गन्धक के पर्वत जलते थे
छठे नरक में—
घोर घृणित दुर्गन्ध वायुओं में थी फैली !
सड़े मांस के अम्बारों से
गलित पीप की नदियाँ बहती
माखन-सी ही गीली पीली !

काले कल्मष के
मोटे चमड़े-से बादल
छाये थे—
बिजली के पैने दाँत किटकिटाते
गिद्धों-से झपट रहे थे
जो दुष्कृत्यों के जीवन-मृत खल प्रेतों पर !

किसी तरह
इस त्रस्त भयंकरता से स्तम्भित
गाडी आगे बढी
सातवें अन्ध नरक को !

सोच रहे थे पोप चित्त में
वहाँ पहुँचने से पहले ही प्राण पखेरू
उड़ जाएँगे स्वर्ग लोक को, निश्चय !

हाय, मित्र डार्विन की
आत्मा भी तो अब तक
नष्ट हो चुकी होगी
अन्धकार में सन, विघटित हो !

व्यर्थ मोह में पड़कर मैंने
नारकीय दुर्दृश्यों का
दारुण दुख झेला !
किन्तु ट्रेन अब ज्यों-ज्यों
लौह-पटरियों पर चल
आगे बढ़ती गयी—
नरक का दृश्य स्वर्ग में लगा बदलने !
चकित स्तब्ध हो मन में
पोप विचारने लगे !—

कहीं सुकृत्यों से बहु मेरे
दया द्रवित हो
प्रभु ने मोड न दिया यान हो
देव मार्ग को !
और, स्वर्ग में पहुँच रहा हूँ
मैं सदेह अब !
धन्य, परम पातकहारी
श्री प्रभु की करुणा !

इसी समय वे पहुँच गये
सातवें नरक में !
विस्मय से अभिभूत
उतर गाड़ी से तत्क्षण
पोप देखने लगे मुग्ध दृग
नरक लोक की श्री सुषमा, जीवन गरिमा को !
नन्दन वन का दृश्य
दिखायी दिया सामने !
सुमनों की स्वर्गिक सौरभ उड़
नासापुट में घुस मन को मोहित करती थी !
स्थान-स्थान पर
स्थापित थी डार्विन की प्रतिमा !

पूछा अति आश्चर्य चकित
करुणार्द्र पोप ने—
'कौन स्थान यह ? स्वर्ग लोक क्या ?'
बोला नम्र स्वयं सेवक,
'जी, यही नया वह स्वर्ग लोक,
जिसके स्रष्टा
पतितों के सेवक प्रिय डार्विन हैं !'
'डार्विन ? कौन, चार्ल्स डार्विन ?
वह···वह···'
'जी हाँ, वे ही, जैविक वैज्ञानिक डार्विन !'—
उनको हतप्रभ देख, मुस्कुरा बोला सेवक !
विस्मय मथित, पोप ने पूछा,
क्या मैं मिल सकता हूँ उनसे ?'
'जी, अवश्य,—सबके हित उनके द्वार खुले हैं !'

डार्विन उन्हें देखकर उछला,
हाथ मिलाया बन्धु पोप से,
गले लगाया सहज स्नेह से—
और, उन्हें विस्मय विमूढ पाकर
वह बोला,—
'कैसे तुम आ गये मित्र,
सातवें नरक मे ?···

मुझसे मिलने ?—
धन्य भाग हैं !

'जब मैं पहुँचा यहाँ
असूर्य लोक में भीषण—
अन्ध तमस था छाया चारों ओर !...
पाप के भार से दबे
रेंग रहे थे कृमियों-से मृतजन कर्दम में, —
मन का बोझ असह्य घृणित था !

यहाँ न कहीं वनस्पति थे,
या हरित शस्य ही—
नगर नहीं, पथ नहीं, गृह नहीं,—
अन्धकार के नभ के नीचे
प्राणहीन ठण्डी हिम-धरती
पड़ी चेतना शून्य—महातन्द्रा में मूर्च्छित !

मैंने शनैः निरीक्षण किया
निखिल प्रदेश का—मन की आँखों से !
चिन्तन-रत बुद्धि ने कहा,—
घबड़ाओ मत,
और अध्ययन मनन करो !

क्या भूल गये तुम क्रम-विकास सिद्धान्त
नरक भय से विमूढ़ हो ?—
जिसके तुम अनुसन्धाता थे
मनुज धरा पर !

वैज्ञानिक का साहस
पुनः बटोरो मन में !
व्यापक सूक्ष्म दृष्टि से देखो
क्रम - विकास को !

वह जैविक ही नहीं
विश्व मन की आध्यात्मिक
पूर्ण प्रगति का भी द्योतक है !

क्षुद्र नरक ही तो प्रारूप
महान् स्वर्ग का !—
जो विकास पथ पर अब अविरत
भू जीवन में !

नरक अचेतन अंश धरा का—
उठो, संगठित करो शवों को,
वे मृत नहीं, भावना-मृत हैं !
उन्हें कर्म चेतना दो नयी
प्रगति मूल्य दो,

अन्धकार का करो
ज्योति मे नव रूपान्तर !
मानव ही तो प्रतिनिधि
भू पथ पर ईश्वर का !
बन्धु, देखते जैसा तुम अब,
धीरे,
अन्तर के प्रकाश से संचालित हो,
वैज्ञानिक श्रम को दे
सृजन दिशा विकास की,
यह निश्चेतन नरक
नये चैतन्य स्वर्ग में
सित परिणत हो सका—
मुक्त धार्मिक पापो से !

इधर पोप को
मित्र चार्ल्स की बातें सुनकर
नही हो रहा था विश्वास
श्रवण - नयनों पर !—

स्वप्न जगत् में चौक
सत्य के नव प्रभात में
सहसा उनकी आँख खुल गयी !

पुरुषोत्तम राम

पुरुषोत्तम राम

राम, आप क्या केवल तुलसी ही के प्रभु है,—
रामायण या विनयपत्रिका तक ही सीमित?
सच है, जनगण सेवक तुलसी, और आप
जन-मन अधिनायक, स्वामी, सखा, सहायक सबके!
ऐसा शब्दों का शिल्पी, तत्वों का शोधक,
भारतीयता का पोषक, जन-मन उद्बोधक,
रस-असि साधक, लोक काव्य का कुशल विधायक,
राम नाम सूर्योद्घोषक, द्रष्टा, स्रष्टा कवि
अन्य नहीं दीखता बृहद् हिन्दी वाङ्मय में!

चार शती तक जिसने पराधीन धरती के
जन-मन को दी भाव दृष्टि, नव-जीवन पद्धति,
आत्मबोध, संस्कृत मर्यादा, कर्म प्रेरणा,
दुख दारिद्र्य, अविद्या, भय के खल पाटों से
पीड़ित, मर्दित, खण्डित जन को, भंगुर जग में,
दी अजेय आस्था ईश्वर पर—राम नाम पर!

मर्यादा पुरुषोत्तम, करुणा सिन्धु राम जो,
परम, पतित जन पावन,—जिनका नाम मात्र ही
स्वर्ग-मुक्ति सोपान अखण्ड, राम से बढ़कर!
'उलटा नाम जपत जगु जाना', कहते तुलसी
'बालमीकि भे ब्रह्म समाना!'—परम मन्त्र बल!
मध्ययुगों की पृष्ठभूमि में तुम्हें चीन्हकर
जन मन-सिंहासन पर वे कर गये प्रतिष्ठित
भक्ति विनय, श्रद्धा आस्था, अनुराग त्याग से,—
प्रभु पद पद्मों पर हो पूर्ण निछावर, निश्छल
तन्मयता से! ···किन्तु, साथ ही, जन जीवन को
जकड़ गये यदि रूढ़ि रीति, जड परम्परा के
लौह नियति शृंखल में वे, तो करते भी क्या?

दुर्निवार सीमाएँ थी गत भू-स्थितियों की,
काल हो गया था स्तम्भित स्थिर, उनके युग में,
बिखरे दिशा-विभव का संचय ही सम्भव था!
उन-सा तन्मय भक्त और क्या होगा कोई?
रोम-रोम हँस राम-राम रटता था जिनका!
कृतघ्नता होगी, ऐसे जन मंगल कामी
कवि को हार्दिक श्रद्धा नहीं समर्पित करना!

कैसी भक्ति रही वह ! जन-मन प्रभु चरणों पर
प्रणत, गिड़गिड़ाता शतियों तक रहा निरन्तर !—
प्रभु न हुए, विजयी सामन्ती भूपति कोई
घिरा चाटुकारों से जय जयकार मनाता !

कवे, सूत्र मानव में छोड़ गये अनजाने
आप, भक्ति आवेश द्रवित हो,—पापों के घट
नाम मात्र से पावन बन, भू जीवन पथ पर
बँध न सके व्यापक सामाजिक सदाचरण में,—
आत्ममुक्ति हित राम नाम रटते जिह्वा पर !
दुरुपयोग ही हुआ दया का दयासिन्धु की,
युक्त न हो वह सत्य-सिन्धु की सत्य-दृष्टि से !

रामचरितमानस से अधिक चाहिए जन को
रामचरित की जीवन-भू अब; आत्मा का ही
आँगन ऊर्ध्वमुखी जप-तप से बने न पावन,
भू-जीवन के स्तर पर भी संगठित हो सके
समदिक् आध्यात्मिकता, सामूहिक मंगल हित—
मिटे क्षुद्र दारिद्र्य हृदय मन तन जीवन का !
माया मिथ्या रहे न जग, जीवन-ईश्वर के
इन्द्रिय आत्मिक, व्यक्ति विश्व रूपों में कृत्रिम
रहे विरोध न; सुलभ अखण्ड सत्य हो जन को
पा समग्र चिद् दृष्टि जगत् जीवन विधान में !

रामायण का पाठ और काला क्रय विक्रय ?
जन घातक अघ कर्म, आत्म-मंगल की आशा ?
सामूहिक सदसत् चेतना अभाव व्यक्ति में ?
कैसे सम्भव हुआ ?—छिन्न कर दी हत आत्मा
जीवन से, मन से, जग से,—इन्द्रिय-प्राणों के
वैभव के स्तर छील निखिल मानव-ईश्वर से !

भू जीवन निर्माण प्रेरणा मिली न जन को,
स्वर्ग मुक्ति की चिर खोज में, पाप-भीत मन
बना पारलौकिक; धर्मों के जड़ विधान में
[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] जीवन से
[illegible] थे, जीवन के रस-संगम ईश्वर से !!

भारत की प्रतिभा हृदय-गत सत्य-बोध से
निर्जन [illegible] मंगल रत, राम राज्य की !
अन्तर्मुखी आध्यात्मिकता का व्यक्ति-केतु रथ
ऊर्ध्वगमन चल, रहा अधर में रुका, प्राण-हय
प्रगति न कर पाये बहिरन्तर पर !
आत्म प्रवृत्त, शक्तिहीन
सोने की भारत-भू—, जो
जननी रही जगत् की—यदि

स्खलित पतित, फँसती न मध्य युग के कर्दम में,
जीवन के ईश्वर से विमुख—अतीत कूप के
तम में मज्जित, दृष्टि शून्य आस्था से मंदित !

आदर देता मन सर्वाधिक तुलसी ही को
सच्चे अर्थों में जन कवि जो,—मध्य युगों का
जन मानस संगठित कर गये, मोह शोक हर,
विविध मतों का जन-भू मन केन्द्रित कर तुममें !
किन्तु, मुझे तुलसी के राम न भाये उतने,
भरत भक्ति का उदाहरण भी नहीं सुहाया,—
सीता के पीछे न चित्त ही वन-वन भटका
खग मृग, गुल्म लता तरु सम्मुख अश्रु बहाता !

लक्ष्मण अच्छे लगे, वीर विनयी हनुमत् भी
तप पौरुषमय प्राणशक्ति के मूँगी पर्वत !—
यह मेरी ही भाव-दृष्टि सीमा हो !—यद्यपि
'जाकी रही भावना जैसी'—अर्ध-सत्य भर !

किन्तु, राम, यह सत्य, मुझे तुम रामयण से
नहीं मिले, तुलसी मानस में रम न सका मन;
वाल्मीकि, अध्यात्म अधिक कुछ भाये उर को !

तुम तो स्वत: अमृत निर्झर-से मरकत स्वर्णिम
जाने किस चैतन्य-शिखर से उतरे भीतर—
स्वर्गिक सौरभ-से समीर पंखों पर वाहित
प्राणों में बस गये, शुभ्र हीरक प्रकाश-से ! —
जब प्रहर्ष-स्पन्दित उर आकस्मिक अनुभव से
स्तब्ध हो उठा, आत्म-स्मृति रहित;—तुम अन्तर में
बोले, मैं हूँ ! निर्भय हो ! छोड़ो सब चिन्ता !'
औ' शिख से नख तक सित चिन्मय भाव-देह धर
क्षण-भर हो स्मित प्रकट, समा फिर गये हृदय में !

मेरे मन का वर्षों का चिन्तन का पर्वत
जिससे मैं उन्निद्र रोग से पीड़ित था तब,
पलक मारते, जाने कहाँ विलीन हो गया !—
कक्ष सूक्ष्म आलोक सिन्धु में डूब गया सब !···
अवचनीय क्षण ! कभी लौट आता फिर सहसा
युग-घातों से जब विमूढ़ हो उठता अन्तर !

तुम अजेय संकल्प शक्ति, सित पौरुष प्रतिमा,
बाह्य प्रतीक सशर-धनु जिसके, दीप्त शान्ति-स्मित,
सौम्य तेजमूर्त, हरित कान्तिमणि-से श्री मण्डित,
उदय हुए थे रजत हृदय में ! चार दशक अब
बीत चुके सन् छासठ में उस दिव्य भाव को !
अमृत-पूर मे ज्योति स्नान वह था चेतस का !

'मैं मानव का सहचर हूँ! अन्तस्थ हृदय में,
व्याप्त सभी के, निज प्रियजन से अविच्छिन्न नित!'
बोले थे तुम! प्रीति मुग्ध मन कह न सका था
तब कुछ: अब मैं कहता रहता तुमसे, 'स्वीकृत
सत्य मुझे, पर मुझको उसके योग्य बनाओ!'
निज लघुता के विकल बोझ से जब अनजाने
आँखों में आँसू भर आते,—तुरत रुष्ट हो,
कहते तब तुम, 'यह कैसा दयनीय भाव है?
दूर करो इस हीन ग्रन्थि को! मुझे ज्ञात है,
क्या है क्षुद्र महत् की उपयोगिता सृष्टि में,
क्यों है द्वन्द्व जगत्! संयुक्त रहो तुम मुझसे,
और नहीं तप-खटना तुमको, स्वय प्रतिक्षण
मैं पथ निर्देशन करता जाऊँगा! निर्भय
जूझो स्थितियों से, विकास क्रम में जो अविरत!
पाप पुण्य से भीत न हो, वे स्थितियों के गुण,
कौन क्षुद्र या महत्? जानते हो? मैं ही हूँ!
निखिल सृष्टि को देखो एक अखण्ड भाव से!"—
तब मैं जो अनुभव करता, वह नहीं कहूँगा!
तुम कहना अनुचित लगता, तुम मैं बन जाता,
वह कहना क्या सम्भव? मौन उपस्थिति ही का
अनुभव कर चेतस कृतज्ञता से भर जाता!
एक अगोचर अंगुलि पकडे बौना मन तब
अनजाने ही कर्म जगत् की ऊँची नीची
तुमुल तरंगों पर चढ़-गिर नित बढता रहता!
भूल न सकता उर उस सित क्षण के प्रभाव को!
उससे पहले, मैं अबोध भावुक किशोर था!
पार्वती वन प्रकृति, अप्सरा ही-सी सुन्दर,
सन्ध्यातप की कवरी छहरा गिरि आँगन में
क्रीड़ा करती छुटपन में मेरे सँग चुपके!
हरित वनों की धूपछाँह गलियों में लुक-छिप
आँखमिचौनी खेला करती, नव किरणों की
हँसमुख जाली डाले सद्य:स्फुट स्मित मुख पर!
हिम शिखरों के अन्तरिक्ष-सा घेरे रहता
मुझे शुभ्र एकान्त—रुपहले श्रृंग-सा स्वयं!
शिखरों-से धरती पर नहीं उतरता तब मन!
निश्छल ग्राम निवास: नीड़-सा गिरि वन भीतर
भाई बहिनों के कलरव से मुखरित रहता;
स्नेह गभीर पिता, शिशु की प्रिय माता को खो,
अथक परिश्रम रत रहते परिजन-मंगल हित,
साँझ प्रात ही केवल घर के बीच उपस्थित!
पक्व केश, देदीप्य वदन, नय-सौम्य प्रकृति वे

देवदारु द्रुम दीर्घ—ध्यान आकर्षित करते;—
ऐसा ही देखा कनिष्टतम सुत ने उनको!
कौसानी की ग्राम पाठशाला में मेरा
शिक्षारम्भ हुआ: वे कैसे मधुर वर्ष थे!
चिड़ियों-से ही चहक दिवस फुर् फुर् उड़ जाते,
उर में उड़ती रंग-पंख स्मृतियाँ बखेरकर!
पाठों से थी कहीं अधिक रुचि गिरि स्रोतों के
फेनिल कलरव में, वन क्षितिजों के मुकुलों में,
उचक, चौकड़ी भरते भूरे गिरि हिरनों में,
गुल्म झाड़ियों बीच फुदकते शिशु खरहों में!

वन तरुओं से घिरा बाल विद्यालय था वह,
बाहर ही लगतीं कक्षाएँ, वन स्तम्भों पर
टँगा, सुहाता स्वप्न-नील रेशमी चँदोवा!
दूर, सामने छानी की मरकत घाटी में
रजत तलैया चमका करती हँस दर्पण-सी!

कौसानी में मुझे साधु संगति भी मिलती—
सन्त समागम होता रहता तपोभूमि पर!
ऊर्ध्व हिमालय सन्निधि की पावन छाया में
नैसर्गिक श्री सुन्दरता में पले हृदय मन
विस्मित रहते, देख योग की ध्यान मूर्ति को,
नव किशोर मन की अबोधता से अतिरंजित!
क्या जाने क्या कहते मुझसे पक्षी गाकर,
क्या कहती फूलों की भाषा, मौन हिम शिखर,—
मैं न समझ पाता अन्तर की भाव-व्यथा को!

अल्मोड़े में आत्मबोध कुछ जागा मन में,
ऊषा की किरणें फूटी हों दृष्टि क्षितिज में!
वहीं माध्यमिक शिक्षा को पा शुष्क अनुर्वर,
मैंने, अपने को, अपने ही में निष्ठा रख,
शिक्षित करने का कण्टकमय पथ अपनाया!
शनैः, न जाने कितने जन्मों की आकुलता
छन्दों की लय में बँध कुछ आश्वस्त हो सकी!
मनन, अध्ययन, चिन्तन,—कैसे वर्ष गये वे!

'हार' कथा ही नहीं, चित्त का मानचित्र भी!
एक चील ज्यों मेरे सिर पर आ बैठी थी
तीव्र चपेटों से फिर-फिर सशक्त डैनों की
सुप्त बोध जो मेरे मन का रही जगाती:
नयी प्रेरणाओं के तड़ित् पंख फड़काकर
बाल कल्पना को उड़ान भरना सिखलाती!
मैं खराद पर चढ़कर अन्तःसंघर्षों के
उदयन कवि किशोर बन निकला षोडषाब्द में!

अलमोड़े में कुछ विशेष स्मरणीय नहीं था,
कवि बनकर पूरा सन्तोष न था अन्तर को!
भारतीय अध्यात्म-जागरण का युग था वह,
रामकृष्ण-सी, रामतीर्थ औ' दयानन्द-सी
सित आत्माएँ भारत में अवतरित हुई थीं,
पौराणिक जडिमा से मुक्त धरा-मन करने,—
आत्म-बोध के सूर्य-लक्ष्य से मन की आँखें
चकाचौंध-सी रहतीं, खोयी चिदाकाश में!...
एक गूढ अज्ञात पिपासा जग मन-मृग को
भटकाती, दिखला सुदूर स्वप्नों की सरिता,
जग के मरुपथ की तृष्णा का ताप मिटाने!

वैसे मैं सम्पन्न घराने का बालक था,
घर से भी सम्पन्न अधिक था हृदय पिता का,—
कमी न थी कुछ मुझे, राज-प्रासाद तुल्य ही
पितृगृह—स्नेह, सुरुचि, सुख, सम्पद्, शान्तिपूर्ण था!
किन्तु मुझे वैभव के लिए न तनिक मोह था;
कहाँ न जाने खोया-सा रहता अबूझ मन,—
जगन्निष्ठ मनुजों से झेंप, झिझक, असंग रह!
समय-समय पर एक नया ही चेतस मन पर
उतर, बदल देता पिछली जीवन-परिभाषा,
नयी रजत आशा का उर में क्षितिज खोलकर—
पिछला मन बासी पड़ स्वयं विलय हो जाता!

अब कह सकता, मैं तब-से ही तुम्हें अजाने
खोजा करता, आकुल-अन्तर बाहर-भीतर!
'वीणा' में स्वर सँजो हृदय के, बीच-बीच में,
स्वप्नों से गूँथता प्रकृति छवि वेणी नि:स्वर—
मात्र वही थी सुलभ मुझे प्रेयसी रूप में!

कितनी ही गोपन अनुभूति हृदय को होतीं
सब-कुछ कहने में संकोच मुझे होता अब;—
सम्भव, एक अदृश्य सुनहली भाव-श्रेणि थी
जिस पर मैं चढता अजान कर पकड किसी का;—
एक बार तुम आ, द्रुत अन्तर्धान हो गये,
वर्तमान मे कर अतीत-आक्रान्त चित्त स्थिर,
बिना शब्द ही बता—जिसे त्रेता-द्वापर में
खोजा करते, वर्तमान में भी हूँ वह-मैं!
छाया-सा सारा जग पीछे चला गया द्रुत,
मैं सम्मुख हो गया, पीठ पर गुह्य भार ले!

काशी और प्रयाग—तीर्थ स्थल यद्यपि दोनों—
मैंने संस्कृति केन्द्र रूप में इनको जाना—
दोनों ही मेरे शिक्षक भी रहे असंशय!
पर प्रयाग, जो संस्कृतियों का जीवित संगम,

वहाँ दूसरा जन्म लिया मेरी आत्मा ने
अन्तःसलिला से अभिषेकित कर द्विज मन को !

यौवन का स्वर्णिम तोरण था खुला, किन्तु मैं
भीतर नहीं घुसा, बाहर ही रहा सोचता—
क्या जीवन, क्या जगत् ? कौन मैं, क्यों चिर सुख-दुख ?
क्या मिथ्या औ' सत्य ? कसौटी क्या दोनों की ?···
क्या सचमुच ईश्वर है ? है तो कैसा है वह ?
उमड़, अनगिनत प्रश्न, टूटकर टिड्डी दल-से
विस्मित करते, चाट शस्य फल चकित बुद्धि के !
उदय हुए थे जब तुम सहसा हृदय-शिखर पर
मन का पुंजीभूत कुहासा छिन्न-भिन्न कर !

संस्कृत वाङ्मय कूलहीन रत्नाकर - सा जो
उसमें तिरना सीख यथाकिंचित् काशी में,
अधिक उच्च शिक्षा अर्जित करने जब पहुँचा
मैं प्रयाग में,—ग्रह नक्षत्र रहे होंगे शुभ !
विद्यापथ की शिक्षा में रुचि लेता था मन,
मैं अंग्रेज़ी कवियों के कल्पना लोक में
विचरण कर एकाग्र, शिल्प रुचि, कला दृष्टि के
ललित विभव से नव मुकुलित कर सृजन प्रेरणा,
सूक्ष्म भाव, सौन्दर्य-बोध में अवगाहन कर
अपनी काव्य-गिरा का युग-संस्कार कर सका !
प्रथम नयी भावाभिव्यक्ति के शोभा-'पल्लव'
फूटे तब मेरे स्वर्णिम कल्पना क्षितिज में !
किन्तु विजय यह रही कवि-यशःप्रार्थी मन की,
हृदय नहीं चरितार्थ कर सका अपने सपने,—
एक असम्भव आकांक्षा से मन्थित प्रतिक्षण !

जैसा सबको विदित तिलांजलि दे दी मैंने
विद्यापथ को, असहयोग में योगदान दे !
बहिर्मुक्त होने पर भी आत्मा की स्वर्णिम
रहस अभीप्सा रज्जु में बँधा—बन्दी था मन !
सत्य ज्योति प्रति भावाकुल उर अनुभव करता
यदि मैं ऊपर उठकर अम्बर से टकराऊँ
वह प्रकाश का स्रोत मुक्त कर देगा फटकर,
या धरती को यदि निज पैरों तले दबाऊँ
तो वह सिन्धु-गहनता में रस-मज्जित कर द्रुत
मन को तन्मय कर देगी निःसीम शान्ति में !

विद्यालय से कहीं अधिक भाया था मुझको
वातावरण नगर का—स्वप्नों से रोमांचित,
एक रुपहली शान्ति विचरती मुक्त वायु में,
स्वर्ण-नील गोलार्ध-कलश हो उसी शान्ति का !

जन्मभूमि का-सा सौन्दर्य न मिलता, यद्यपि
यहाँ प्रकृति मुख पर, ऋतुओं की भाव-भंगि भी
वैसी मोहक न थी,—न तरु लतिका अधरों पर
दीर्घ काल तक नवल प्रवालों की रंगस्मित
छाया गुँथी सुहातीं,—नव वसन्त दो दिन में
ग्रीष्म-पक्व हो, दिक्-शोभा विरहित हो जाता!
प्रखर निदाघ, पहाड़ी हंसग्रीव हिम ऋतु से
कहीं असह्य कष्टप्रद लगता,—यहाँ कहाँ वह
रोमांचित हिम-फाहों का सौन्दर्य बरसता?
एक रात में, दूध फेन में घुल भू के अँग,
तूल धवल, माखन श्री कोमल—लज्जित करते
स्वर्ग लोक की सुषमा को,—हिम की परियाँ आ
हम बच्चों के साथ स्वयं ऋतु क्रीड़ा करतीं!

किन्तु, एक शारद प्रभाव इस तपोभूमि का
मन में उदय हुआ धीरे, कुछ ही वर्षों में!—
एक सौम्य चाँदनी भावना की चुपके से
स्वप्निल उर से लिपट गयी—चन्दन सौरभ-सी
अन्तःशोभा के मरन्द-सूत्रों से गुम्फित!
समा गया सन्तोष मौन हर्षित रोओं में,
गंगा की धारा में घुल मन की जिज्ञासा
बन निगूढ़ अनुराग, लगी बढ़ने समुच्छ्वसित,
कूलहीन सागर को करने आत्मसमर्पण!

कितनी ज्योत्स्ना स्मित रातें पलकों पर बीतीं,
मावस का गहरा अँधियाला उर में छाया,—
तर्कों, वादों, संघर्षों, कटु आरोपों के,
क्रूर आत्म विश्लेषण के पैने पंजों-से
नुच-खुच, आहत हो निर्मम तम-कुण्ठित चेतस
वज्र शिला बन, पर्वत-सा जम गया हृदय पर—
रस-तृषार्त खो गयी चेतना बौद्धिक मरु में!

निभृत कक्ष में बैठा मैं दिन को मन्थित मन
तन्द्राहीन दृगों से खोज रहा था किसको?
सोच रहा था 'सुख दुःखे (तु) समे कृत्वा···' पर,—
कैसे हो सकते सुख दुख सम? कौन बोध वह,
कौन चेतना, जो सुख-दुख से परे, आत्म स्थित!
मुझे स्मरण, मन तीक्ष्ण शूल की तप्त नोंक बन
मर्म छेदने लगा,···वेदना दुःसह थी वह!···
संशय-तम को चीर, जानने को हो विह्वल
कौन तत्त्व वह, कौन पुरुष या कौन मनःस्थिति,
जो सुख-दुख, या हानि लाभ, जय अजय से परे!
(मैं था तब थी म्योर रोड में, साथ बहिन के!)

जैसे मारी हो छलांग जग मेरे मन ने,
(या तुम मन का धुन्ध, चीरकर बाहर निकले ?)
पल के पल में बिला गया दृढ़ मन्थन पर्वत—
तिमिर छंट गया, प्रश्न पट गया, फन्द कट गया,
उर का उत्तेजित स्पन्दन भी शान्त हो गया!
तन्मय अन्तर में—क्या हुआ, नहीं कह सकता! ...
जन-भू की मांगल्य-शक्ति तब उठकर ऊपर
मुझे खींच लायी धरती पर सित विस्मृति से!
आत्मा बोध जब जगा, कह चुका हूँ पहिले ही
उदय हुए तुम हृदय-शिखर पर नव आस्था-से!

उसके बाद, न जाने कितने संकट पर्वत
मन पर टूटे, संघर्षों पर संघर्षों के
काले बादल छाये—भौतिक, भाविक, आत्मिक!
समुच्छ्वसित ही रहा भावना का सागर मन!—
लगी चेतना अधिक ठोस जड़ वस्तु जगत् से,
जो अब छाया-सा दीखा दिक् पट पर चित्रित!

एक वर्ष के भीतर ही जीवन की आर्थिक
नींव अचानक खिसक गयी! राजा से बनकर
रंक—विभव की पृष्ठभूमि से छिन्न मूल मन
मुरझा, मरने लगा, भाग्य की खर झंझा-से
बृहत् शून्य में गिर,—यथार्थ के तिक्त दंश सह!

नये हाथ पाँवों से पार किया तब मैंने
उस सूनेपन के समुद्र को, ज्योति तीर पा!
मन ने वर्षों तक फैले जीवन-सैकत पर
बना मिटा स्वप्नों के बाल-घरौंदे अगणित,
आंक भावनाओं के अस्फुट चरण-चिह्न नव,
संचित किया मनोवैभव सित, सूक्ष्म दृष्टि पा!
कौन बना नव कर-पद चेतस, नयी दृष्टि तब?

वृद्ध पिता का स्वर्गवास भी तभी हुआ था,
मैं जिस वट की आशीःछाया में रहता, वह
सहसा अन्तर्धान हो गया—मेरे जीवन के,
किशोर मन के स्वप्नों को धूलिसात् कर!
जगत् रिक्त निःसार, चित्त हो उठा हतप्रभ!
अन्धकार पर्याप्त नहीं पर्याय हृदय की
दारुण स्थिति का, रोम-रोम करता था रोदन!

बोले थे तुम, 'क्या करते हो? मृत्यु शून्य का
मुख पहचानो! मानव आत्मा पर मृत दुख की
अँधियाली छाया मत पड़ने दो,—तुम मेरे
अमृत पुत्र हो!

'नित्य सत्य यह मानव आत्मा
मेरे मुख का सित दर्पण,—मैं जीवन प्रतिनिधि!

जिजीविषा से युक्त बनो! बोलो, बाधा के,
रोग व्याधि, सुख-दुख के खन्दक लाँघ, अभय हो
जीऊँगा मैं, जीऊँगा,—आनन्द स्पर्श पा
आत्मा के आलोक, विश्व की सृजन व्यथा का,—
मातृ-प्रीति का स्वप्न,—सत्य यह सृष्टि अलौकिक!

आँसू झर-झर बहे दृगों से, अधर तटों पर
स्रोत हँसी का उमड़ा तन्मय, अमृत घूँट पी!
मृत को अंजलि देने हित बँध सके न कर-पुट,
मृत्यु कहीं भी न थी,—अनन्त उपस्थिति सम्मुख,—
मात्र अकूल चेतना सागर श्वास तरंगित!

क्रूर वर्ष के क्षुधित उदर में बारह परिजन—
भाई बहिनें, चाचा चाची, फूफी, दादी—
समा गये मन के सब प्रिय जाने पहचाने;
एकाकी जीवन के सूने सिकता तट पर
बिखरा साँसों के क्षणभंगुर स्वप्न-घरौंदे!
कहा हृदय ने चीर देह-सम्बन्धों का तम,
मानवता क्यों न हो विराट् कुटुम्ब तुम्हारा?...
विश्व चेतना उतरी ज्योति-अरूप विहग-सी
उर में तब नव युग स्वप्नों का नीड़ बसाने!

बीता यौवन का वसन्त वन के आँगन में
निर्जन टीले पर—कपि, सर्प, शृगालों के सँग,
आसपास था मनुज निवास न कहीं दूर तक!
कौन साथ था वन में मेरे तुम्हें छोड़कर?
बर्ह-भार स्मित खोल मयूर नाचते नीचे
अमराई में, मन के नव कल्पना क्षितिज बन!
ज्वाला सुलगाते किंशुक वय-तप्त रुधिर में!

तुम ऊषा बन प्रात: तरुओं के झुटपुट से
मुख दिखलाते,—कितना प्रिय लगता वह स्मित मुख!
उन्मेषित हो उठता वन-परिवेश देख तब
रूप तुम्हारा अकथनीय शोभा में गुण्ठित!
निर्जन दोपहरें प्रसंग ही बीता करती
स्वप्नों की सुख स्मृति में—वन-झिल्ली-सी झंकृत!

गैरिक सन्ध्या कुशल पूछती आँगन में आ,
'ज्योत्स्ना' की जीजी, खग कुल मिल करता कीर्तन!
स्तब्ध रात्रि में, प्राय: खिड़की की चौखट पर
चिपका दिखता पार्श्व चन्द्रमुख,—और नहीं तो
तारा बन तुम मुझे न दृग से ओझल करते,—
गुह्य मर्मरित वन्य निशा के रक्षक मेरे!

आम्र मंजरी बन रोमांचित, कोकिल स्वर में
प्रणय वचन कह, मधु सुमनों से गात्र अरूप

सँजोकर अपना, सौरभ स्निग्ध मलय वेणी में
हृदय गूँथकर,—कितने गोपन संकेतों में
तुम अभिसार किया करते थे भाव - मनोरम
स्वप्नों के पथ से, अदृश्य प्रेमिका, सखी बन!
मौन गहन एकान्त,—शान्ति के सित पंखों को
मेरे ऊपर फैला, मुझे हिरण्य डिम्ब-सा
सेता अहरह, स्नेह-ऊष्णता लिये तुम्हारी,—
नया जन्म देने मुझमें जीवन-विकास को!

तुम्हें विदित, क्या करता था मैं निर्जन वन के
हरित गर्भ में, समाधिस्थ हो रूप-चेतना के
अवाक् अन्तस्तल के स्वर्णिम प्रकाश मे!
नयी दृष्टि पा मन सिन्धु में खोजा करता
नव स्फुरणों, नव चैतन्यों की रत्नराशि स्मित
जहाँ कहीं तुम होते प्रकट नये रूपों में
संग्रह करता उन सित स्वर्गिक उन्मेषों के
इन्द्रचाप रुचि अचि ज्वलित सौन्दर्य बोध को!
शनै: चेतना बनी प्रमुख,—जागा स्मृति पट पर
निखिल बाल्य कैशोर्य कल्पना-चित्रों में शत!

चन्द्र पक्ष ही नहीं, कृष्ण पाखों के दुर्गम
अन्धकार को भी मैं जिया, गहन वन में खो,
भय संशय, दिग्भ्रम के दंशन भोग विषैले!
धूपछाँह गुंजन बन तब गाती मन की स्थिति!
नया सूक्ष्म गुण उतर विश्व चेतना गर्भ में
आता जब भी, तुरत विरोधी गुण भी भू पर
लेता जन्म,—जूझ अभिनव गुण मूर्त हो सके!

जगज्जलधि में जहाँ रत्न, मुक्ताफल, उज्ज्वल
सीप शंख हैं,—वहाँ ग्राह, तिमि, मकर नक्र भी
रहते दारुण; एक दर्प से स्फीत ग्राह ने
दैव कोप वश, ग्रस्त कर लिया विनत तुम्हारे
शिशु गजेन्द्र को, अपने तामस शक्ति पाश में!
गज का आर्त हृदय जब भय संशय मर्दित था
गोपन इंगित कर आश्वस्त किया था तुमने!
एक दशक भर रहा चित्त तम से उद्वेलित,
हुए गुह्य आघात और भी मर्मस्थल पर,
रक्षा करते रहे हृदय के भीतर से तुम!

बोले, 'भटक न जाओ तुम प्रकाश पथ पर ही
रत्नच्छाया में लिपटे शोभा-प्रहर्ष की,
मुक्त कर दिया मैंने तुमको उभय पक्ष से!
ज्योति तमस, विद्याऽविद्या से मैं अतीत हूँ!'—
हँसता अन्तर तीव्र व्यथा-दंशन सह-सहकर,

वर्षों मैं तूमता रहा जीवन का, मन का,
जग का गहरा तिमिर मनुज-चेतस पर छाया!
आते एकाकी विपण्ण क्षण भी जीवन में—
सलज पूछता तुमसे तब—मैं युवा हुआ अब,
कैसे सहे असह्य पुष्प-शर रज-जीवी तन?
तुम अन्तरतम में थे अन्तर्धान हो चुके,
मन के पार कहीं से मन में उठती वाणी,—
'काम? मुझे अर्पित कर दो वह प्राण-शक्ति निधि,
सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य-जगत् जिसकी परिणति भर!
अपने को कामुक मत समझो, दुखी न हो,
वह सृजन-कला का सित पावक, रज-दाह न कुत्सित!
शनैः प्रकृति गुण लय हो जाते मूल प्रकृति में!'
भाव-देह ही में भोगा मैंने भू-यौवन,
वंचित जीवन रहा रूप-मांसल स्पर्शों से!

हीरक दृष्टि मुझे दी तुमने, रूप-रंग की
छायाएँ लय हो जातीं जिसकी सित लौ में!
मेरे बाहर ग्राम्या का विस्तृत दिक् पट था,
मूर्त दु.ख-दारिद्रय रेंगते रीढ़-हीन तन!
राग द्वेष, कटु घृणा उपेक्षा, क्रोध कलह के
घरा नरक पर नर-जीवन कंकाल विचरते,
भूख प्यास के जर्जर पंजर, घोर अविद्या
कर्दम में डूबे, पथराये मृत अतीत-से,—
रूढ़ि रीतियों के खल प्रेत, श्वास संचालित!

भू जीवन की गहन समस्याओं पर अहरह
सोचा करता मन,—कैसे हो राष्ट्र-संगठित
मध्य युगों के शोपित जन का बहुमत प्रांगण!
आँखें भर आतीं सहसा भारत आत्मा के
मूर्तिमान मानस-खँडहर का परिचय पाकर!
सूख गयी थी भू-चेतना प्रतीक, तापहर,
अन्त:सलिला गंगा की धारा, केंचुल - सी!...
दूर-दूर तक आँखों में, तन मन जीवन के
पंजर में निष्क्रिय विराग की रेती छायी
आहत करती चेतस को दारिद्रय से अमित!
स्यात् नन्दबाबू कृत गांधी की आकृति का
भाव स्फुरण हो, इन असंख्य बौने मनुजों से
एक विराट् प्रबुद्ध अमर मनुजों का मानव
सबसे ऊपर उठकर छूता अन्तरिक्ष को,—
किमाकार जन-भू के अन्धकार-पर्वत को
लाद पीठ पर, चढता नये विकास शिखर पर!
मन चिन्तन-गम्भीर सोचता,—बहिर्संगठन
अत्यावश्यक,—पर भीतर से भी मनुष्य का

रूपान्तर होना अनिवार्य, बदलना उसको
गत इतिहास,—नये चैतन्य-केन्द्र पर स्थित हो!
स्वप्न-मूर्त होती दृग-सम्मुख मानव भावी,—
तुम हँसकर कहते—'पैगम्बर बनना है क्या?'
मन उत्तर देता, 'पैगम्बर? उनके दिन
लद गये! आज तो भू रचना रत विश्व चेतना
स्वत: मसीहा, सित विकास क्रम से उन्मेषित!
जीवन द्रष्टा पैगम्बर प्रकाश वाहक भर,
दीप्त कर्म-शिल्पी, संयुक्त कुशल कर-पद ही
मानव भावी निर्माता, युग पैगम्बर अब!
विहँस पूछते, 'तो कवि बनना तुम्हें इष्ट है?'
कहता, 'कहीं मलय को सुरभित होना पड़ता?
कविता तो प्रिय देन तुम्हारी स्नेह दृष्टि की!...
तुम जो भी चाहोगे मुझसे, मैं वह हूँगा,
मन अब कुछ भी नहीं चाहता तुम्हें छोड़कर!'
मोटी बातें ही बतला सकता हूँ बाहर
अन्तर की गोपन गाथा मुँह से न निकलती!
तुम चुप रहकर मुझे छोड़ देते बहने को
विश्व चेतना सागर में युग-बोध तरंगित!
रोग व्याधि, सुख-दुःख, उपेक्षा, घृणा, व्यंग्य भी
सभी भोगता मैं,—तुम साक्षी ही न अगोचर,
स्नेही भी बन, मुझे गहन भव आवर्तों से
नित उबारकर, नया कूल दिखलाते उगती
भाव-भूमि का! निश्चय, सखे, निमित्त मात्र मैं,
ऐसा नहीं कि योग्य बन सका हूँ कुछ भी—
प्रिय, प्रीति मुग्ध कर तुमने बनने दिया न मुझको!
नगरों में भटका मन फिर युग-जिज्ञासा वश
जीवन - वास्तवता, भौतिक - यथार्थ से प्रेरित,—
अंग रंग-भारत का भी बन, हुआ उपस्थित!
घोर ह्रास विघटन छाया था निखिल देश में,
कुछ अतीत गौरव स्मृति स्तम्भ अभी जीवित थे,
कला शिल्प संस्कृति की झाँकी मिलती जिनसे!—
भारत छोड़ो आन्दोलन अब अस्तप्राय - सा
जन - मन में हिंसा विषाद फैलाता निष्क्रिय;
विश्व युद्ध था छिड़ा दूसरा,—बहिर्जगत के
उद्वेलन तुम उर में गुम्फित करते अविरत!
नयी मूल्य-केन्द्रित-संस्कृति का स्वप्न हृदय की
पलकों में तब जगा, पर न साकार हो सका!
मन तुममें रहता, वह ग्राम्य-नगर जीवन का
अंश नहीं बन सका पूर्णत:, तुमको खोकर,—
प्रणत तुम्हारे महत् प्रीति पात्रों के सम्मुख,
सतत तुम्हारी गुरु गरिमा से परिचित होने!

जो भी साधक रहा तुम्हारा, उसका संचय
उतर हृदय में आया स्वयमपि प्रथम दृष्टि में,—
ऐसा ही माहेश्वर योग तुम्हारा होगा!

देश विदेशों में विचरा मन, विश्वात्मा का
परिचय पाने : मानव आत्मा ही विश्वात्मा
निकली, सबके अन्तर में स्थित एक भाव से!
मनुज एक ही है सर्वत्र, न किंचित् संशय;
जग के सार-सत्य से गढ़ तुमने मानव को,
किया स्वयं को स्थापित उसमें, निखिल विश्व ही
जिसमें सहज समा सकता!—तुम सित क्षमता हो
भू-मानव की, विकसित होना जिसे तुम्हारी
सूर्य-दिशा में!

आज धरा देशों-राष्ट्रों में
लौह-भक्त, कुछ द्रवित हो रही, विश्व रूप में
ढलने को, गल यन्त्र सभ्यता के अनुभव के
प्रखर ताप से! किन्तु विविध जीवन पद्धतियों,
मूल्य-दृष्टियों, तर्कों वादों में खण्डित वह
अभी भविष्योन्मुखी नहीं बन सकी,—प्राण मन
जड़ अतीत की अन्ध शृंखलाओं में बन्दी;
गत इतिहास-पंक में लिपटे रेंग रहे जन
अधोमुखी स्थापित स्वार्थों के घृणित नरक में
भिन्न दिशाओं में, बल शिविरों में विभक्त बहु;
मनुज, विश्व एकता, लोक समता के स्वर्णिम
सिद्धान्तों के प्रति विरक्त, लघु भेदों मे रत!

महा ह्रास संकट छाया जन-भू जीवन में,
मरणोन्मुख मानव-अतीत पद स्खलित हो रहा!
कल जो भौतिकता विकास-गति की द्योतक थी
आज प्रगति अवरोधक वह,—दुर्ज्ञेय काल गति!
भौतिक वैज्ञानिक विकास के सँग मानव की
आध्यात्मिक उन्नति न हो सकी!

अन्तर्जीवन
मरुस्थल-सा अब शुष्क,—बोध-जल से मृग वंचित!
आणव रण भय से कुण्ठित मन अन्ध-अनास्था
संशय से हत जर्जर, कोरी बौद्धिकता के
भ्रान्त भँवर में घूम, खोज पाता न दिशा-पथ!
(वर्तमान पश्चिम का दर्शन करुण निदर्शन!)
श्रद्धा - निष्ठा - शून्य - बुद्धि रचना-सुख वंचित,
जन समुद्र उद्वेलित, दैन्य निराशा पीड़ित
मज्जित करने को आतुर भू-मर्यादा तट!
हृदय हीन निर्दय नर महाध्वंस हित तत्पर!!

नहीं जानता, मातृ-प्रकृति का शोषण कर
विज्ञान कहाँ तक जन-भू मंगल का संवर्धन
कर पायेगा : भौतिक वैभव के संग ही
आध्यात्मिक सम्पद् का अर्जन मानव जीवन में
स्वर्ण सन्तुलन ला सकता : भू मानवता को
बना सभ्य के संग ही संस्कृत भी पृथ्वी पर !

जब हताश मन खोज न पाया समाधान कुछ,
बोले तुम, 'यह बाह्य चित्र - भर काल-खण्ड का !
मुझको देखो, मैं हूँ भीतर का मनुष्य—मैं
भीतर का वास्तविक विश्व, बाहर के जग को
मेरी प्रतिकृति मे ढलना है ! नाशहीन मैं !
मैं ही केवल सार - सत्य बाहर भीतर का—
विविध वस्तुओं, स्थितियों, घटनाओं, गतियों के
जग का सत्य समग्र !—न हो किंचित् निराश तुम
क्षुद्र बाह्य गणना से ! मुझमे रहकर मुझमें
गणना सम्भव है क्या ?···मैं कैसे हो सकता
विगत युगों का राम-कृष्ण ? यदि काल - मुकुर में
मुझे देखना तो, मैं नव युग राम-मनुज हूँ !

क्या विज्ञान नहीं मेरी ही एक शक्ति है ?
मेरी इच्छा बिना मनुज वैज्ञानिक होता ?
आदि काल से बिंश शती तक (हाँ, आगे भी···)
क्या हो रहा जगत् में, ज्ञात नहीं क्या मुझको ?
मैं ही अष्टमुखी जड़ भौतिक जग का ढाँचा
बदल रहा हूँ वाष्प श्वास से, लौह पर्दों से,
तड़ित् रक्त गति से,—मिट्टी के मर्त्य पात्र मे
चैतन्याऽमृत भर नव, अंकित कर भू - नर की
प्रतिमा मे आध्यात्मिक भुवनों की श्री सुषमा,
मुक्त प्रकाश, प्रहर्ष,—शान्ति कामी मानवता
धरा - स्वर्ग रचना में निरत रहे जिससे नित !

जन्म ले रहा नव युग : मेरी धरा-योनि की
प्रसव-वेदना यह, आलोड़ित विश्व-सिन्धु जल !
ह्रास-विकास चरण भव-गति के;—जन भारत का
खँडहर मेरा ही निवास : मैं ही पतझर के
वन का नव जीवन-वसन्त : मेरी पद रज से
निर्मित भू इतिहास, शिल्प संस्कृति की गरिमा !

मैं ही था गांधी,—भारत का संविधान भी
मैं ही शासन, सेना, रक्षा दल देशों में !'
सम्प्रति, भू विकास की स्थिति से मैं ही अविरत
जूझ रहा अपनी अजेय संकल्प शक्ति से !
काल-रूप निज दिखा चुका तुमको गीता में !
मानव का सहयोग मुझे प्रिय क्रम-विकास हित !

धरा-स्वर्ग, इह-पर में मुझको करो न खण्डित,
मैं ही ईश्वर-नर, जो तुममें बोल रहा हूँ!
महानाश भी कालहीन मेरे स्पर्शों से
पलक मारते जी उट्ठेगा,—सृजन-काम मैं!

भारत मेरे अन्तर्मन का रणक्षेत्र है!
उसको नवयुग मानवता का बना निदर्शन
उतरूँगा मैं शुभ्र हिरण्य भुवन-सा जग में
नया सांस्कृतिक तन्त्र विश्व-मानव को देने!
सत्य अहिंसा मनुज प्रेम के अग्रदूत-भर
लोक-प्रेम ही सत्य, अहिंसा, शिव, सुन्दरप्रद!
अतः जगत् से दृष्टि फेर तुम सबसे पहिले
अपने क्षुब्ध देश को देखो,—जो स्वतन्त्र अब,
मूल्य न जिसने अभी चुकाया स्वतन्त्रता का!

सदियों से शोषित जन, मुण्डमतों में खण्डित
जिन्हें न शासन का, न प्रशासन ही का अनुभव,—
लोकतन्त्र प्रासाद बृहत् निर्माण कर रहे!
शेष न ऐसा कोई जन नायक समर्थ अब
दिशा दे सके जो पन्थों में भटके जन को!
या प्रबुद्ध द्रष्टा, जो रूढ़ि-पंक में स्तम्भित
मृतक अन्ध विश्वासों के दिग् भ्रान्त देश को
नयी दृष्टि देकर सामाजिक क्रान्ति कर सके!
कर्दम में फँस गया गहन युग-मानव का रथ,
सामूहिक सारथि को पथ-संचालन करना!
कभी महत् चिद्-बिन्दु व्यक्ति उर में जाग्रत् मैं
आज लोक-चेतना सिन्धु में अभिव्यक्त हूँ!

अब भी मृत्यु-विभीत, कायरों, अघ-दग्धों हित
व्यक्तिमुखी साधना मार्ग मेरा न रुद्ध है:
किन्तु, धरा प्रेमी, पुरुषार्थी, हृदयवान् जो
उन जन मंगलकामी मनुजों के हित मैंने
विश्व साधना का प्रशस्त नव पथ खोला है!
आमन्त्रित करता मैं, आयें, आयें भूजन
लघु विवरों को लाँघ, राजपथ पर विचरें नव!
भू जीवन रचना कर, प्राप्त करें सब मुझको
लोक-श्रेय-आनन्द-समाधित सर्व मुक्ति में!

नियति-कूप में गिरें न निष्क्रिय-मन विषण्ण जन,
संयम से सुख भोग करें सित भू जीवन का!
प्रकृति शक्ति मेरी, अक्षय यौवना, रूप-श्री,—
अपरा में जो परा, परा में भी सित अपरा,—
प्रथम स्थान जन-भू पर मेरी प्रिया प्रकृति का,
मैं द्वितीय, उसके पीछे प्रच्छन्न सृष्टि में;

इसी दृष्टि से भोगें जन जीवन-यथार्थ को
मुझमें रह संयुक्त, प्रकृति से ग्रहण करें बल!
मैं वैभव स्वामी, भू-जन हों वैभव मण्डित,
श्री शोभा सम्पन्न, मग्न आनन्द प्रीति में,
आत्मिक सित सम्पद्, चरित्रबल प्रति प्रबुद्ध रह!
अन्तर्वैभव ही वैभव वरणीय मनुज हित!
रिक्त त्याग के मरु मृग अन्ध तमस में गिरते,—
जीवन का जो तिरस्कार,—मैं भू-जीवन प्रिय!

पुरातनों ने आत्मा के स्तर पर ही मुझको
पहचाना: चित् स्पर्श प्राप्त कर वे उसमें ही
तन्मय, लय हो गये, महत् आनन्द वेग से
विद्युद् वाहित, अन्तर्भावावेश समाधित!
मुझे मूर्त कर सके न वे मन प्राण देह में
पूर्ण अवतरित कर,—भौतिक जग के प्रांगण में
रूपायित कर सके न भू-जीवन गरिमा में!

प्राचीनों के लिए तत्त्व की सिद्धि अलम् थी,
जो अरूप उपलब्धि मात्र सित आत्म-समाधित!
सूक्ष्म अमूर्त बोध प्रेरित, मन की द्वाभा में
वे रहस्यमय स्पर्श प्राप्त कर चिन्मय वपु का
मुझे खोजते रहे, खिंचे कृश ध्यान सूत्र से!

चिद् विद्युत् का अन्वेषण कर वे फिर उसको
जन-भू जीवन रचना में कर सके न योजित!
धर्म रहा चिद्बोध केन्द्र—जन-मन दीपों को
दीप्त न कर वह, उन्हें पाप परलोक भीत कर
भटका-भर धिक् सका ऊर्ध्वमुख अन्धकार में,
दिव को भू से, ईश्वर को जग से वियुक्त कर!—
समदिग्-जीवन-हीन उन्नयन रिक्त पलायन!

महत् श्रेय नव युग को (जो परिसंयोजन युग!)
पूर्ण रूप से वह मुझको वरने को आतुर
तन मन प्राण, वस्तु स्तर पर भी,—मनुज जगत् को
मेरी सत्ता के प्रकाश में ढाल, उसे मेरा स्वरूप दे!
आज प्रकृति की निखिल शक्तियाँ उसको अर्पित,
आँक सके मृण्मुख में वह मेरी चिद्गरिमा,
भू जीवन को चढा चाक पर मनुज-प्रेम के!—
विरज अरूप बोध से ही सन्तुष्ट न होकर!

सृजन प्रेरणा मैं, सर्जना मुझे सबसे प्रिय,
अभिव्यक्ति देता मैं उसमें निज विभूति को!
मैं वसन्त की आत्मा, जिसके अमृत स्पर्श से
सृष्टि-बीज अंकुरित पल्लवित होता प्रतिपल!
मैं शोभा आनन्द प्रेम मंगल आत्मा,—

पतझर मेरी क्षण समुपस्थिति, क्षण नियमों से
परिचालित!—

पीले पत्ते पक, झरने ही में
सार्थकता अनुभव करते, समधिक संजीवन-
शक्ति खींचने में अक्षम; मैं जीवन तरु को
आत्मा के यौवन से नव मधु मुकुलित करता!
मृतक मृत्यु से (जो अभाव का रिक्त शून्य-भर!)
जीवित मेरे भाव-शून्य से पोषित होते!
क्या होगा इस पथराये जग के अतीत का?
महानाश कर रहा कार्य, रीता हो भव-वन,
मेरी अमृत उपस्थिति उसको नव जीवन दे,—
नये रूप-रंगों के क्षितिजों में विकसित कर
नये भाव-सौन्दर्य विभव किरणों से मण्डित!

हिमकिरीटिनी की यह कैसी आज दुर्दशा!
हुए दो दशक अब स्वाधीन बने जन-भू को,—
भारी उद्योगों के संग गृह-उद्योगों की,
कृषि-फल की कर घोर उपेक्षा नेताओं ने
कृषि-प्रधान जन-प्राण धरा की भारी क्षति की!
शिक्षा का गत ढाँचा, शासन की भाषा भी
बाह्यारोपित रही,— मानसिक दास्य भाव जो!
प्रान्त-मोह में बँटे, राष्ट्र प्रति दृग मूँदे जन!

क्या कारण कटु अनाचार, रिश्वतखोरी का,
काले क्रय विक्रय का, दूषित विकृत खाद्य का?
(अन्तिम पाप कहीं सम्भव क्या किसी देश में!)
शतियों के नैतिक शोषण का फल यह निश्चय!
स्वार्थ लिप्त, मोहान्ध, देशद्रोही बौद्धिक अब
सत्वों प्रति जाग्रत, कर्तव्यों के प्रति निष्क्रिय,—
जन-साधारण भेड़ों-से भयत्रस्त, अशिक्षित—
युग जीवन के प्रति अबोध, भू-भार ढो रहे!

जो कुछ नव उपलब्धि देश की,—बँट न सकी वह,
पहुँच न पायी जन तक, चोटी तक ऋण में
दबकर भी भू देशों के, इने-गिने धनपति ही
पीनोदर उससे,—जन-मृग प्यासे मरु-भू पर!

राजाओं-से रहते मन्त्री क्षुधित धरा के,
उच्च पदस्थों के ऊँचे नभचुम्बी वेतन,
सुरा-नालियों में बहती सम्पद नगरों की!
मध्यवर्ग घिस रहा शासकों के कर-पद बन,
शेष प्रजाजन अन्न वस्त्र गृह से भी वंचित,
भाग्य भरोसे बैठे कोसा करते विधि को!
आज घास की रोटी भी न सुलभ जनता को

अर्ध नग्न तन, भग्न हृदय, जीवन ढोते के
विवश लोक मल-कृमि, दुर्गन्ध भरे घर आँगन !!

दोष भले हो यह शासन का, अनावृष्टि या
नक्षत्रों का, (नियति कूप-मण्डूक देश जन !)
पर यह सबसे बड़ा दोष उस महा ह्रास का
युग-युग से जिससे शोषित-पीड़ित भू के जन,—
अन्धों में काने राजा शासक भी जिनमें!
मुट्ठी - भर बौद्धिक मयूर के पंख लगाये,
शिक्षा त्वच, सभ्यता चर्म ओढ़े विदेश का
का-का-का कर काक-बुद्धि का परिचय देते,
निज भू-स्थितियों प्रति अजान, भव-गति पारंगत !

आत्मा की रोटी से युग-युग से वंचित जन
अन्ध रूढ़ियों, मध्ययुगी आदर्शों में रत
झूठे जप तप व्रत, नहान के पंक में फँसे
घुट्टी के सँग पी ढोंगी सन्तों की वाणी—
(जीवन मिथ्या, जग असार, माया, मृग-तृष्णा)
देह क्षुधा भी आज मिटाने में निज अक्षम,
पशु भी जिसकी पूर्ति सुगमता से कर लेते !!

आत्मा की सच्ची रोटी यदि मिलती जन को
जीवन प्रति अनुराग, धरा-श्रम के प्रति श्रद्धा—
सहजीवन देता चरित्र, संगठन आत्मबल,
सामूहिक संकल्प हृदय में भरता पौरुष,
भू जीवन-सौन्दर्य हृदय शोणित में गाता,
ईश्वर होता मूर्तिमान मानव-गरिमा में;
और न होते दैन्य ग्रस्त, अपदार्थ, पंगु जन,
बहिरन्तर निर्धनता से पीड़ित, पिशाच-से !—
ज्योति-बीज आत्मा, जिसको भू-मानवता की
श्री समग्रता में होना ऐश्वर्य-पल्लवित !

भौतिक रोटी भले न आत्मा काप्र काश दे
(इस युग की सभ्यता निदर्शनजिसका जीवित !)
आत्मा की सच्ची रोटी देती वह क्षमता
क्षुधातृषा कर तृप्त लोग जिससे जीवन की,
सामाजिक सांस्कृतिक स्वर्ग - श्रेणी रचना कर
अर्थ - काम सम्पन्न सकल होते धरती पर,—
मनुष्यत्व की भास्वर गरिमा से दिङ् मण्डित !
आत्मा की रोटी प्रतीक तन-मन जीवन की—
अभय आज देता भारत भू के देशों को
युग के उद्वेलित समुद्र में ज्योति - स्तम्भ बन !

किन्तु, हमें क्या मिली धरोहर मध्य युगों से ?—
गोहत्या प्रतिरोध छिड़ा आन्दोलन भू पर,

धर्मों के कंकाल जो उठे विगत युगों के
भारत के तापस समाज को बना अग्रणी!—
उदर निमित्तं बहुकृत वेशा: साधु अधिकतर
परम्परागत जटा श्मश्रुधर, गुहा निवासी,
गुह्य शक्तियों के पूंजीपति, ढोंगी साधक,
शोषण करते जन का, मन को वशीभूत कर!
ईश्वर से वे दूर, दूर भव श्रेयस से भी,
जीर्ण सम्प्रदायों के पथराये जड़ पंजर,
आत्म मुक्ति के मरुमृग, बाधक लोक मुक्ति के,—
बने खिलौने विफल, विरोधी दल के कर में!

स्वार्थ, शक्ति, पद - तृष्णा प्रेरित राजनयिक दल
युग प्रबुद्ध नागरिक कहाते दर्प मूढ जो,
भूसी के मस्तिष्क, विगत पन्थों के नेता,
मृत अतीत चर्वण की करते अभी जुगाली!
स्नायु - रुग्ण त्वक् - पवित्रता के पीछे पागल
मध्ययुगी मानस, विरक्त, निष्क्रिय, विधि पीड़ित!

साधु रहे अब कहाँ साधु? गैरिक ठठरी - भर,
रिक्त निखिल अध्यात्म ज्योति से, अन्धकूपवत्!
जीर्ण साधना पद्धतियों के ऊर्ण भरे त्वच,
भाँग, चरस, गाँजा पी रहते मदिर समाधित!
न्यस्त कर्म, वैराग्य ठूँठ, दायित्व विरत वे
क्लीव दीमकों के वल्मीक—चाटते जन - मन!

कभी सत्य प्रेरणा मिली इनसे भू-जन को?
लोक - कार्य में हाथ बँटाया कभी इन्होंने?
या स्वातन्त्र्य समर ही मे ये भाग ले सके?
आज शंकराचार्यों को लेकर आये ये
अनशन का ले अस्त्र, अनुर्वर लक्ष्य - सिद्धि हित,
मृत गायों की हत्या को रोकने एक स्वर!
धर्म कार्य यह? धिक्, ये उतने दूर धर्म से
जितना ईश्वर भी न दूर इन दिङ् मूढ़ों से!

नत मस्तक मन अब भी उनके सम्मुख, भू पर
भगवत् प्रतिनिधि, जन शुभचिन्तक जो योगीश्वर!

चमत्कारवादी जन का दिग् भ्रान्त देश यह,
जो कंचन - मृग - छली साधुओं प्रति आकर्षित,
फोड़े विद्याहीन देश की मनोविकृति के
विमुख जनों को करते जीवन से, अतीत के
मृत सन्देश सुनाकर, कंचन घट में विष भर!
क्या कर सका सशक्त तान्त्रिको का गढ तिब्बत
जब पद मर्दित किया उसे उद्भ्रान्त चीन ने?

मन्त्र तन्त्र हों भले ऊर्ध्व सोपान चित्त के,
भू - जीवन ही ईश्वर का घर, भू - जीवन ही

ईश्वर का घर, मुझे न संशय;—उसे संगठित
निर्मित, संस्कृत करना होगा सर्व श्रेय हित !

मध्ययुगी भारत का कुण्ठित उपचेतन मन
उमड़ रहा अब बाहर, जर्जर गो पंजर - सा,
सींग शंकराचार्यों के भी उग आये, लो !
रँभा रहे सब पूँछ उठाकर—गोहत्या को
बन्द करो ! दारुण दुकाल से ग्रस्त सहस्रों
लाखों मनुज भले मर जाएँ, किन्तु धर्म की
ठठरी गाएँ बची रहें ! हम भारत के जन
मा की ठठरी की पूजा को धर्म समझते !
पूँछ उठा, फुकार छोड़, ये गोमाता के
बछड़े खोद रहे जीवन - अनुशासन की जड़,
पटक खुरों को भू पर, नथुने फुला क्रोध से !
इंगित करता भारत का चैतसिक विलोडन—
राजा नहीं रहे, न शंकराचार्य रहेंगे !
लदे महन्तों सामन्तों के दिन भारत में !
लदे मठाधीशों, हठधर्मि मतान्धों के दिन !
जीर्ण धर्म की केंचुल झाड़, निखिल मंगल हित,
आध्यात्मिकता आगे निकल गयी निःसंशय
अन्धी आस्था के गोपद - बिल से बाहर हो !
मन के, आत्मा के स्तर पर साधक भारत ने
किये पर्वताकार उच्च आदर्श प्रतिष्ठित,
जीवन स्तर पर लँगड़ाते जो भू - लुण्ठित हो !
जीवन की साधना चाहिए आज जनों को
जीवन के आदर्श महत् हों भू पर स्थापित,
जीवन - भू को त्याग, रिक्त गत आदर्शों को,
प्राणों से सींचना पलायन मात्र खोखला !—
व्यक्तिमुखी मन वरे विशद सामूहिक जीवन !

हम गोहत्या रोक रहे क्यों ? यह चुनाव का
विज्ञापन क्या ? या हम जीती ही गायों को
खाने के अभ्यासी अब ? क्या नहीं दीखते
भारतीय गायों के पंजर ? मांस कहाँ है
उनके तन पर ? कौन खा गया ? क्या न उपेक्षा
गोपूजक की ? हाड़चाम की ठठरी ही क्या
भारत की जर्जर गोमाता ? लज्जा से सिर
झुक जाता ! खाने को आज नहीं चारा भी,
बेचारा गोधन !! मनुजों तक को अब दुर्लभ
घासपात की रोटी, कन्द - मूल कानन के !

क्या न दूध भी, श्वेत रक्त ही अस्ति शेष इन
बौनी आकृतियों का, जो कूड़ा खा रहतीं !

गोहत्या ही नहीं हमें गर्दभ हत्या भी
स्वीकृत नहीं अकारण,— यह आत्मा की हत्या,
मध्ययुगी खल आवेशों के प्रेत जगाकर
जनगण को निज स्वार्थसिद्धि का लक्ष्य बनाना !

कहाँ रहा तब भारत - मन का गैरिक - पंजर
साधुवर्ग ? जब भारत माता अपने बन्धन
छिन्न - भिन्न करने को आतुर थी, सदियों की
लौह शृंखला में जकड़ी, लज्जानत मस्तक !
कभी किसी भी लोक यज्ञ मे प्राणाहुति दी
परजीवी, जग से विरक्त, भू - भार साधु ने ?
गोहत्या प्रतिरोध हेतु जो आज सामने
आया कर में ले त्रिशूल ? यह मध्य युगों का
वन जीवी बर्बर, अपरूप खड़ा पिशाच - सा !
ईश्वर इनके साथ नहीं—संशय न मुझे अब,
ये उपचेतन प्राण शक्तियों के साधक - भर !

क्या ऐसे दुष्काल के समय, त्राहि - त्राहि जब
करती धरती, हाय, हाय करती सब जनता
लक्ष - लक्ष ये उत्तेजित तापस - नागरगण
'चलो गाँव की ओर'—नहीं नारा दे सकते ?
भूखे - प्यासे आत्मघात हित तत्पर जन के
क्या न सहायक बन सकते दुष्काल के समय,
उन्हें मानसिक भौतिक भोजन देने के हित—
जन - भू का बल एकत्रित कर सत्प्रयत्न से,
तरुणों के शोणित का भी पथ - निर्देशन कर ?
क्या न जूझ सकते शासन से—शीघ्र अन्न जल
पहुँचाने के हित अकाल पीडित गाँवो में ?
निश्चय, यह कोरा चुनाव ही का नाटक है ! —
गोवध के परदे में जनहत्या का नाटक,
पर दुःखान्त,—शक्ति लोक - सेवा से मिलती !

गोमाता का प्रेम न यह ! उसका शोणित भी
पीकर यदि हम राज्य कर सकें, तो तत्पर हैं !
धिक् यह पद मद, शक्ति मोह ! कांग्रेस नेता भी
मुक्त नहीं इससे,—कुत्तों-से लड़ते कुत्सित
भारत माता की हड्डी हित ! आज राज्य भी
अगर उलट दे जनता, इतर विरोधी दल के
राजा इनसे अधिक श्रेष्ठ होंगे ?—प्रश्नास्पद !
क्योंकि हमारे शोषित शोणित की यह नैतिक
जीर्णव्याधि है ! —

आत्मानं सततं रक्षेत,—प्रसिद्ध उक्ति है,
जग प्रति विमुख, आत्म उन्मुख रहने ही में हित !!
अन्धों में काने राजा की नीति इसलिए

हमें अनिच्छापूर्वक सहनी, अन्धे युग में !—
जिसे बदलने को कटिबद्ध हमे अब रहना !

बिना शान्ति, अनुशासन के इस मरघट भू पर
(जोकि साधना भूमि रही शव साधक युग की !)
कहीं नहीं कल्याण दीखता ! गत नर-भक्षी
कापालिक दीक्षा अब भी जीवित शोणित में !
लोक क्रान्ति के लिए नहीं तैयार धरा जन,
लूटपाट से, अग्निकाण्ड से, मारपीट से
क्रान्ति नहीं आ सकती,—बिना महान् लक्ष्य के !
रक्त विप्लवों से शिक्षित होते न कभी जन,
प्रतिक्रियात्मकता से प्रगति न सम्भव भू पर,
भले अराजकता के भय-सन्ताप भोग नर
शील भ्रष्ट, अनुशासन हीन, नष्ट हो जायें !

फिर भी, कोई हो भू-शासक, वह समर्थ हो,
युग प्रबुद्ध हो, दूरदर्शिता से परिचित हो,
तोड़ सके वह मध्ययुगों की रीढ़ धरा की,
कृमियों-से रेंगें न धरा जन, ऊर्ध्व-मेरु हों,—
नवयुग आभा से चुम्बित हो गौरव मस्तक !
रूढ़ि रीति से ग्रस्त, पाप सन्त्रस्त न हो मन,
देख सकें जन ईश्वर को चलता युग-भू पर,
गांधी की आत्मा हो मुक्त,—धरा में बन्दी !

कोई भी हो शासक,—उसको मध्ययुगों के
अस्थि-शेष भारत को युग-मांसल करना है,
अन्ध रूढ़ियों में पथराये मृत अतीत को
छिन्न मूल कर, नव जन जीवन की गरिमा से
मण्डित करना है भू-खंडहर ! युग-युग के मृत
विश्वासों, कटु रागद्वेष के विष-दन्तों को
तोड़, जाति वर्णों से, छुआछूत से जर्जर
जीर्ण सम्प्रदायों को भू से झाड़-पोंछकर
राष्ट्र चेतना में दिङ् मुकुलित करना जन-मन !

जो भी हो शासक, शतियों के अनाचार को,
क्षुधातृषा, दारिद्र्य अविद्या, दुःख निशा को
उसे मिटाना,—पूय-विलग्न, दुर्गन्धपूर्ण, हत
धरा व्रणों पर लेप लगा नव मनुष्यत्व का !
लौह-पदों से उसे रौंदनी मनोविकृतियाँ
रीति-नीति के नामों से जो पूजी जातीं;—
प्रजातन्त्र का अर्थ न यह, जन मुण्ड-भिन्न हो
स्वार्थ सिद्धि के लिए अराजकता फैलायें,
नष्ट-भ्रष्ट कर कष्ट साध्य जन-भू की सम्पद् !

सत-शासन का अर्थ न यह, जनता के सेवक
सम्राटों-से रहें, उच्च वेतन भोगी बन !

निखिल देश की सुख-सुविधाओं को अधिकृत कर
राज्य करें जीवन - मृत हड्डी के ढाँचों पर!
घोर विषमता के पाटों से मर्दित जन की
चूर्ण पसलियों का संगीत सुनें बहरे बन!
मूर्तिमान दारिद्रय दुःख की नरक धरा पर
क्या ऐसा ऐश्वर्य सुहाता सत् शासक को?
अच्छा हो, जनश्रम प्रतीक पावन खादी के
वस्त्र छोड़ दें वे, जो गांधी के वल्कल थे!
शासकगण के काले कर्मों को खादी की
शुभ्र छटा भी ढँकने में असमर्थ आज है!

शिक्षा ने पथभ्रष्ट कर दिया नव युवकों को,
कुण्ठा का दिग्-अन्धकार ही उनके सम्मुख!
क्या भविष्य है उनका? थोथी शिक्षा के वे
बलि पशु बनकर, मनुष्यत्व भी आज खो रहे!
जो शिक्षा धरती की जीवन-वास्तवता से
सम्बन्धित ही न हो, न जन-भू की संस्कृति से,
जिसे प्राप्त कर युवक न अपना घर सँजो सकें
औ' न देश सेवा कर पायें—किसे लाभ
उस रिक्त ज्ञान से? जो बाह्यारोपित अनुकृति - भर!

निष्कलंक होता स्वभाव से ही नव यौवन
आज ऊष्ण शोणित यदि उसका विद्रोही है
तो यह किसका दोष? प्रकृति यह तरुण रक्त की!
बहकाते हों उनको राजनयिक पद-लोभी,
किन्तु निराशा कुण्ठा का अथाह सागर जो
उनके हृदयों में अदम्य उद्वेलित अनुक्षण
कैसे उसके शतफण दंशन युवक भुला दें?
शिक्षा-पद्धति निश्चय हमें बदलनी होगी,
जिस शिक्षा से सुख-सुविधा दुह सकें दक्ष-कर,
उसे बना कृषि, प्रविधि, अर्थ, उद्योगपरक अब
हमें राष्ट्र रचना हित अगणित जन, कर-पद, मन
प्रस्तुत करने होंगे, नये रक्त से दीपित!

वृद्ध देश के प्रति अपने दायित्व-बोध से
प्रेरित मैं, उसको फिर नव-यौवन देने को
उत्सुक हूँ, नव भू-तरुणों के प्रति आश्वासित,—
वे ही भावी भू-रक्षक, सेवक, शासक भी!
वे विद्रोह करें अनीति से, पर अनुशासन
भंग मत करें, राजनीति के कर-कन्दुक बन!
धन विद्रोह विधायक, ऋण विद्रोह विनाशक!
ऐसा शील तपित मन, विनय ग्रथित भू-यौवन
शायद ही हो और कहीं इस विपुल धरा पर!
उसे मात्र भौतिक निर्माण नहीं करना है,

महत् सांस्कृतिक स्वर्ग बसाना बर्बर भू पर !—
यह महान् दायित्व उसे सौंपा है विधि ने !
धिक् उनको, जो सोचा करते भारत केवल
फ्रान्स, रूस, अमरीका-सा ही भौतिक-वैभव
सैन्य-शक्ति सम्पन्न राष्ट्र हो - अलम् नहीं यह !
हृदय-हीन जग आज भटकता भौतिकता के
अन्धकार में; मानव पशु से भी नृशंस हो
दानव का पर्याय - बन रहा अब दिन-प्रतिदिन !
(वियतनाम उस बर्बरता का एक निदर्शन !)
भू-मानस मन्दिर आध्यात्मिक ज्योति के बिना
जीवन घातक अन्धकार में सना रहेगा !

नवयुग सन्धि ! बदलता करवट अब भू-जीवन,
नयी चेतना का युग लाना होगा भू पर
भारत जन को जूझ बाह्य-अन्तर के तम से,
नव-मानव की सित आकृति गढ़, नये मूल्य पर
केन्द्रित कर जगती का जीवन ! अपने इस
दायित्व भार को बिना निभाये, यदि वह केवल
भौतिक स्वर्ग सँजोये भू पर, तो वह निश्चय
कर्तव्यच्युत होगा ! अन्य धरा देशों की
प्राणिक-स्पर्धा का बन लक्ष्य, महाविनाश ही
ढायेगा जग पर,—यह पद्धति द्वन्द्व-जगत् की !

ऐसी कोई धरा-स्वर्ग कल्पना न सम्भव
बाहर से जो पूर्ण, खोखली हो भीतर से,
वंचित अन्तर वैभव से, आत्मिक प्रकाश से !
समतल गति को आरोहण करना अब निश्चय—
नये हृदय का स्पन्दन तुम्हें न सुन पड़ता क्या ?—
जन्म ले रहा जो पंकज-सा भू-कर्दम से !
औंधे मुँह गिर लेटा जो भौतिक भू-जीवन,
उसे जागना अन्त:क्षितिजों का प्रकाश पी !
मानव ही को बनना नव-विकास का वाहक—
विश्व-समस्या का न अन्य धन-समाधान कुछ !
महत् कहीं सातत्य प्रगति से क्षिप्र क्रान्ति गति !
सक्षम शासन आज चाहिए भारत-भू को
मध्ययुगों के काले घेरों को कुचले जो
पथ प्रशस्त कर नयी प्रेरणा का यौवन हित,
दिग्-भू रचना में जन-शक्ति करे संयोजित !

अत: अतीत तमस से बाहर निकले भारत
खँडहर के पर उगें, उठे प्रासाद अलौकिक
मानव आत्मा के अक्षय स्वर्गिक वैभव का !
पावक का पथ रहा तप प्रिय जन भारत का,
सामूहिक लपटें उठ भस्म करें भू-कल्मष !

कुम्भकर्ण - से सोये आज हमारे शासक
सुख सम्पत्ति सुलभ सुविधाओं की शय्या पर
शक्तिमोह, पद मद की स्वप्न-भरी निद्रा में
अनाचार सन्तापों की गहरी छाया में!

असन्तोष फैला दिग् व्यापक अखिल देश में!
जन को उन्हें जगाना होगा तूर्य नाद कर—
शंखघोष सित कर जन-भू के श्रेयस के हित
सृजन-संगठित करनी होगी शक्ति धरा की,
जो संहार करे अघ का, निर्माण करे नव
जीवन-मंगल-शस्य - हरित युग-भू प्रांगण का!

ऐसा दिखता नहीं विरोधी दल में भी नर
जो भारत जन-भू का बोहित पार लगाये!—
कल यह सम्भव हो यदि, मन स्वागत को तत्पर!
स्वार्थ तृषित शतशः मत-भेदों में खोये नर
राज्य शक्ति कामी,—विजयी हो भू-शासन की
बागडोर यदि आज थाम लें, धरा मृच्छकट
तो क्या अधिक गहन अँधियाले गढ्ढे में गिर
नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा?—युग-युग के भूखे
नये लोक - प्रभु चूसेंगे जन-गो का शोणित
नये लोभ से, नये वेग से, अमिट तृषा से?
घोर अराजकता का मंच बनेगी जन-भू?

अन्धकार के दिग्व्यापी परदे के भीतर
स्वार्थ, लोभ, पद-मोह रचेंगे नव जय भारत?
शक्ति-दर्प होगा दुखान्त नाटक का नायक,
विवश-धरा दर्शक बन हाहाकार करेगी?—
नहीं, नये शोणित को भी अवसर दें जनगण,
विविध दलों के युग-प्रबुद्ध नर राष्ट्रिय शासन
स्थापित करें धरा पर, जन-मंगल से प्रेरित!
वर्तमान स्थिति निखिल देश की दारुण-भीषण!!

राजनयिक ही नहीं, सास्कृतिक क्षेत्रों में भी
जीवन की गति-विधि विघटित होती जाती अब,
मुक्ति नहीं साहित्य जगत् भी ह्रास-धुन्ध से!

महत् प्रयोजन सत्य खो गया हो वाणी का,
आज घुणाक्षर - सी अमूर्त संहृत शैली में
बिम्ब प्रतीक उभरते खग-पग चिह्न-चित्र - से
क्षण की करतल रेती मे बन-मिट नगण्य-से!
कथ्यहीन युग-कविता कोरी अलंकरण - भर,
जिसमें गूढ़ अरूप वेदना करती रोदन
व्यक्ति अहंता की, युग स्थितियों से पद मर्दित!
मृगजल छाया-शोभा का प्यासा युग-कवि मन!

राग द्वेष का तुच्छ मंच बन रही समीक्षा,
छुटभैयों के साथ खड़े कुछ चोटी के भी
युक प्रातिभ विद्वान् बाल की खाल खींचते,
बालों ही की पकड सिद्धि ग्रब चोटी की भी!
ग्रात्मबोध के दिवालिये बुध, तीतर बनकर
युगों जिन्होंने उगली विद्या,—बात-बात में
विदेशियों के ग्रह्म वाक्य मृत, उद्धृत करते!
कैसे हो सकता वह सत्य भला, हाइडेगर,
किर्कगार्ड, यास्पर्स, सार्त्र या रसल, वेल्स-से
द्रष्टा जिसके बारे में कह गये नहीं कुछ?
रिक्त काल्पनिक, हाँ, उडान हो सकती मन की!
कवि का कटु ग्रालोचक के पंजे में फँसना
प्रतिभा के पृथु-गज का दलदल में गिरना है,
जहाँ मात्र दलबन्दी ही का तार्किक कीचड़!
मौन सिद्ध ग्राचार्य, हिचकते कहने में कुछ,
या समझौते की भाषा का ग्राश्रय लेते
कही न कोई उनकी भी पगडी उछाल दे!
भावुकता की भाँग पिये हो देश युगों से—
हीन-ग्रन्थि से पीडित तथाकथित कुछ बौद्धिक
ग्राज रिक्त विद्रोह भावना से उद्वेलित,
ग्रात्मतोष पाते विद्रोही उद्‌गारों की
एक-दूसरे के सम्मुख फुलझडियाँ बरसा!
जन-भू रचना, महत् राष्ट्र निर्माण कार्य से
पूर्ण ग्रपरिचित, कठपुतलों के सेनानी-से,
रीते दर्प प्रदर्शन से सन्तोष ग्रहण कर
बने ग्रन्ध नेता जो कुण्ठा-मूढ़ जनों के!
विद्रोही हैं ये युग के, युग के विद्रोही,
जिन्हे न युग-जीवन निर्माण कभी करना है,
ग्रसन्तुष्ट निज से, जग से, जग के स्रष्टा से
डँसते ये निज को, सबको ग्रस्तित्व-दंश से
उसे मानकर धर्म मनोगत ग्रन्धकार का!
सूँघ गया है इन्हें साँप काली कुण्ठा का,
बीस गिरोहों में बँट सत्व-निष्ठ ये बौद्धिक
झाग-भरी फूत्कार छोड़ते युग मंचों से!
ये प्रणम्य हैं, युग-पावक से उठने वाले
ये कडवे, धन धूम, राख, बुझती चिनगारी!
दुर्विपाक या मनोविकृति की ग्रांधी से हो
उच्च पदच्युत व्यक्ति घोर ग्रवसरवादी बन
साहित्यिक नेता ग्रब बने हुए बहुधन्धी,
बुद्धिजीवियों की कुण्ठाग्रो की सेना ले!
कला क्षेत्र वाग् युद्ध क्षेत्र में बदल ग्रकारण,

महिला की ले आड़, छोड़ते शर युगधन्वी
आचार्यों पर, खड़े शिखण्डी के हो पीछे!
और प्रार्थना करते, हम जब छोड़ें विष-शर
सीना ताने रहें आप,—तृण लक्ष्य न च्युत हो!

दन्तकथा से सम्भव परिचित होंगे पाठक—
एक बार चूहों की मजलिस में अनजाने
भटक गया बेचारा हाथी भोलेपन में!
उसे देख सब चूहे माथा लगे पीटने,
और लाल-पीले हो, दुम फटकारने लगे!
चीख उठे सब, हमको ही खा-खाकर निश्चय
यह चूहा पर्वताकार पा सका कलेवर,—
इसे निकालो, यह हमको भी खा जायेगा,
इसे भगाओ, यह हम सबको खा जायेगा!

हाथी समझ गया चूहों की मर्मव्यथा को,
लौट पड़ा वह! उनको समझाता भी कैसे
वह मूपक कुल-भूषण नहीं, विनत गजेन्द्र है!—

वैसे यह कुछ नहीं, रिक्त युग का यथार्थ भर,
जिसे महत्व नहीं देता मन—जन रंजन हित
चर्चा कर दी स्वल्प—जिये, भोगे कटु क्षण की!

स्खलित व्यक्ति उठ सके पुनः, हत नीड़ भ्रष्ट खग
स्वप्नों का तृणवास रच सके, मेरी हार्दिक
शुभ कामना, सहानुभूति अब भी उनके प्रति!

मुझे देख वास्तवता के दंशन से पीड़ित
बोले तुम, 'संघर्षण जीवन-गति का द्योतक,
पौरुष को दो धार सान पर चढा तथ्य के—
महत् दृष्टि से देखो नव आदर्श की दिशा,
अणुवीक्षण से लघु क्षण के विवरण—यथार्थ को,
दोनों ही अनिवार्य अंग हैं पूर्ण सत्य के,—
एक विकास प्रगति का सूचक और दूसरा
युग स्थितियों का परिचायक—इसमें क्या संशय!

'तुम्हीं नहीं मैं, विश्व सिन्धु भी युग - हिल्लोलित,—
भू जीवन में क्रान्त ज्वार उठता दिग् चुम्बी
डुबा विगत तट सीमाएँ, बढ़ता अम्बर को
जो अदम्य उत्ताल वेग से—भू - जीवन का
उर - सौन्दर्य बखेर स्वर्ग क्षितिजों में मोहित!
देख रहे? पर्वताकार मेरी ही महिमा
तृण - तृण के भीतर से लहरा रही विश्व - में!'

'तुम्हें अधिक मैं जान सकूँ,' मैंने विनती की,
तुम मुसकाये, बोले, 'कितना जान सकोगे
काल परिधि में? मुझमें रहो, कहीं श्रेयस्कर

तत्व बोध से! तुम संयुक्त रहो, जलार्द्रता
जल से जैसे! शुद्ध प्रेम ही तन्मयता है!
कहाँ खोजते मुझको गीता रामायण में,
बृहद् भागवत तथा महाभारत पन्नों में?—
जनगण में देखो मुझको, जो जीवित भारत,
जन - भू जीवन-पदार्थ—पृथक् मुझसे युग-युग से!

'आदि काल से गुह्य कुरुक्षेत्रों में कितने
लड़े महाभारत जन ने, पीढ़ी दर पीढ़ी,
मैं जन सारथि रहा, उन्हें बर्बर वन युग से,
मध्ययुगों से लाया अब आधुनिक काल में—
वज्र - मूढ जड़ धरा - प्रकृति से जूझ निरन्तर!

'अभी जूझना मुझको निर्मम वर्तमान से,
मानवीय साम्राज्य विश्व में स्थापित करने,—
मैं उस स्वर्णिम मनुष्यत्व की सित क्षमता हूँ,
चिर अजेय, युग के कालिय फण पर अधिरोहित!
राजनीति ही मेरा युग का प्रमुख क्षेत्र है,
जिसको देना मुझे अभी सांस्कृतिक धरातल,
आध्यात्मिक किरणें बखेर जन - भू की रज में!

'ग्रन्थों के ईश्वर के पूजक अब भारत जन,
जीवित ईश्वर से सम्पर्क न उनका स्थापित!
सन्त तुम्हें जब कहते स्नेही सुहृद—प्रणत हो
तुम उनसे कहना, भाई, मैं पन्त ही भला,—
जाने कितने विकृत खोखले आदर्शों की
सन्त - धरोहर मध्ययुगी मन की प्रतीक है!'

देखा मैंने, कहीं नहीं थी जग की सत्ता,
मात्र तुम्हीं थे; अगणित काल बिन्दु भर थे सब
अंश तुम्हारे! भूत तुम्हीं में परिणत होने
परिवर्तन भोगते, तरंगों - से उठ गिरकर!

बोला मन, जीवन की करुणा से विगलित हो,
अब मुझको विश्वास, सखा हो तुम मनुष्य के,
कौन प्यार दे सकता इतना लघु मानव को!
सुख - दुख, विजय-पराजय के भीतर से तुम पथ
मुझे दिखाते रहे, झेल जीवन संघर्षण,
मैं क्या विवरण दूँ उसका, जो परम निजी है!
तुमको पाकर सुख-दुख विजय-पराजय-भय भी
मुझको प्रिय अब,—मृत्यु-दंश चुम्बन-सा सुखप्रद!

तुम मुझमें इतने लय, इतने घुले हृदय में,
अपने को मैं तुम्हें समझने लगता प्रायः,
सखे, हृदय में शुभ्र - उपस्थिति से प्रेरित हो!
तुम हँस देते, बँधकर मुक्त बने रहते नित,
इतने शून्य - अहं, आत्मस्थित, अ-मैं-विद्ध तुम!

ये इन्द्रिय, ये अवयव, निखिल प्रकृति की गति-यति
हो भी किसकी सकतीं ?—मात्र तुम्हारी ! इनके
सब व्यापार तुम्हारे, फल भी तुम्हें समर्पित !
मेरा युग सन्देश नहीं कुछ भू जन के प्रति,
परम सत्य तुम प्रेम, जगत् जीवन के आश्रय,
और जगत् जीवन के आश्रित—क्योंकि प्रेम तुम,
द्वन्द्वों में भी द्वन्द्व - मुक्त, सित अनघ-विद्ध नित !
मनुज - प्रेम में जन तुमको चरितार्थ कर सकें
भव-विकास क्रम में, तुम जगन्निवास अगोचर !—
सित समाज - मानव में विकसित क्षुद्र व्यक्ति हों !
आज तुम्हारी भावी महिमा से उन्मेषित
बौने लगते मुझे व्यक्त सब रूप तुम्हारे !

'तुम भी आवश्यक हो मेरे हित,' तुम बोले,
'प्रेम मुझे कहते तुम, क्या है प्रेम जानते ?
तुम जितने मेरे हो उससे कहीं अभिन्न
तुम्हारा हूँ मैं,—क्योंकि प्रेम हूँ मैं, यह मेरी
निखिल सृष्टि भी मात्र प्रेम ही का प्रतीक है !
'प्रेमी जन तुम प्रेम से बँधे,—स्वयं प्रेम मैं,
सबसे ही संयुक्त, साथ ही प्रेम - मुक्त भी !
मैं ही हूँ सापेक्ष जगत्, निरपेक्ष सत्य भी,
मेरे जितने भी रूपों से परिचित हो तुम
वे केवल आरूप मात्र मेरे अरूप के !
गांधी मुझको अधिक निकट लाया धरती के
निखिल लोक प्रेमी, श्रमजीवी मनुज-सत्य बन !
'मेरी महिमा को भावी मानव में देखो
वर्तमान के मुखर शिखर पर आरोहण कर !
सम्भव, कण के भीतर कभी हिमालय से भी
मुझे विराट् देख पाओ तुम, सूक्ष्म दृष्टि पा,
संशय मत करना मुझ पर—मैं परिमाणों से
बाहर हूँ,—अव्यक्त व्यक्त सब भीतर मेरे !
ध्यान दृष्टि से देखो जड - चेतन विधान को,
चिद् विभूति भू - रज मेरे अति चेतन वपु की !'

मैंने पूछा, 'हृदय सखा, किस मधुर नाम से
प्राण पुकारें तुम्हें ?' मन्द हँसकर तुम बोले,
'राम नाम से मुझे जानती भारत जन भू,
तुम भी चाहो वही कहो—मैं नाम रूप से
परे, कृष्ण, ईसा, पैगम्बर, बुद्ध सभी हूँ !
'परम, सदाशिव, परा शक्ति भी, परब्रह्म भी,
परमेश्वर, अगजग - स्रष्टा भी !—अपर दृष्टि से
मैं ही हूँ अग जग, लघु तृण कृमि, अमित प्रेम मे,
सृष्टि स्वर्ग सोपान—जीव से देव-श्रेणि तक !'

[नवम्बर १९६६]

वाणी

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९५८]

भाई सुरेशसिंह को
सस्नेह

विज्ञापन

वाणी में मेरी नवीनतम रचनाएँ संगृहीत हैं, जिन्हें मैं नये वर्ष के उपहार के रूप मे पाठकों को भेंट कर रहा हूँ।

प्रयाग
२७ दिसम्बर, १९५७

सुमित्रानंदन पंत

द्वितीय संस्करण

इस संस्करण में 'नया प्रेम' शीर्षक एक छोटी-सी रचना और जोड़ दी गयी है।

सितम्बर १९६३

सुमित्रानंदन पंत

जयति नील धृत हरित परे,
प्रभु पद रजमयि, मनोहरे,
विश्वम्भरे !

अभीप्सित

काव्य चरण नित मुझे तुम्हारी ओर
अभय ले जायें,
हृदय में साध दीप अब :
खुलते रहें दृगों के सम्मुख
नवोन्मेष में
गुह्य प्राण मन के प्रदेश सब !
सृजन हर्ष से, सूक्ष्म स्पर्श से
दीप्त हो उठें
मन के अन्धे कोने अघ से आवृत :
पद-पद पर गीतों में तुमको
मुक्त भाव से
आत्म मोह कर सकूँ समर्पित !
अन्धकार चल रहा धरा पर,
राग द्वेष के
हिंस्र पगों पर गर्हित :
तुम्हें निकट ला सकूँ जनों के,
महानाश के
कर्दम में अपराजित !
यही अभीप्सित !

जीवन चेतना

धरती की दिग् हरित चेतना
पदतल छू दूर्वादल पुलकित !

अन्धकार क्या रे, प्रकाश क्या,
एक हृदय के अश्रु हास क्या,
जन्म-मरण चरणों पर चल वह
दिशा काल को रखती मुखरित !

जीवन की श्री हरित चेतना
भूतल छू दूर्वादल पुलकित !

मन के शब्दों में मत गाओ,
प्राणों के मत स्वप्न सुलाओ,

भू जीवन की प्रीति सुधा से
मनुज सत्य को करो न वंचित !

निश्चय रे आत्मा अक्षय धन,
वह अनन्त के पावक का कण,
जड़ चेतन की धूप छाँह से
जीवन शोभा का मुख गुण्ठित !

आत्मा मुक्त, भोग प्रिय तन मन,
पूर्ण बनो हे, प्रीति युक्त बन,
आत्मा कर इन्द्रिय मन को
इन्द्रिय मन कर आत्मा को अर्पित !

यह जल पावक का रे परिणय
भेद अभेद उभय जिसमें लय,
इस अनन्त आनन्द सृजन को
करो न क्षण मूल्यों में सीमित !

जीवन की दिग् हरित चेतना
जन मन में श्री श्यामल पुलकित !

अनुभूति

अमित नील से बरस रही हँस
फालसई जल फुही,
भींग रे गये नयन मन !

हरित हो उठा मरु प्रदेश फिर
मति को गति मिल गयी,
हृदय मे उमड़ा प्लावन !
भींग रे गये प्राण मन !

वाणी को क्या शब्द चाहिए ?
छन्द गन्ध करती जन प्राणों को
मधु झंकृत,
लय तन्मय कर देती अन्तर,
सुख दुख विस्मृत !

गन्ध वर्ण रस स्पर्श
सभी इन्द्रिय जग सीमित,
शक्ति पूर रे भाव,
रूप जग जिसमें मज्जित !

बुद्धि अरूप,—भावना स्मृति घन
उमड़ा सावन,
बरस रही रस फुही
डूब रे गये प्राण मन !

अभिव्यक्ति

युग प्रभात को मौन नील में फहराने दो,
यह अनन्त की विजय ध्वजा है !

आज ध्यान में देखा मैंने,
जाग जाग निश्चेतन मन के सोये पंछी
पंख मार, उड़,
गाते जाते, गाते जाते !
श्वेत सरोरुह मालाओं-से
शुभ्र शान्ति के राज मरालों के
प्रसन्न दल
धरती पर आनन्द छन्द बरसाते जाते,
गाते जाते !

अरुण - पीत पंखड़ियाँ
बरस बरस अम्बर से
श्री शोभा की सृष्टि
कर रहीं भू जीवन में !
अतल हरित से निकल
स्वर्ण का ज्वलित पिण्ड नव
मुसकाता मानव शिशु-सा
मन के प्रांगण में !

भूत निशा यह, नयी दिशा यह,
देव जागरण की वेला में
नव प्रभात को अमित नील में फहराने दो,
यह शाश्वत की अभय ध्वजा है !
युग प्रकाश को अरुण नील में फहराने दो,
यह विकास की विजय ध्वजा है !

अन्तर्ध्वनि

वीणा बोल उठी अन्तर की !
नाच उठे लय में रवि शशि ग्रह,
जगी मूर्छना - सी अम्बर की !

मानस का आनन्द नील घन
बरसाता गल पावक जल कण,
अकथनीय रस शोभा की झर
अमृत बिन्दुओं के निर्झर की !

मुक्त छन्द का रे जन्मोदय,
जीवन गति को मिली भाव लय,
कूलों से गाती अकूल के
गीत, लहर उठ-गिर सागर की !

मौन शान्ति मज्जित अन्तस्तल
पावक स्पर्श हुआ हिम शीतल,
हर्ष तीर से मर्म वेधती
रहस वेदना वंशी स्वर की !

सुलगी जीवन वह्नि दिग् हरित,
कूदो, तन-मन करो समर्पित,
इस पावक जल के मज्जन में
सार्थकता रे मर्त्य अमर की !

विरह दाह दुख से पीड़ित तन,
मिलन वारि सुख से पुलकित मन,
बजते निःस्वर मरकत नूपुर
बिसरी सुधि बुधि सचराचर की !

स्मृति गीत

आकुल स्वर लहरी आती है !
दूर, सुनहली छाँहों में छिप
काम श्याम कोयल गाती है !

चूर्ण-मुकुर चंचल मानस जल,
स्मृति पुलिनों को छूता छल-छल,
यौवन मद सौन्दर्य भरी
भावना तरी उमगी जाती है !

प्राण गुह्य आकांक्षा पुलकित
बहं भार चल रँग फुहार स्मित,
मेघों में छिप दिप शशि रेखा
इन्द्रधनुष शत फहराती है !

कितने मधु निदाघ मुरझाते,
कितने जलद शरद मुसकाते,
अह, युग-युग के विरह मिलन की
यह पिक ध्वनि अक्षय थाती है !

नील अंक में तन्मय शोभित
हरित धरा नत-मुख हरती चित,
कौन साध वह ? उठती गिरती
विस्तृत सागर-सी छाती है !

मुग्ध प्रीति की चिनगी कोयल
मुक्त अमित का आकर्षण बल,
एक छन्द स्वर लय में झंकृत
अभिव्यक्ति संसृति पाती है !

अग्नि की पुकार

रजत हरित लपटें उठतीं
प्राणों से, मन से,
घुले चाँद से, सत रज तम से,
तृण से, कण से !

चाँद धरा का मन उपचेतन,—
(जिसमें सोया मृग दृग लांछन)
जन धरणी की उर अभिलाषा,
सागर की रस ज्वार पिपासा !

एक महत् आशा निहारती जग जीवन से,
जड़ चेतन से !

व्यर्थ व्यक्ति मन का निशि पीड़ित
उन्मन गुंजन,
व्यर्थ आत्म दीक्षित, युग कुण्ठित
जीवन दर्शन !

आज चाहिए सामाजिक चिन्तन
जग को, सामूहिक जीवन,
भू स्तर पर उन्नयन !

मनुज एक हो कर्म, वचन, मन,
देवों का धन,
धरती का पण !

चयन मत करो, चयन मत करो,
वरण करो,—

सुन्दर कुरूप को, ऊँच नीच को,
भले-बुरे को, कमल कीच को,—
विगत युगों के गरल,—

मनुज के कल्पित भेद हरो,
कुत्सित खेद हरो !

प्रेम पूर्ण है, पूर्ण, पूर्णतम,—
वह पर्वत, रजकण, प्रकाश-तम !

क्या न अमित आस्था उर भीतर ?
तीव्र, गाढ़ आकांक्षा बाहर ?

अतल अकूल अचेतन तम में
अवगाहन कर
मूल पंक में डाल गहनतर,
पूर्ण, कमल-से निखरो ऊपर
विकसित, सुन्दर !

रजत हरित लपटें उठतीं
धरती के मन से,
सूर्य चन्द्र से, गिरि से, कण से,—
एक महत् भाषा पुकारती जन जीवन से,
जड़ चेतन से!

सम्बोध

अब जाना, क्यों धरती उगल रही तम,
मैं प्रकाश में उसे कर सकूँ कुसुमित;
जाना, क्यों जन-मन में सुख-दुख का भ्रम,
मैं आत्मा में उसे करूँ संयोजित!

कितने गोपन रँग निज मुट्ठी में भर
प्रथम किरण ने किये गगन में वितरित,
उन्हें दिया व्यक्तित्व सन्तुलित तुमने
इन्द्रधनुष श्रेणी मे कर दिक् शोभित!

अपराजित रहना भाता जीवन को,
आत्मवान ही पाता विघ्नों पर जय;
काँटों की डाली में फूल खिलाकर,
शील प्रकृति का मुसकाता शोभामय!

मन की भाषा से अतीत कितनी ही
भावों की निधियाँ बिखरीं पग-पग में,
मति की क्षमता से असीम जीवन का
मुझे दीखता रस वैभव इस जग में!

कृतज्ञता

मैं कृतार्थ हूँ, देह, तृणो के लघु दोने में
तुम मेरी आत्मा का पावक करती धारण,—
बहता सुर संगीत तुम्हारी शिरा शिरा में
जब मैं कर्म क्षुधित अवयव करता संचालन!

मैं कृतज्ञ, मन, अन्धकार को टोह अनुक्षण
तुम प्रकाश अंगुलि बन करते पथ निर्देशन;
भाव, बुद्धि, प्रेरणा,—बाह्य श्रेणियाँ पार कर
तुम तन्मय हो बनते शाश्वत सुख के दर्पण!

प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों में उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर,
चन्द्र कला को बिठा स्वप्न की ज्वाल तरी में
तुम बखेरते रत्न-छटा आनन्द तीर पर!

मैं उपकृत, इन्द्रियो,—रूप रस गन्ध स्पर्श स्वर
लीला द्वार खुले अनन्त के बाहर भीतर;

अप्सरियों से दीपित सुरधनुओं के अम्बर
निज असीम शोभाओं में तुम पर न्योछावर !
प्रेम, प्रणत हूँ, मेरे हित तुम बने चराचर,
ज्योति, मुग्ध हूँ, तुम उज्ज्वल उर मुकुर अगोचर;
शान्ति, देह मन की तुम सात्विक सेज अनश्वर,
प्रिय आनन्द, छन्द तुम मेरे, आत्मा के स्वर !

भाव रूप

गन्ध अमित !
कब तुम आयी अदृश्य
हृदय कुंज छन्द ध्वनित !
सूक्ष्म सुरभि रे अनाम,
पुलकित मन, तन सकाम,
अश्रुत संगीत मन्द्र
रोम रन्ध्र में झंकृत !
ध्यान मौन प्रीति कुंज,
सन्निधि मधु गन्ध पुंज,
कनक शिखा तुम अकम्प
उर प्रदीप में स्थित नित !
स्पर्श स्रवित हर्ष स्रोत,
निःश्रेयस् ओतप्रोत,
शोभा की पुण्य वृष्टि,
दृष्टि-शून्य सुरधनु स्मित !
मानव उर मोह मग्न
बाह्य रूप राशि लग्न
व्यर्थ रूप, जो अरूप
सत्य ज्योति स्पर्श रहित !
तुम्हे देख मुंदे नयन
अन्तस् में खुले गहन,
सत्य वही जिसमें तुम
भाव रूप अभिव्यंजित !

नया प्रेम

लो, सौ वसन्त साकार हुए
फूलों की शोभा के तन में,
सौ चाँद उगे, सौ तड़िल्लता
सिहरीं लहरीं स्मृति के घन में !
फिर उदय हुआ नव प्रेम ! कौन
कहता यह निर्मम, निराकार ?

पुष्पों के स्तवकों-से उरोज
उलझे स्वप्नों के तुहिन हार !

यह क्या ? तुम चम्पक बाँहों में
मुझको सुख विस्मृत बाँधोगे ?
पावक के झरनों में नहला
मधुरस में तरी डुबाओगे ?

ओ स्वर्णिम ज्वाला की सरिते,
मैं इस हाला को पीऊँगा,
सौ अग्नि परीक्षाएँ देकर
संकट के मधुक्षण जीऊँगा !

भू वक्ष चीर, निशि में अँगड़ा,
नव वंश प्ररोह उठा ऊपर,
मैं उसे प्रीति बंसरी बना
गाऊँगा गीत, अमृत स्वर भर !

जीवन गीत

धूल भरा मुख लेकर आये,
भू पर छाये,
ए हो जीवन, अग-जग मोहन,
जन-मन भाये !

तुम प्रकाश प्रेमी तम सुन्दर,
स्वप्ननिरत भव निशि में अन्तर,
कर्दम से छनकर सरसिज-से
कल्मष पलने में मुसकाये !

इच्छाओं-सी उलझी अलकें,
अर्ध जगी, अध सोयी पलकें,
पीछे पड़, आगे बढ़ते पग,
अथक अंग श्रम से कुम्हलाये !

तपता रस पावक का मधु मन,—
धूप-छाँह सुख-दुख का आँगन,
धरा नीड़ रचने में रत नित
हँसमुख, आँसू जल में न्हाये !

जन भू पान्थ, कान्त, अति उद्यत,
कौन लक्ष्य ? जो चलते अविरत,
चिर अक्लान्त, शान्त, आँस पथ व्रत,
जन्म मरण सहचर संग आये !

अन्तःसाक्ष्य

घनीभूत हो, ढलते जाते मेरे तन में,
प्रिय आनन्द, अमृत के घन तुम !
सृजन मूर्त हो, घुलते जाते मेरे मन में,
दिव्य प्रेम, प्रेरणा किरण तुम !

देख रहा हूँ, सूक्ष्म दृष्टि पा तुमसे अनुक्षण,
अन्तर्जीवन का विधान,—विस्मय विमुग्ध मन !
अमित प्रेम करता उर में अग-जग को धारण,
महत् दया भरती रहती जन धरणी के व्रण !

अपरिमेय सौन्दर्य सृजन हो रहा निरन्तर,
अति अजेय आनन्द तरंगित जीवन सागर !
खुल प्रकाश पटलों पर चिन्मय पटल अनश्वर
आलोकित करते जड़ चेतन के असंख्य स्तर !

वीणा मेरी देह : शिराएँ शोणित झंकृत,
मांस पेशियों में पौरुष की स्वर लिपि अंकित;
मुक्त स्वर्ग संगीत रुधिर में बहता अविदित
जब मैं कर्मठ अंगों को करता संचालित ?

हृदय, राग सर पद्म, गन्ध पावक मधु विरचित,
अमृत प्रीति जिसको घेरे नित रहती गुंजित;—
स्वर्ग दीप वह, स्वर्णिम ज्योति शिखा छवि मण्डित,
तुम जिसकी शोभा जीवन में करते वितरित !

मेरा मानस आशा के मुकुलों का मधुवन,
जिन पर स्वप्नों की छायाएँ कँपती प्रतिक्षण !
स्वर्ण मरन्द भरे भावों के इन्द्रधनुष घन,
जिनकी सौरभ पी रोमांचित रहता यौवन !

रजत शान्ति के अमित व्योम से आत्मा वेष्टित,
बाहर के संघर्षों से रहती संरक्षित,—
अन्तःकरुणा, ज्योति, प्रीति, आनन्द अपरिमित
वज्रमुष्टि जड़ में चेतन को करते विकसित !

अमृत तत्त्व में शोभा मज्जित करते तन-मन,
प्रिय प्रकाश, स्वर्गिक निर्झर तुम !
कलुष पंक में पावन रसती पंकज जीवन
चिर प्रतीति, करुणा की वर तुम !

फूलों का दर्शन

ये जो रंगभूम कुसुम खिले
मधु के उपवन में,
ये कुछ बातें कहते मन में !

भू रज से तन, किरणों से रँग,
नभ से रूप, अरूप अनिल से
मृदुल रेशमी पंखड़ियों के ले अँग,—
ये कृतार्थ करते बीजों को
सौ रंगों में विहँस एक सँग !

निःस्वर शोभा, मुखर गीत बन,
गूँजा करती वन - वन उपवन
मधुकर में भर प्रीति की उमँग !

मिथ्या उनका जीवन दर्शन
जो विभिन्नता से वियुक्त कर
खोज रहे एकता सृष्टि में,
रिक्त एकता का कर यान्त्रिक नग्न प्रदर्शन !
मेरे उपवन की विचित्रता
पूर्ण एकता का एकान्त निदर्शन !

निर्गुण मिट्टी से ये अनुक्षण
रूप रंग मधु गन्ध कर ग्रहण,
धरती के मधुपुत्र, मुक्त मन,
करते भू को आत्म समर्पण,—
बहु में एक, एक मे बहु के
मूर्तिमान बन जीवन दर्शन !

ये जो सौरभ फूल खिले काँटों के वन में,
ये हँसते रहते रे मन में !

आविर्भाव

मेघ नही, आनन्द मत्त क्षण,
वृष्टि नहीं, सौन्दर्य सुधा कण—
डूब गये मन, बुद्धि प्राण तन,
उमड़ा जीवन प्लावन !

दिशि-दिशि इन्द्रधनुष फहराओ,
बर्हं उभार मयूर नचाओ,
श्रद्धा पंखड़ियाँ बरसाओ
गाओ मंगल गायन !

स्वर्ण पद्म-सा मानस मे स्मित
नव जीवन चैतन्य प्रस्फुटित,
भू दिगन्त मधु सौरभ मज्जित,
शान्त धरा संघर्षण !

देव मनुज पशु को कर अतिक्रम
शोभित वह जन भू प्रिय निरुपम,
अपने ही में स्वतः पूर्णतम,
अर्पित नव यौवन बन !

स्नेह स्पर्श

युग का ईर्ष्या गरल
द्वेष का छिपा तुषानल,—
मैंने छुआ न उसको
स्वयं हुआ वह शीतल !

युग की कुण्ठा का मन,
कौन उसे दे ईंधन ?
उमड़-घुमड़ गर्जन-भर
झरते घन, बन जल कण !

नव भावोदय निश्चित
संग अभाव लाता नित,
विकृति प्रकृति को करती
संस्कृति को न प्रतिष्ठित ?

पशु बल भले अपरिमित,
आत्म शील अपराजित;
क्या प्रकाश को छाया
छू सकती, कर आवृत ?

घृणा घाव नित करती,
प्रीति घाव क्षत भरती,
स्नेह स्पर्श से ही रे
हरी - भरी यह धरती !

नवोन्मेष

यह असंख्य वर्णों का इन्द्रधनुष खुल सहसा
फहराया कब अपलक मनोगगन में !

फूलों के सतजल पावक से ढँकी दिशाएँ
गौर प्रभातों में न्हायीं तनुश्याम निशाएँ
मोर पंख के नील चक्षु ध्वज मुकुट सहस्रों
दमक उठे दृग श्यामल घन में !

यह असंख्य आकांक्षाओं का इन्द्रधनुष कब
फहराया तृण - तृण में, कण में !

पुष्पों की पंखड़ियों पर रंगों को ओढ़े
सोये जीवन सपने,
स्वर्ण मरन्दों में लिपटी मधु आकांक्षाएँ
जगीं,—लगे अब
पंख सुरभि के कँपने !

भावों की ऐश्वर्य राशि से निर्निमेष दृग,
पलक लगी थक झँपने !

राग द्वेष, वेदना, निराशा, कुण्ठा विष पी
पंक सने मन लगे
अनास्था दग्ध कलपने !

शान्त, शान्त हो, प्राणों के मन,
शान्त गुह्य आनन्द तड़ित् घन !
भाव भूमि, प्रेरणा भूमि, आलोक भूमि यह :
खुलते स्तर पर स्तर, दल पर दल,

सूक्ष्म सूक्ष्मतर—नील, बैंगनी, फालसई,
कासनी, अँगूरी,—हरित, पीत, पाटल,
दल पर दल,
कोमल, शीतल, उज्ज्वल !

शब्द शिल्प से कला न साधो,
मन के मूल्यों में मत बाँधो,
जीवन श्रद्धा से आराधो !

गिरा अर्थ से परे
बुद्धि तल से ये गहरे
शक्ति चिह्न चिद् नभ से प्रेरित,—

भू जीवन में करो प्रतिष्ठित
इन्हें कला कर अर्पित !

अन्तर्भावों का अतिवैभव
दिक् पल्लवित हुआ, पावक नव,—
रोमांचित मानस क्षण—
जीवन शोभा दर्पण !

स्वप्न सेतु-सा शत वर्णों का इन्द्रधनुष स्मित
खुलता सहसा मनोनयन में,
मोर पिच्छ के नील हरित मणि मुकुट सहस्रों
दिपते वन मे, धन में !

वाणी

कहने दो, कहने दो !
शुभ्र नील से स्वर्ण स्रोत नव
बहने दो, बहने दो !

जो अव्यक्त रहा अन्तर मे,
मुक्त, अगीत रहा ध्वनि स्वर में,
उसे प्रतीकों ही में बिम्बित
रहने दो, रहने दो !

अमित मौन में कर रस मज्जन
हुए प्राण मन चेतन पावन,

मर्म प्रीति के स्मृति दंशन को
सहने दो, सहने दो!

अविदित पथ, अवचेतन मन वन,
श्लथ मति रथ, गति रोध अति गहन,
युग तम की पर्वत बाधाएँ
ढहने दो, ढहने दो!

अतल हरित पावक जल सागर,
भरो चेतना रस की गागर,
श्रद्धा की स्वर्णिम लपटों को
दहने दो, दहने दो!

यह न ऊर्ध्वमुख शिखरारोहण
निस्तल निश्चेतन मन मन्थन,
धरा गर्त तम में निज पद तल
गहने दो, गहने दो!

नव दृष्टि

प्रथम प्रदीप जलाया तुमने!
भू मानस के गुहा द्वार में
निश्चेतन के अन्धकार में
ज्योति केतु फहराया तुमने!

टूट गयी निद्रा चेतन की
छूटी कालिमा जीवन मन की,
लीन हुए दुविधा संशय भय
मति का कलुष मिटाया तुमने!

किसे ज्ञात था, निशि विनाश की
वर्ति बनेगी नव प्रकाश की?
तम प्रकाश, चेतन ही जड़ है,
मन्त्र अमोघ सिखाया तुमने!

मौन सुनहली लौ दिगन्त स्मित
दौड़ रही दीपों में अगणित,
भव निशि का पहिला दीपोत्सव
भू पर स्वर्ग बुलाया तुमने!

नीराजन की दीप पाँति यह,
भू मनुजों की मुक्त जाति यह,
दीप्त श्रेणि की श्रेणि, व्यक्ति को
दिव्य स्व-रूप दिखाया तुमने!

आवाहन

तू के और निकट आ जाओ !
मौन, अरूप अगोचर मुख से
घूंघट नील उठाओ !

कौन प्रकाश भुवन वे भास्वर
जिनसे झरते सतजल निर्झर ?
मत धरणी की स्वर्णिम रज से
मधु सौरभ बिलगाओ !

तम प्रकाश हों, जड़ चेतन हों,
इन्द्रिय हों, आत्मा, तन, मन हों,
मर्त्य अमर को एक पाँति में
पूरक मान बिठाओ !

सहज न मानेगा मानव मन
तुम्हें इष्ट जप तप आराधन,
कर्म वचन मन को ही जीवन
पूजन बना उठाओ !

मन्दिर जन-जन का ही घर हो,
प्रतिमा भीतर की बाहर हो,
मानस के प्रति स्पन्दन क्षण को
निज प्रिय स्तवन बनाओ !

धरती प्रभु पद रज, प्रिय अर्पित,
शरद हरित, पद तल छू पुलकित,
इन्द्रिय प्रिय को व्यर्थ अतीन्द्रिय
कह, मत विरति बढ़ाओ !

सिन्धु-पथ

विचरो, यह जीवन का पथ है !
स्वर्णिम आत्म गुहा से कढ़कर
उतर रहा मन जीवन स्तर पर,
अग्नि पिण्ड खग, ज्योति पंख मग,
बरसाता आनन्द छन्द स्वर !
निज से पर की ओर निरखता
ज्ञात उसे युग का इति अथ है !

शुभ्र शान्ति के नील पार कर
रजत प्रसारों में विहार कर
तड़ित् स्फुरित सत जल निर्झर-सा
अन्तर-जीवन को निखारकर,—
दौड़ रहा आलोक क्षितिज को
मरुत वेग प्राणों का रथ है !

हरित वारि, अति हरित वारि रे
अतल अकूल अमित अपार रे
डूबो निर्भय, रस निमग्न हो
तरो, हरो जीवन विकार रे !
अन्य न पथ, भीतर बाहर गति,
मानस संशय ही मन्मथ है !
आस्था मूल्य नहीं, अनन्यता,
उर की अतिशयता, तन्मयता,
अन्तस् में डूबो,—विवेक की
बाँह गहो या पालो द्वयता,—
सदसत् की लो थाह निरन्तर
इन्द्रिय मन रे तृष्णा-श्लथ है !
तट अधिवासी, उतरो भीतर,
घट अभ्यासी, विचरो बाहर;
वितरित हो बहिरन्तर वैभव
जन जीवन हो सुखमय, सुन्दर !
खण्ड करो मत पूर्ण सत्य को,
भू-जीवन की तुम्हें शपथ है !

मनोभव

पावक की अँगुलियाँ बजातीं
भावों की जल वीणा,
मौन हृदय तन्त्री से करता
कौन पुरुष रस क्रीड़ा ?—
प्राणों को भाया !
आज ध्यान के अम्बर से हँस
प्रेम उतर आया,—
जीवन शोभा का रच उत्सव,
अन्तर में भर स्वर्णिम मधु रव,
उदय हुआ नव रूप मनोभव,
रोम हर्ष छाया !
सुख दुख भय का अन्त न उद्गम
रवि प्रकाश में भी गोपन तम;
जगी ज्योति मानस में निभ्रम
कनक गौर काया !
पावक प्रेम, प्रेम जल वीणा,
कला हुई रस सिद्ध प्रवीणा—
उज्ज्वल तमस कलुष का आनन,
जड़ उर में जागा नव चेतन,

पूर्ण हुई जन-भू उसको पा,—
वह प्रकाश - छाया,
प्राणों को भाया !

विकास क्षेत्र

स्वच्छ सच्चिदानन्द सिन्धु, आलोक राशि जल,
हीरोज्ज्वल शत वीचि, गुह्य मरकत अन्तस्तल !
मैंने मन की तरी छोड़ दी इन्द्रिय विह्वल,
रुचि स्वभाव संस्कार भरी वह, जीवन चंचल !
निरुद्देश्य निःस्पृह यात्रा : पथ प्रीति अकारण,
कूलहीन, दिशि लक्ष्य हीन,—साहसिक निदर्शन !
चिन्मय मुक्त प्रसार : अतल अस्तित्व रस गहन,
प्राणों से आनन्द तरंगित तट जड़ चेतन !
नीलम, हीर, प्रवाल द्वीप कल्पित रत्नाकर
निज अनन्य छवि से आकर्षित करता अन्तर :
फालसई, धानी, मूंगी, ईंगुरी, भास्वर
रत्नच्छाय ध्वजा फहराती मणि दण्डों पर !
भक्ति ज्ञान वैराग्य योग तप फिरते मूर्तित,
सुर बालाएँ विहँस पिलातीं स्वर्ग रसामृत !
लहरों की वेणी छहरा शत सुर धनु मण्डित
सीप पंख स्मित अप्सरियाँ करती मधु इंगित !
मेरा मन उस इन्द्रजाल पर हुआ न मोहित,—
मैं बढ़ता ही गया गूढ़ जिज्ञासा प्रेरित,—
दूर उसे उस पार दिखा पशु तम में निद्रित
मिट्टी का लघु द्वीप, क्षीण दीपक लौ कम्पित !
स्वर्ण शस्य लहराते पुलकावलि-से हँसकर,
अग्नि वीर्य गर्भस्थ योनि थी रज की उर्वर !
वहाँ मांस तन था, श्रम फल था, जय विघ्नों पर,
श्रम जल का मुक्ता किरीट मस्तक पर सुन्दर !
अरुण कमल अधरों पर मधु चुम्बन-से अंकित !
नील पीत थे भ्रमर गीत पंखों पर गुंजित !
शुभ्र सरोरुह वक्षों को कर ग्रीवा मण्डित
राजहंस तिरते स्वर्णिम लहरों पर बिम्बित !
वहाँ प्रेम था, विरह मिलन था, भाव सृजन था,
हर्ष शोक था, रस था, अनुभव था, चिन्तन था !
मैंने तट पर नाव बाँध दी,—हरित विजन था,
सम्मुख फैला अमित कल्पना नील गगन था !
वहाँ साँवली ग्राम्या थी,—शैशव की विस्मय !
उलझे थे धम्मिल्ल युगों से, आँखों में भय !
वह असभ्य थी, वन्य,—हृदय था प्रेम मधु निलय,
नगरों की लघु समारम्भ, प्राणों की-सी लय !

दिव्य द्वीप था और नहीं वैसा सागर में,
रूप कर्म था मुख्य, सिन्धु घट की गागर में!
पथ विकास का खुला, स्वर्ग था उर गह्वर में,
निशि में शशि, स्वर्णिम प्रभात भावी अम्बर में!
मुझको भाया यह प्रदेश : बोला अन्तर्मन,—
"ग्राम्या का संस्कार करो, जड़ हो नव चेतन!
मूल प्रकृति संस्कृति मे दृढ़ सम्बन्ध सनातन
प्रकृति खेत : कृषि संस्कृति : बीज अतल में गोपन!
"ईश्वर दर्शन काम्य? सृष्टि ही उसका दर्पण,
भाव स्वर्ग की साध? रूप का करो उन्नयन!
क्या प्रकाश तम भिन्न? पृथक् सदसत्, जड़ चेतन?
एक गतिक्रम मर से व्याप्त अमर तक अनुक्षण!
"प्रभु ने भू को चुना अनन्त विकास क्षेत्र हित
तुच्छ तृणों को पुष्प-मुकुट से कर वह भूषित
क्या न लुटाता निर्जन वन में मधु सौरभ नित?
पूर्ण प्रेम वह,—करुणा का ऐश्वर्य अपरिमित!"

आत्म निवेदन

ऐसा नहीं कि छन्द गन्ध रस भीने ये कोकिल स्वर
मेरी काव्य कला के शेष चरण हैं,—
नहीं, लोक मुख बिम्बित, मेरे सृजन कक्ष में,
हरित धरा-जीवन से अंकित,
धरा महत् पर्वत दर्पण है!

प्रतिच्छवित अन्तर में भावी के स्वर्णिम युग,
मनुष्यत्व का शुभ्र किरण मण्डित आनन है!
छन्द मुखर, रस भीगे, प्राणों के पावक स्वर
घुमड़ रहे अब उर अम्बरमें
मधु मादन गर्जन भर,
घेर रहे मुझको गहरी आकांक्षाओं के
नील मेघ, इन्द्रिय तम के घन केश जाल
छहराकर;

डूब रहा मैं हरे मखमली कलुप पंक में—
अतल चेतना का मद विह्वल सागर;
नहीं ज्ञात था, धरती से अम्बर तक
तमस प्रकाश रूप में
मेरी ही सत्ता के फैले
सूक्ष्म स्थूल अगणित मोहक
कामद स्तर!

स्वर्ण शिखा ले उतरा हूँ मैं गहन गुहा में,
रुचि संस्कार नहीं औ' स्मृति संचार नहीं,—
कर्दम पर बैठा जड़ आनन्द समाधित!

पाप पुण्य में दिखा कहीं भी भेद नहीं,—
बस, महाशक्ति का मुक्त प्रसार अपरिमित !
रेंग रहा तल में जो कल-कल गरल स्रोत
काले भुजंग-सा,
अमृत उत्स बन गया ऊर्ध्व मुख सज्जित :
वाणी बोध विचार भाव रस मधु प्रकाश की
स्वर्ण वृष्टि से हुए प्राण मन हर्षित !
ऐसा नहीं कि मैं प्रकाश ही का प्रेमी हूँ,
मुझे चाहिए भाव प्रेम रस, श्रद्धा पूर्ण समर्पण :
श्रेय प्रेय हो, व्यक्ति धर्म हो, लोक कर्म हो,
सबसे ऊपर, ओत-प्रोत हो रस से अन्तर,
तन्मय प्राणों में हो प्रीति अकारण !
पर्वत-सा दर्पण मानस का सूना हो या भरा हुआ
दोनों स्थितियों में तुम्हीं उपस्थित रहो
हृदय में अनुक्षण !
ऐसा नहीं कि छन्द चरण रस गीले ये
सुख - दुख सुरभित स्वर
मेरे काव्य कण्ठ के अन्तिम मर्म वचन हैं !
गूंज रहे अन्तर में भावी के स्वर्णिम युग,—
मनुष्यत्व का शुभ्र ज्योति मण्डित प्रांगण है !

मानसी

प्रिये, तुम्हें छू देखा मैंने,
स्वच्छ चाँदनी हो तुम स्मृति कूलों पर सोयी !
ओस धुली, ऊषाओं की निःस्वर द्वाभा - सी,
वन फूलों की कोमलता में सहज सँजोयी !
स्वप्न देश की परियों की मृदु राजकुमारी कोई !
प्रिय शोभा देही में खोयी !
तुम्हें बाह्य संस्कार
साज श्रृंगार चाहिए ?
ताराओं के हार,
रेशमी धूप-छाँह का भार चाहिए ?
खोलो घूँघट के पट खोलो
कल - कल प्रीति स्रोत - सी बोलो,
सहज लाज सुन्दर है
सजी - धजी लज्जा से !
इन्द्रधनुष, सौरभ, पिक कूजन,
आम्र मौर, मधुकर गुंजन,—

स्वर्णिम अँगार हैं!
शील, धैर्य, सात्विक सुन्दरता,
सेवा परता,—
जन धरणी के अलंकार हैं!
तुम भावों के वन में
अपने मन में खोयी
सौरभ मृग हो!
तुम्हें स्वप्न संसार
कामना ज्वार
प्रणय उपचार चाहिए?
हृदय मुकुल उपहार
मोह झंकृत निजत्व का तार चाहिए?
खोलो रुचि के बन्धन,
स्वच्छ धरो उर दर्पण,—
जो दैवी सम्पद् है!
रूप, कीर्ति, सुख भोग,
असूया, तुलना, स्पर्धा,—
जीर्ण मानसिक रोग!
क्षमा, दया, अनुराग,
द्वेष मद त्याग,
श्रेय श्रम भाग
चाहते तुमसे लोग!
स्वर्ग न भू से दूर,—
शान्त सुख नील गगन है,
वायु में नव जीवन है,—
शस्य स्मित हरी धरा है,
विश्व आनन्द भरा है!
आत्मवाद की क्रूर शिला से टकरा,
हृदय न करो चूर!
प्राण, तुम्हें छू देखा मैंने,
तुम जीवन की हरियाली धरती में [illegible]!
मधु धुली, सुनहली चेतना की [illegible],
ज्योतितमस, मधुरस पावक में [illegible],
क्रम विकास पथ की [illegible],
[illegible]!

फूल की मृत्यु

[अलमाण्डा के प्रति]

पुष्पराग [illegible]
शुभ्र [illegible]

स्नेह का लो अभिवादन !
मधुर प्रतीक्षा, गूढ़ परीक्षा बाद खिले तुम
रजत वृन्त पर फूल,
स्वर्ग शोभा के दर्पण !

तन्वी प्रीति लता थी कब से
एक पैर पर खड़ी
सूर्य का करती पूजन;—
सुघर रूप धरकर आये तुम
कला पारखी,
स्वर्ग हास,—सौन्दर्य बोध—
गति क्रम विकास में लाये नूतन !

चार दिवस हँस,
स्वर्णिम स्मृति - सी
भाविक कृति - सी
हलकी भीनी सुरभि उड़ेल
अनिल अंचल में—
आर्द्र वाष्प कण गुम्फित,—
पावस की तैलाक्त साँझ में
आज अचानक
तुम चुपके झर गये धरा पर :
मौन,...

खड़ा मैं रहा देखता
गूढ़ हर्ष से पुलकित,
विस्मय स्तम्भित !

कैसा था वह पावन-गोपन—
पूर्ण मधुर लक्षण !
कैसा तन्मय आत्म समर्पण,
प्रणय निवेदन !

धरती का प्राकृतिक बोध—
प्रच्छन्न चेतना—,
गूढ प्रेरणा—
आर-पार छू गयी तड़ित्-सी
मेरे उर को तत्क्षण !

नहीं मृत्यु भय का अब कारण,
नहीं दु:ख संशय का दंशन,—
निधन द्वार कर पार
मुक्त हो गया आज मन
पा नव जीवन दर्शन !

तुम झरे गये
कि अमर बन गये

मर्त्य सुमन ?
यह जन्म मरण गत परिवर्तन
या नव्य जागरण का क्षण
निःस्वन ?

सुन्दर,
तुम हो मर्त्य अमर !—
क्षण जन्म मरण जीवन मन से पर
एक चेतना आज छू गयी अन्तर !—
जिसमें विश्व चराचर !

भ्रान्ति नहीं यह,—
पूर्ण शान्ति
स्वर्गीय कान्ति
छायी स्मित मुख पर निःस्वर !
श्रद्धानत
सन्ध्या रत जग
भगवत् चरणों पर !

पुनर्नवा

तुम निःस्वर आकाशों में
निःसीम समायी
शुभ्र नील पुष्पों वाली !
अब हरी-भरी लहरी - सी चल
जन-भू के आँगन पर छायी
रक्तिम फूलों से भर डाली,
फिर पुनर्नवा !

वे मौन बुद्धि के अगम शिखर
थे अतल नीलिमा में खोये,
भावों के जलधर जिन्हें घेर
करुणा कोमल अन्तर रोये !

तुम स्वर्णिम जल फुहार-सी भर
धरती पर आयी सहज उतर,
जीवन की हरियाली में हँस
बिछ गयी धूलि पर बिखर, निखर!
तुमने दी मन को नयी दृष्टि,
तुम भाव वृष्टि,
नव काव्य सृष्टि,
चिर पुनर्नवा !

वज्र के नूपुर

रणन झनन झन,
रणन झनन !

बजते दिङ् निःस्वर मन्द्र तार
अम्बर वीणा के भर दुःस्वप्न :
नीलिमा मौन झंकार
गूंजती रणन झनन झन,
रणन झनन !

घिरते रण के घन
रक्त पंख, धूमिल, भीषण !
हंस महानाश भरता गर्जन !
लो, पहन प्रलय की चल पायल
शत तड़ित् नग्न करतीं नर्तन !

यह महा मृत्यु का भ्रू विलास,
भर रही दिशाएं अट्टहास,—
अब बजा वज्र के मधु नूपुर
मदमत्त नाचते दानव सुर !

यह प्रलय लास,
कटु रुद्र हास !

आ रही शान्ति ?
छा रही शान्ति !
मिट गयी भ्रान्ति,
हरि ओम् शान्ति !

क्या भय ?······
जो अक्षय जीवन घन
बरसाता आशा उर्वर कण,
वह करता अणु पावक वर्षण
बो बीज सृजन के नव चेतन !

सच, जन्म मरण से पर
अविनश्वर
मानव आत्मा का प्रांगण !

कौवे

कांव - कांव करते कठ कौवे
कांव-कांव, कटु कांव - कांव !

सिहर उठा, निश्चेतन का तम
(राग द्वेष स्पर्धा कुण्ठा भ्रम !)
क्रुद्ध, रुद्ध लघु व्यक्ति का अहम्,
क्षुब्ध पीटता द्रोह पांव !

फैला काले डैने
घिरते भय के घन

कँप उठता शंकाऽकुल भू मन
खड़ी प्रेत-सी मृत्यु छाँव !
नव चेतन के अरि ये दुर्धर,
वह पावक कण, ये तृण भूधर,
लोट रहे अघ अजगर रज पर
खल मुँह बाये,—खाँव, खाँव !
क्षुधित कामना सिन्धु उफनकर,
अग्नि स्तम्भ - सा उठता ऊपर,
सिर पर सूर्य, तले तम गह्वर,
उभय पड़ोसी, एक गाँव !
ध्यान मौन जब खींच लिया मन
विहँस उठे दल, भुवन पर भुवन,
शीश चरण नत, निखिल भवार्पण,
दर्प सर्प का व्यर्थ दाँव !
अटल शान्ति रे, नीलतम गगन,
गहन भाव जल होता अनुक्षण,
लय, तन्मय मन,—केवल, कारण—
संशय भय को कहाँ ठाँव !
काँव - काँव करते कठ कौवे,
काँव - काँव !

विकास क्रम

मत रोको, निर्मम, मत रोको,
तुच्छ शलभ की तारा बनने की अभिलाषा !
तृण तरु कण के उर की आशा,
भू जीवन विकास की श्वासा
मत रोको !
उत्सुक अनगढ चिह्नों से
अंकित जग का मग,
बढ़ते ज्योति क्षितिज को खिंच
अनगिन अदृश्य पग;
मत रोको, दुर्गम, मत रोको
जड़ की फिर चेतन बनने की
गहन पिपासा !
पंखड़ियों के पंख लगा
अलि भरते गुंजन
आम्र मौर के मुकुट, पहन
पिक करते कूजन;

पल्लव चित्रित अन्तरिक्ष
मधुमर्मर मुखरित,
नील दिशाओं के गवाक्ष
सौन्दर्य प्रज्वलित;

मत रोको, दुर्दम, मत रोको,
बहु की एक, एक की बहु के
प्रति जिज्ञासा !

दुर्गम असि पथ, क्षत विक्षत पग,
क्षण कुण्ठित गति,
अमित सिन्धु, गिरि तिमिर भरी
तृण तरी अल्प मति;

अति झंझा, मन्थित सतजल,
हिल्लोलें दुस्तर,
हँसते स्वप्न, खड़े फनों पर
रश्मि देह धर;

मत रोको, उद्गम मत रोको,
गूढ़ अभीप्सा रत भूतों की
इंगित भाषा !

स्वर्णिम किरणों की निर्झरिणी
बहती अविदित,
तारात्रों को दुह, प्रकाश
जन करते संचित;

ढँका राख से रवि का
पावक मुख कनकोज्ज्वल,
तप्त रेत के भीतर रे
बहता शीतल जल;

मत रोको, गतिक्रम मत रोको,
बृहद् विश्व अश्वत्थ
प्रेम पंछी का वासा !

अर्थसृष्टि

वाणी,
भू मंगलमयि,
जन कल्याणी !

शस्य हसित, श्री स्वर्णिम अंचल
सिन्धु हरित उर, नील दृगंचल,
शशि,··· मराल,··· कदली,··· कुवलयदल,···
जन - मन की पहचानी !

श्रेय प्रेय की गेय सृष्टि तुम,
ध्वनि गुंजित रस पुष्प वृष्टि तुम,
जीवन मन में सूक्ष्म दृष्टि तुम,
मानव मर्म कहानी !

जड़ से हो विच्छिन्न न चेतन,
आत्मा से रे भिन्न न तन - मन,
इह पर में हो भक्त न जीवन,
भर्त्सित हों शुक ज्ञानी !

कर्म वचन मन ही हो पूजन,
निखिल सुकृत फल भव को अर्पण,
मानव प्रति हो प्रीति अकारण
प्रभु अभिन्न, बक ध्यानी !

लोक मुक्ति ही व्यक्ति ध्येय हो,
आत्मोन्नति का स्वर्ग हेय हो,
प्रीति ग्रथित जीवन अजेय हो,
हठ न करें शठ, मानी !

मानव एक विविध मुख बिम्बित,
धरती एक, दशों दिशि खण्डित,
मनुज ऐक्य वैचित्र्य विनिर्मित,
जन न करें मनमानी !

ऊर्ध्व बीज है, मूल अतल में,
जीवन भले पला हो जल में
मूल्य न सीमा के करतल में,
कथा गूढ़ रे ज्ञानी !

रूपान्तर

साधना करो युग कृष्ण, साधना करो राम,
फिर लीन ब्रह्म में ग्रहण करो नव रूप नाम !

गत धर्म, नीतियों, संस्कृतियों को अतिक्रम कर
आवाहन करता रूढ़ि मुक्त मानव अन्तर,—
अब बदल गये गत श्रेय प्रेम सदसत् के स्वर
शिव सुन्दर होता जाता शिवतर, सुन्दरतर !

अब एक विश्व का स्वप्न इन्द्रधनुषी ऊपर
नीचे उफनाता शत फन जन मत का सागर,
बाहर केवल अणु बल विनाश का जन को डर,
पर भीतर अगणित दीवारें दारुण दुस्तर !

बन्धन असंख्य, शृंखल अनन्त, अन्तस् खण्डित,
घन अन्धकार आवरणों से प्रज्ञा आवृत !
मन बहिर्भ्रान्त, आक्रान्त हृदय,—स्पर्धा दंशित,
जड़ लौह रज्जु-सा ऐंठा मनुज अहं दर्पित !

मैं देख रहा, कर पार ध्यान में भू मानस,
श्रो' वेध गुह्य मानव का अन्तरतम अन्तस्,
झर रहा कनक आलोक राशि चेतस् अम्भस्,—
सो राम कृष्ण नव खेल रहे शिशुओं-से हँस !

सम्पूर्ण जगत् का रहस हो रहा रूपान्तर,
आलोकित होते निश्चेतन उपचेतन स्तर,—
हँसता चिन्मूर्त प्रकाश शुभ्र मानव तन धर
चैतन्य बिम्ब नव सूर्य चन्द्र शत रहे निखर !

यह अधिमानस की कान्ति धरा तल पर बिम्बित,
आत्मा को घेरे रजत शान्ति का व्योम अमित !
संयुक्त हो रहा विश्व, चेतना में विकसित,
मानवता को होना भीतर से संयोजित !

साधना करो मोहन, सोहन, घनश्याम, राम,
फिर डूब हृदय में ग्रहण करो भव रूप नाम !

रूपं देहि

ये भारत के ग्राम निवासी,
क्षुधित देह मन, आँखें प्यासी,—
जीवन वैभव से हों परिचित !
इन्हें रूप दो !

घर-घर गीत वसन्त गुँजाओ,
इन्द्रधनुष ऋतु घन फहराओ,
रंग गन्ध मधु मे नहलाओ,
लोग रहें न अभाव अहि ग्रसित !
इन्हें रूप दो !

बाह्य रूप हो पहिले सुन्दर,
जानें जन, जीवन प्रभु का वर,
देखें ईश्वर का मुख बाहर,
छँटे दृष्टि तम ज्योतिर्मण्डित !
इन्हें रूप दो !

धुले असुन्दरता तन - मन की,
भय संशय कुण्ठा क्षण-क्षण की,
मिटे दमित तृष्णा जीवन की,
पीएँ अन्तस् सरित का अमृत !
इन्हें रूप दो !

नगर नरक,—जन कीर्ण अप्राकृत,
ग्राम स्वर्ग हो, संघ विकेन्द्रित,
सरल सौम्य सात्त्विक जीवन मित,

शिक्षित न हों, लोग हों संस्कृत !
इन्हें रूप दो !

भारत के जन ग्राम निवासी
मनुष्यत्व के हों अभिलाषी,
भू सम्पद् जन श्रम की दासी,—
जीवन रचना हो दिक् कुसुमित !
इन्हें रूप दो !

जयं देहि

ये धरती के नगर विलासी,
क्षुधित हृदय, आकांक्षा प्यासी,
निज आत्मिक निधि से हों परिचित !
इन्हें भाव दो !

अन्तर्मुख हो उड़ती चितवन,
निज स्वरूप को पहचाने मन,
स्वच्छ हृदय ईश्वर का दर्पण,
भीतर चित् आनन्द भुवन स्थित !
इन्हें भाव दो !

आत्म जयी, भोगें जीवन सुख,
जन समाज का दुख हो निज दुख,
हृदय न हो भू सत्य प्रति विमुख,
ध्येय एक जग जीवन, जन हित !
इन्हें भाव दो !

राष्ट्र वर्ग से निखरे मानव,
जाति वर्ण के क्षय हों दानव,
नव प्रकाश भव का हो अनुभव,
रहे न मन भौतिक तमसाऽवृत !
इन्हें भाव दो !

सभ्य देश बाहर से संस्कृत,
भीतर बर्बर, आत्म पराजित,
घृणा द्वेष स्पर्धा भय पीड़ित,—
काल दंष्ट्र में रे ये अणु मृत !
इन्हें भाव दो !

ये धरती के नगर विलासी
जन - भू के हों नियति विकासी,
रहे न अन्तर्जगत प्रवासी !—
इन्हे भाव दो !

इन्द्रिय सुख से रहित मान मानव आत्मा को
बना गये तुम जीवन को मरुथल
आशाऽकांक्षा को मृगजल !

काम दग्ध है, क्या सोचा तुमने—प्रसंग बन
खोल न पाये काम ग्रन्थि तुम, मुक्त न कर पाये
निज निर्मम इन्द्रिय कुण्ठित प्राण क्षुधित
अन्तस्तल ?

उदर क्षुधा को स्वीकृति दे, अब अर्थ भित्ति पर
जन समाज का उठता जड़ प्रासाद,—
अस्थि पंजर स्फटिकोज्ज्वल !

काम उपेक्षित युगों-युगों से, मनुजोचित संस्कार
न कर पाया, पशु स्तर पर कलुष पंक में सना,
वासना विह्वल !

इन्द्रियजित् तुम ? धिक् अबोध ! तन मन प्राणों से
स्वर्णिम आत्मा को बिलगाकर
स्वर्ग बीज को धरती से कर वंचित,—

नष्ट हुए विद्याऽन्धकार में भटक स्वयं तुम,
तन मन इन्द्रिय आत्मिक पोषण रहित
पुष्प स्तवकों-से कुम्हला, हुए अविद्या तम दूषित,—
जर्जर, जीवन-मृत !

धन्य आत्म द्रष्टा, स्रष्टा की सृजन कला का
पी न सके तुम स्वच्छ विषय मधु,
आनन्दाऽमृत !

ताप-हीन कर रवि प्रकाश को,
प्राण-हीन मानव आत्मा को;—
ब्रह्म रन्ध्र से मुक्ति शून्य में
उसे कर गये निष्फल लुण्ठित;—
जीर्ण वस्त्रवत्,
देह प्राण मन स्पर्श कलंकित !

निश्चय ही, दुर्धर्ष समर जन युग के सम्मुख,—
मानव आत्मा को जाग्रत् हो
भीतर से होना नव दीपित,
बाहर से विस्तृत, नव विकसित !

मिट जाये शिर का कलंक (भीतर अमरर्य है मर्त्य !)
मुक्त हो काम द्रोह से (काम दासता जो !)
मानव पाये स्वरूप निज

तन मन प्राणों से ज्योतित,
नख शिख संयोजित !
स्वीकृत कर सम्पूर्ण प्रकृति को, पूर्ण मनुज को,
फिर से हो जीवन पदार्थ का, मनोद्रव्य का,
स्थूल सूक्ष्म का सागर मन्थन,
नव मूल्यांकन !
निश्चेतन, उपचेतन भुवनों को दीपित कर
प्राण कामना का पंकिल मुख धोकर
उसको स्वस्थ मूल्य दे मानव,
निज स्वीकृति दे नूतन !
तब देखे मानव आत्मा को
पूर्ण कलाओं में वह विकसित,
बाहर भीतर के ऐश्वर्यों से आलोकित,
स्वयं प्रकाशित,—
पावनता आनन्द प्रेम शोभा महिमा की
जीवन प्रतिनिधि जन धरणी को
स्वर्ग बना देगी वह निश्चित !

घोंघे शंख

[सभी नहीं]

घोंघे, शंख, चाँद के टुकड़े, सीप, कौड़ियाँ···
राज मरालों से उड़ते
भावों के पर छटपटा
रिक्त कल्पना गगन में !
घोंघे···शंख···
मोम, फूल, मेमनों,
मेंढकों, वन चूहों की
काव्य सैन्य नव देख
गीदड़ों, चीलों के संग
भाव सहस्रों जलते-बुझते
फुलझड़ियों - से मन में !
रह-रह तड़ित् तमक उठती,
शत प्रश्न चिह्न जग, गरज
घुमड़ते सिन्धु धूम के गहरे घन में !
घोंघे···शंख···
जगमग, जगमग,
नव खद्योतों से दीपित मग
प्रतिपग,
जगमग !

बदल गयी कविता की सज्जा
रक्त, ग्रस्थि, त्वक्, मज्जा !
बिगड़ गयी भावों की धज्जा,
ढीठ दीठ ग्रब, उर में लज्जा !
सूना छज्जा !!

छाया छाँव बनी पछाड़ सा,
कुत्ता लेंडी बना हाड़ सा,
(चूहा शेर बना पहाड़ सा !)
पथ ग्रँधियारा गलियारा बन
भटक गया, खो गहन व्यथा के वन में,
चन्दा के ग्राँगन में !

छायावादी शब्द योजना
ग्राम बोलियों का ग्राँचल गह,
ग्रटपट स्वर तुतला, क्या कुछ कह,
घुटनों बल चल, उठ-गिर रह-रह
फिर प्रवेश करती ग्रनजाने
नव बचपन में !

छायावादी मुक्त कल्पना,
गद्य बद्ध बन गल्प जल्पना
शाब्दिक राँगोली सँवारकर
फूल बेल बूँटे उतार कर,
ग्रनगिन बिम्बों को उभारकर
रचती नव ग्रल्पना
शारदा के ग्राँगन में !

छायावादी विश्व भावना
सृजन प्रेरणा,
धरा स्वर्ग सौन्दर्य सर्जना
लुप्त हो गयी, ग्रति वैयक्तिक, ग्रति यथार्थ बन,
कुण्ठा के नैराश्य वेदना भरे
ग्रँधेरे ग्रवचेतन में !

कहाँ शब्द संगीत ग्राज ?
(लिखने में लगती लाज !)
छन्द तुक के ग्रंकुश से ऊब
(गया हो गज गोपद में डूब !)
ग्रर्थ की लय में श्रवणातीत
हुग्रा रस मग्न शब्द संगीत !
ग्रलंकरणों से नग्न,
कण्ठ स्वर कुण्ठा भग्न !!
कछुए - सी मन्थर ग्रति मन्थर
कवि प्रिया चलती पद-पद पर,

छन्द भाव रस को समेटकर,
अपने भीतर,—
सुदृढ़ पीठ को बना चर्म फर !
जगमग जगमग
ज्योतिरिंगणों से ज्योतित जग
पग - पग,
जगमग !
बौद्धिक शिशु मत कहो किसी को !
विश्व प्रकृति से, मानवता से,
जन धरणी से नेह निभाना
(ग्रांख लड़ाना ?)
क्या सम्भव है ?
क्यों ? सम्भव है ?
जब सर्वत्र निराशा, कुण्ठा, अन्धकार का
आत्म वेदना, हीन भावना, अहंकार का
उमड़ा जग में पारिप्लव है !
घोर अनास्था का मन में मचता विप्लव है !
क्या सम्भव है ?
बोलो,
क्या सम्भव है ?
अब उदास मुख लगता सुन्दर,
अब विषाद सुख से प्रिय बढकर !
आशा के गाने
जन-मन अभिलाषा के कर्मठ तराने
सभी मूल्य जाने, अनजाने,
अधपहचाने,
आज नहीं रखते कुछ माने,
नही, नही रखते कुछ माने,
हम कहते, सच जानें !
तभी स्यार भेड़ियों, गिरगिटों, भेड़ों में जम,
छिपकलियों, बीछियों, केंचुवों, बरों मे रम,
जीवन की कल्पना सिसकती
बन कड़ुवाहट !
घुग्घू घबड़ाते प्रकाश से,
गँदुर उलटे लटके रहते,
दिन - भर
मुख पर
दे
घूँ—
घट
पट !

नम्र अवज्ञा

वे कहते :
मैं भाव नहीं, केवल प्रभाव हूँ,
सूझ नहीं, केवल सुझाव हूँ !
सच यह :
मैं केवल स्वभाव हूँ !

वे कहते :
मैंने प्रकाश को ग्रहण किया
इससे···उससे,···
जिससे···तिससे,···
किससे···किससे !

सच यह :
स्वयं नहीं छू पाये वे प्रकाश को,—
उसे समझते वे
इससे···उससे,···
जिससे···तिससे,···
औ' जाने, किससे···किससे !

अधिक क्या कहूँ ?—सत्य गूढ़ !
पर, सबसे भले विमूढ़ !

उन्नयन

रहस अचेतन तम की
साँपों की वेणी को
धीरे छूओ, सुलझाओ, खोलो, मन !
युग-युग के शैवाल जाल-से
मानस जल में छाये तृष्णा के घन !

घनी निशाएँ,—नहीं दिशाएँ सूझ रही अब !
स्वप्नों के पंखों उन्मन
उड़ते अपलक लोचन !
गहन कूप-सा, सँकरी बाँबी-सा
निम्नोन्मुख, गुह्य देश यह
घोर पंक में लिपटा प्राणों का धन !

लो, प्रकाश मणि से भूषित कर साँपों के सिर,
छेड़ो, बीन बजाओ, उन्नत हों फन,
उजियाले हो सकें बिलों में रहनेवाले
जड़ अँधियाली के सहस्र फन आनन !
खोलें कुण्डल, झाड़ें केंचुल,—
हाथ-पैर मारे तम,—गति ही जीवन;

शक्ति भुजंगम जगे,—
ऊर्ध्व गति रीढ़ वंश पर
गमन करे—चैतन्य गगन में
भर प्रकाश के प्लावन !
तम प्रकाश केवल दो गतियाँ,—
भू की वेणी गूँथो, सहलाओ,
धीरे खोलो, मन !
स्वर्ण किरण उतरी गहरे मानस जल-तल में
पंकज मन हो सूर्योन्मुख,—नव चेतन !

अन्तरिक्ष भ्रमण

ब्रह्मोदधि में लीन,
ब्रह्मस्तर से मैं देख रहा हूँ तत्पर,—
ओ मानव चैतन्य शिखे !
नवनीत ब्रह्म की हो तुम भास्वर !
ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र,—
बहु देवी देव घूमते अविरत
कृत्रिम चन्द्रों-से घेरे
तुमको,—ऋषियों के क्रीडनीयवत् !

अधिमानस पथ से ये कब से
करते परिक्रमाएँ अहरह
मनीषियों ने तुम्हें खोजने
छोड़े जो चिद् नभ में उपग्रह !
उन्हें पार कर देख रहा हूँ मैं अब,—
सम्मुख केवल ईश्वर !
पूर्ण तत्व वह, पूर्ण जगत यह,
पूर्ण उसी से व्याप्त चराचर !

युग सन्ध्या : बुझते प्रकाश में
उपग्रहों के लगता निश्चित
अधिक शक्तिमय इनसे भू के
प्राण हरित तृण तरु दिक् शोभित !
अणु विनाश भी इनके सम्मुख,
लगता तुच्छ, अप्राकृत, कुत्सित,
स्वर्णांकुर ये रूप सृष्टि के,
सृजन शक्ति स्पर्शों से पुलकित !

युग-युग से बहु शिल्प ग्रहों में
भटक, खो गया मानव का मन;—
अन्त:स्थित, चित् पथ से करता,
मैं असीम ब्रह्माण्ड का भ्रमण !

ओ कीचड़ में पले मेंढको,
तर्क, तर्क, टर...व्यर्थ मत बको!
तुम जो मल कीचड़ उछालते थूक परस्पर
वह सब मैंने सान लिया अपने अंगों पर!
कुछ भी नहीं बिगड़ सकता उससे मानव का,
वह माया मुखड़ा, झूठा थूथन दानव का!
घृणा, द्वेष, निन्दापवाद—कुत्सित रुचि के व्रण,
लोक ह्रास की विकृत कला के अधम निदर्शन;
देह प्राण मन की दुर्बलताएँ—पथ लांछन,
आत्मा के काले धब्बों से निश्चय पावन!
ओ, बिल में बसनेवाले साँपो,
मत काँपो!
क्रुद्ध खौलता मेरा शोणित,
उसमें गरल तुम्हारा मिश्रित,—
शक्ति स्फूर्ति मद से उत्तेजित
रक्त शिराएँ रहतीं झंकृत!
नवोन्मेष में विष दन्तों का कर उन्मूलन
मैं तुमको दूँगा नव दर्शन,
सौम्य स्मित आनन!
दंश बुद्धि तुम त्याग, कर सको जिनसे चर्वण,—
भव जीवन के गहन अनुभवों पर कर चिन्तन!
ओ जन-भू के नव चेतन जन!
ओ अकाय अस्नाविर,—शुद्ध,
अपाप विद्ध मन!
देश काल गत, राष्ट्र जाति गत कायाओं से
निखरो ऊपर,
तुम इन सबसे विशद, महत्तर!
झाड़ो निज चितकबरे केंचुल,
विचरो बाहर!
नव प्रकाश का स्वर्ग नीड़ हो मानव अन्तर!
तुम्हीं लोक मन के निर्माता,
आत्म विधाता,
द्रष्टा
स्रष्टा
कला सृष्टि वर!
नव युग के नर!
पृथक् नहीं मानव से ईश्वर
तुम्हीं सत्य शिव के दर्पण मन,
कोटि कर चरण;

प्रक्षेपित लघु सत्यों से हो मुक्त,
डूब चैतन्य में गहन,
तृण तरुओं के संग खड़ा मैं,
करता प्रकृत विश्व के दर्शन !

सहज शील, स्वाभाविकता औ'
सुन्दरता में शक्ति अपरिमित,
नत शिर तृण पर्वत - विनाश से
महत्—दूत रचना के जीवित !
सूक्ष्म गहन स्थायी प्रभाव
पड़ता मन में लघु अंकुर का नित,
जुगनू - से जलते - बुझते
अणु स्फोटक तृण कर सकते निर्मित ?

देख रहा मैं,—अणु रचना के
युग को मानव मन का दानव
नव-भू गोलक - सा दंष्ट्रा में उठा
भागता जाता अति जव
महा नाश के अतल गर्त की ओर; —
ग्रहों में उड़ता मानव
देख नहीं पाता कि केन्द्र वह
निखिल ग्रहों का,—आत्म दीप्त भव !

आत्म दान

ओ अघभरी
तृष्णा हरी,
शोणित सनी
तामस घनी,
पंक मग्न
जन-वन - भू के मोहान्ध वासियो,
मैंने जग के अन्धकार को ओढ़ लिया है !
मुझे न छूयेगा वह,—
उसने वचन दिया है !

अन्धकार के भीतर से मैं बोल रहा हूँ,
जिससे समझ सको तुम मुझको,—
ओ पर-द्रोही आत्मघातियो,
ओ जीवन कर्दम विलासियो !

अब न शील का मूल्य,
विनय नय में न आत्म-बल ;
सद्गुण नहीं,
अहंता अब जन-जीवन सम्बल !
ओढ़े भू आसुरी शक्ति का काला कम्बल !

ओ कीचड़ में पले मेंढको,
तर्क, तर्क, टर···व्यर्थ मत बको !
तुम जो मल कीचड़ उछालते थूक परस्पर
वह सब मैंने सान लिया अपने अंगों पर !
कुछ भी नहीं बिगड़ सकता उससे मानव का,
वह माया मुखड़ा, झूठा थूथन दानव का !
घृणा, द्वेष, निन्दापवाद—कुत्सित रुचि के व्रण,
लोक ह्रास की विकृत कला के अधम निदर्शन ;
देह प्राण मन की दुर्बलताएँ—पथ लांछन,
आत्मा के काले धब्बों से निश्चय पावन !

ओ, बिल में बसनेवाले सांपो,
मत कांपो !
क्रुद्ध खौलता मेरा शोणित,
उसमें गरल तुम्हारा मिश्रित,—
शक्ति स्फूर्ति मद से उत्तेजित
रक्त शिराएँ रहतीं झंकृत !
नवोन्मेष में विष दन्तों का कर उन्मूलन
मैं तुमको दूंगा नव दर्शन,
सौम्य स्मित आनन !
दंश बुद्धि तुम त्याग, कर सको जिनसे चर्वण,—
भव जीवन के गहन अनुभवों पर कर चिन्तन !

ओ जन-भू के नव चेतन जन !
ओ अकाय अस्नाविर,—शुद्ध,
अपाप विद्ध मन !
देश काल गत, राष्ट्र जाति गत कायाओं से
निखरो ऊपर,
तुम इन सबसे विशद, महत्तर !
झाड़ो निज चितकबरे केंचुल,
विचरो बाहर !
नव प्रकाश का स्वर्ग नीड़ हो मानव अन्तर !

तुम्हीं लोक मन के निर्माता,
आत्म विधाता,
द्रष्टा
स्रष्टा
कला सृष्टि वर !
नव युग के नर !
पृथक् नहीं मानव से ईश्वर
तुम्हीं सत्य शिव के दर्पण मन,
कोटि कर चरण;

बैठ तुम्हारे ही भीतर
वह तुच्छ नरक से महत् स्वर्ग गढ़ रहा
धरा पर!

ओ सहस्र लोचन, सहस्र पग,
पार करो युग अन्धकार को,
हरो भिन्न-मत धरा भार को!

गरज रहा अणुबल विनाश अब!
तोड़ो, तोड़ो मोह-पाश अब!
सुनो सूक्ष्म अन्तर पुकार अब,
खोलो निर्मम हृदय द्वार अब!

यह लो नव चैतन्य!—
युगान्धो,
ग्रहण करो नूतन प्रकाश को,
वरण करो चेतन विकास को!
पावक के स्वर्णिम अंगार को!—
बनो कोल, भू जनोद्धार को!
रचो शुभ्र नव काय वचन मन
स्वागत करो मनुज का नूतन!
नव प्रभात का
खुले ज्योति मुख स्मित वातायन!

अग्नि सन्देश

गति, गति, गति,...
जड़ सक्रिय अति!

पंख लगा विज्ञान शक्ति के
उड़तीं भूधर विश्व परिस्थिति—
देख चकित मति!
डाँवाडोल धरा जीवन स्थिति,
गति, गति, गति!

इसे छन्द दो, इसे छन्द दो,
ओ युग नायक,
दुर्दम गति को सृजन छन्द दो,
नियम बन्ध दो,
लक्ष्य, पन्थ दो!
भू-जीवन को संयोजित कर
जगत धुरी को स्वस्थ स्कन्ध दो—
भूत क्रान्ति को बदल
श्रेयमय शान्ति गान में,
महानाश को अभय दान में,—

जीवन रति को प्रगति पन्थ दो,
यान्त्रिक मति को हृदय स्पन्द दो !

हे जन नायक !
विद्युत् अणु अश्वों पर चढ़कर
कृत्रिम चन्द्रों पर उड़ान भर,
क्या दोगे तुम भू के देशों को, जनगण को ?
कब जीतोगे दैन्य, अविद्या, दुख के रण को,
कब संस्कृति सम्पन्न करोगे मानव मन को ?—
परिक्रमा कर दिग् विमान में ?

वज्र मुष्टियों से पृथ्वी पर
क्या केवल विध्वंस वह्नि ज्वर बरसाओगे ?
मृत्यु गृद्ध-से मँडरा नभ पर
दैत्यों-सा दारुण गर्जन भर
महा प्रलय भू पर छाओगे ?

इसीलिए क्या अमित ग्रहों के पावक से अभिषिक्त दिशाएँ
नील अंक में तुम्हें बिठा अब घूम रही हैं ?
मानव शिशु के कर में चन्द्र खिलौना देकर
नभ अप्सरियाँ तुम्हें उठा मुख चूम रही हैं ?

ओ जन-गण अधिनायक देशो,
भू जीवन उन्नायक देशो,
तुमने जग को दिये विपुल सुख विभव उपकरण,
अतुल भूत विज्ञान,—वाष्प विद्युत् अणु साधन !
प्रस्तर युग से उठा सभ्यता भू संस्कृति को
अन्तरिक्ष के खोल दिये ग्रह दीपित तोरण !

जन को दे नव तन्त्र, यन्त्र मन,
जड़ निसर्ग को कर गति चेतन !
हाय, आज क्या तुम स्पर्धा वश
मस्तक पर ले दारुण अपयश,
महानाश बरसाओगे जीवन प्रांगण में ?
(लज्जा तुम्हें नहीं आती निर्मम, निज मन में !)
पूर्ण प्रलय होगा वह ?—अन्त धरा का निश्चय ?
मृत्यु सभ्यता की ? मनुष्य की आत्म पराजय ?

किन्तु नहीं,—विश्वास नहीं होता कुछ मन में,—
(अथवा यह क्या वन रोदन भर बधिर श्रवण में ?)

तुमको अणु रचना करनी जीवन की नूतन,
शुभ्र शान्ति का फहरा नभ में स्वर्णिम केतन !
धरा-स्वर्ग की स्वप्न-कल्पना को अब निश्चय
तुम्हें मूर्त करना,—अणु दानव पर पाकर जय !

चन्द्र कलश प्रासाद रचोगे तुम दिग् विस्तृत ?—
कैसा होगा वहाँ भाव ऐश्वर्य उल्लसित ?

कैसा नव चैतन्य ? मानसी भूति अपरिमित ?
कैसा संस्कृत जन-जीवन-सौन्दर्य अकल्पित ?

अणु बम यहाँ बनायेंगे क्या सभ्य शिष्ट नर ?
शीत युद्ध से कम्पित कर शंकित भू-पंजर !
घृणित अस्त्र-शस्त्रों में कर जन धन श्रम का क्षय
क्षुधित अशिक्षित भंगुरता पर पायेंगे जय !

यहाँ यही भू कर्दम कृमि रेंगेंगे शोषित ?
राग द्वेष मद स्पर्धा भय कुण्ठा में पोषित ?
अन्तर्जीवन शून्य, बहिर्जीवन से मर्दित,
सामूहिकता विचरेगी तोते-सी संस्कृत ?

परिवेशों के संग हो सका
क्या युग मन भी विकसित ?
बाह्य रूप ही मानव का
विज्ञान गढ़ सका किंचित् !

यह लो, नव मानुष्य;—सत्य का स्वर्णिम पावक,
मानस का नवनीत, लोकगण का अभिभावक !
वितरण करो इसे जन-जन में, उड़ अम्बर में,
बरसाओ जीवन मंगल भू पर, घर-घर में !

हृदय वह्नि यह, हिंस्र ताप से रहित, अनामय,
निर्मायक यह, शान्ति विधायक,—जन हों निर्भय !
रश्मि वेग से विचर व्योम में, ग्रह उपग्रह पर
बाँटो नव आलोक अमृत, कृतकृत्य हों अमर !

अग्नि बीज आत्मा के नव चैतन्य प्ररोहित—
अम्बर पथ से करो इन्हें ग्रह-ग्रह में वितरित !
भू-रज में लिपटाकर, श्रम जल से कर सिंचित
जन मंगल की कृषि से करो धरा को उपकृत !

देश किया विज्ञान ने विजित,
ज्ञानाऽमृत हो काल मृत्युजित् !

अभिषेक

ओ हे भू जन !
मैं अभिषेक तुम्हारा करता हूँ,—
नव चेतन
वाणी के आनन्द छन्द से,
रूप स्पर्श रस गीत गन्ध से,
मानस जल, जीवन पावक से,—
दीक्षा लो, हे, दीक्षा,
कवि, द्रष्टा, भावक से !

धर्म, नीति, संस्कृतियों,
खंडहर रूढ़ि रीतियों,
जाति-पाँतियों, परम्पराओं के प्रेतों से
आत्म पराजित,—
राग द्वेष, भय क्लेश, अनास्था से चिर कुण्ठित,
वैमनस्य, वैषम्य, स्वार्थगत मतभेदों की
घृणित भित्तियों में सीमित, शत खण्डित,—
ओ बहु प्रायिक तान्त्रिक स्पर्धाओं से पीड़ित,
सैन्य शक्ति, शस्त्रों से सज्जित,
भौतिक मदिरा पी प्रमत्त, अणु मृत, जड़ चेतन !
मैं नवीन चेतना प्राण मन के मधुत्रय से
अभिषेकित करता हूँ आज तुम्हारा जीवन,
अभिमन्त्रित करता हूँ तन-मन,—
लो, हे, युग अभिनन्दन !
आत्मा का स्वर्णिम प्रकाश कण
भू कर्दम कल्मष तम का उज्ज्वल कर आनन
श्री शोभा मंगल से भर दे
भू-जीवन का प्रांगण !
अभिवादन करता मैं सविनय,
बाँट तुम्हें कवि मानस संचय,
सहभोगी तुम जिसके निश्चय !—
तुम जो तुच्छ घिनौने, दुष्कृत पंक में सने,
स्वार्थों में रत, जीवन के प्रतिरोध में तने,
युग - युग के प्रतिषेध-से बने,—
दोष हीन तुम,—जाड्य घरा मन का यह दुस्तर,
लोक मूल्य जम गये चेतना में पथराकर !
मुक्त आज करता मैं बन्दी प्रेतों को गत,
उड़ते लो, अन्धड़ में हत छाया पंजर शत !
विगत युगों का अमृत तुम्हें हो गया हलाहल,
भूत नहीं, भावी अंचल में जीवन मंगल !
भू मानस कटु सीमाओं मे क्रूर विभाजित,
एकांगी मूल्यों में मानव जीवन खण्डित !
भू प्रकाश मे अन्धकार युग - युग का मिश्रित,
इसीलिए मिलता विरोध जीवन में निश्चित !
मानव के बाहर भीतर चल रहा आज रण,
मन की सीमाओं से पीड़ित गत मूल्यांकन !
आओ, हे, यह नव्य लोक, यह पूर्ण · जागरण,
लो स्वर्णिम मानुष्य,—स्वयं जो अपना दर्पण !
यह वरेण्य चैतन्य,—तुम्हें करता अभिमन्त्रित,
नव प्रकाश, नव जीवन मनस् करेगा निर्मित !

भाषा की सीमा के भीतर सार ग्रहण कर
धरा स्वर्ग पर प्राप्त करो हे नव जीवन वर !

ऐसा भव्य प्रकाश, दिव्य आनन्द अखण्डित,
नहीं धरा पर कभी आज तक हुआ अवतरित !
ऐसा श्री सौन्दर्य, लोक कल्याण अकल्पित
प्रथम बार पाया जग ने पावित्र्य अपरिमित !

वाणी दो हे, इसे मुक्त गीतों छन्दों में,
गूंथो पार्थिव रूप रंग मधु रस गन्धों में;—
अभिव्यक्ति दे इसे निखिल जन-भू का जीवन,
भाव मुक्ति से हो धरणी का मानस पावन !

सत्य वह्नि यह, बने क्रान्ति दावाग्नि महत्तर,
शिव से शिवतर हो, सुन्दर से हो सुन्दरतर !
गत को अतिक्रम कर बढ़ता नित मुक्त भविष्यत्
आओ हे युग पंगु, चढ़ो, सम्मुख रवि पर्वत !

नवोन्मेष में जन गण मन का कर अभिसिंचन
प्राणों का सुख करता मैं जन-मन में वितरण !
भू-जीवन का प्यार, हृदय का चिर यौवन धन,
अथक कर्म आनन्द तुम्हें मैं करता अर्पण !

शुभ्र चेतना ध्वजा नील में हँस फहराये,
मानस शिखरों पर स्वर्णिम शोभा बरसाये !
नव मानवता के प्रांगण में मिल सब गायें,
हृदय मिलन का हर्षोत्सव हम आज मनायें !

अहे धरा जन,
तुम्हें आज करता अभिषेकित
ज्योति तमस से, अश्रु हास से,
पाप पुण्य से, शूल फूल से,
गति विकास से, ह्रास नाश से,—

तुम्हें नहीं छूएँगे अब
गत द्वन्द्व जगत के
खर्व तुम्हारे जो प्रकाश से,—
सम्मोहित करता मैं तुमको
हे नव चेतन !

चैतन्य सूर्य

समय आ गया, समय आ गया,
गाओ, मन, प्रातः युग फेरी,
समय आ गया, धुन्ध छा गया,
बजने को जीवन रण भेरी !

समय आ गया, समय आ गया,
भीतर से बदलो अब मानव,—
भीतर से बदलो भू दानव,—
मृत्यु अंक में जन्म लो नया,
फिर पुराण हो अभिनव !
बदल रहे बाहर के जग में
भीतर से बदलो युग सम्भव !
प्रगति कालविद् की चिर चेरी !
फिर से सोचो :
क्या जग, क्या जीवन, जड़, चेतन,
क्या रस, क्या इच्छा का कारण ?
क्या रे प्रेय ? सत्य, शिव, सुन्दर ?
सुख-दुख, राग-विराग, मृत्यु ज्वर ?
सोचो फिर :
क्या आत्मा, क्या मन ?
क्या ईश्वर ? आनन्द तत्व घन ?
मन्थन करो पुनः चित् सागर
नव प्रकाश डालो रत्नों पर !
युग-युग की छाया से मुक्त
करो उर दर्पण,
मुक्त राख से करो अग्नि कण,—
सोचो : क्या हो जीवन दर्शन !
विद्युत् पंखोंवाले हे
अणु बल के पर्वत !
बाह्य रूप जीवन का गढ़कर
सामाजिक ढाँचे में मढ़कर
कहाँ खोजते तुम संरक्षण ?—
अन्ध, आत्महन् !
कहाँ शान्ति ?—आकाश कुसुमवत् !
भू मंगल, जन अभिमत !
भीतर देखो, भीतर निर्भय,
(बाहर केवल अणु दंशन भय !)
भीतर सुलग रहा सूर्यानल
शत ज्वालागिरियों का दुर्जय !
जीवन मूल्यों का होता क्षय,
अन्त: संचय होने को लय,—
भीतर युद्ध क्षेत्र नि.संशय,
अपने पर पाओ जय !
खड़ा आज जग नाश छोर पर,
धूमिल रे भावी के अक्षर !—

मानस मृत कंकालों का घर,
मानव शव, भू जीवन खँडहर!

अहे वहिर्गामी युग के मन,
'भीतर से बदलो' का यह रण!
घोर बवण्डर घुमड़ रहे अब
भू के उदर सिन्धु में भीषण!

स्तब्ध क्षितिज, आँधी आने को,
रक्त नेत्र घिरते पावक घन,
महा रात्रि, हतप्रभ तारागण,
भू विकास का संकट का क्षण!

विश्व प्रकृति पर क्या विजयी तुम?
झूठ! न होते यथा अन्तःस्थित?
बाह्य प्रकृतिजित आत्म पराजित,
आत्मजयी ही विश्वजयी नित!

बाहर भीतर का विरोध तम
नव प्रकाश में लीन अनामय,
वह अतिक्रम कर चुका द्वन्द्व सब,
व्यर्थ खोजती बुद्धि समन्वय!

ओ स्त्रीकामी, यती, विरागी,
भीतर से बदलो जीवन, मन,
भोजन भजन भवन जन वन प्रिय,
नव चेतन को करो समर्पण!

यह अभिनव चैतन्य स्वर्ण प्रभ,
भावी अरुणोदय गर्भित नभ,—
बहिरन्तर इसका प्रतीक हो,
यह भू अमृत, सुरों को दुर्लभ!

समय आ गया, समय आ गया,
व्यर्थ न भटको बाहर
जड़ मरु में सौरभ मृग!
निगल न जाये तुम्हें
नाश की निशा अँधेरी,
मृत्यु की नींद घनेरी;—
भीतर देखो, स्वागत करो
सूर्य का अभिनव!
ओ युग सम्भव,
समय हो गया, करो न देरी!

बुद्ध के प्रति

नव भावी स्वप्नों से विस्मित,
जब मैं विस्तृत

सिंह दृष्टि डालता विगत के धूमिल पट पर,
सबसे स्वर्णिम शिखर
तुम्हीं दीखते अतन्द्रित
मुझे तथागत,—भास्वर, सुन्दर,
निःस्वर, निर्जर!
युग के गौरव शिखर,—
जहाँ मन
मुक्त विचरकर
आर-पार कर ध्यान-निरीक्षण,
सम्यक् चिन्तन,
शतियों में विस्तीर्ण
मध्य युग के करता दिग्दर्शन!

हाय लोकजित्,
महाह्रास का युग होगा वह
दुर्वह, दुःसह,
जरा मरण भय से कुण्ठित,
भव तृष्णा लुण्ठित!
वृद्ध महाभारत का होगा
जर्जर पंजर,
संस्कृति खँडहर
आहत भारत!
राज्यों संघों में शत खण्डित,
मन्त्रों तन्त्रों से षड्यन्त्रित,
जाति पाँतियों, तर्कों वादों में विशीर्ण श्लथ!
नास्तिकता का निश्चरित्र तम,
अन्धे विश्वासों का मति भ्रम
छाया होगा महादेश में
धर्म वेश में!
दाम्भिक, बौद्धिक, तार्किक, पण्डित
मुण्ड मतों में होंगे दीक्षित,
ज्ञान पिपासा, जिज्ञासा से
मानस होगा मन्थित!
सत्य विरत
द्विज होंगे बहुमत,
रूढ़ि रीति गत
यज्ञ कर्म सम्मत
पशु हिंसा में रत!
निश्चय, ह्रास निशा से अवगत
पद-पद पर नत

होगा श्रीहत
भारत !

देव तभी तो जरा मरण ही जरा मरण
देखते रहे अग-जग में अनुक्षण !—
मोह न पाया मन को यौवन,
शिशु, रमणी धन,
राजस जीवन,
श्री सुख शोभा का सम्मोहन !

केवल अश्रु भरा दुख का घन
करता रहा हृदय में क्रन्दन,
केवल मूल अविद्या का तम
हुआ प्रतीत जगत का कारण !

मार,—मार से रहा त्रस्त मन,
निश्चेतन भू मन से था रण;
प्राणों का कीलित भुजंग
फुंकार उठा था कोटि क्रुद्ध फन !

सम्यक् दृष्टि पड़ी जिस पर भी
'क्षण भंगुरता !'—कहा ज्ञान ने,
सत्य शून्य, मिथ्या भव की लिपि
ज्ञापित की द्वादश निदान ने !

नित्य सत्य चैतन्य कहीं भी
नहीं दृष्टिगत हुआ ध्यान में,
सुलभ मुक्त आनन्द कहाँ हो
जरा मरण रुज के विधान में !

केवल दुख, भव तृष्णा का तम,—
घोर अविद्या जिसका कारण,
निखिल अनत्ता, भंगुर सत्ता,—
कैसे हो भव कष्ट निवारण !

दुःखों से निर्वाण प्राप्ति कर
शान्ति अमृत लाये तुम जन हित,
दया धर्म, अष्टांग साधना
भव जन को दी करुणा प्रेरित !

खोया था अध्यात्म धूम में
जन - मन नैतिकता से उपरत,
कर्मकाण्ड रत भू को तुमने
दिया सत्य दृढ़ - तर्क - बुद्धि-गत !

अव्याकृत कह जिन तत्वों को
छोड़ गये तुम स्वतः अकल्पित,
विकृत काल क्रम में होकर वे
हुए क्षणिक भोगों मे विकसित !

बौद्ध विहार बने वक्षस्थल
भिक्षु योग्य राजोचित जीवन !!
(बने कृष्ण भी केलि कुञ्ज प्रिय
रीति काव्य युग प्रीति निदर्शन !)
शून्यवाद, जड़ क्षणिकवाद ने
घेर लिया जन-मन गगनांगण,
रिक्त वारि, सिकता रज के घन
दुर्लभ चातक हित जीवन कण !

गूंज उठा जीवन निषेध,
जीवन वर्जन का सूना गर्जन,
गंगा यमुना के प्रांगन के
तर्क-प्रनुर्वर ये जीवन क्षण !
उपनिषदों का शाश्वत दर्शण
जिस भारत का रहा शुभ्र मन,
वहाँ निषेध कलुष घुस आये,—
मैं प्राय: करता था चिन्तन !

विरति, त्याग, संन्यास वहाँ हो
जहाँ स्वयं सच्चिदानन्द घन
इन्द्रधनुष अंगों से लिपटा
बरसाते नव रस के प्लावन !
शंकर भी (प्रच्छन्न बौद्ध-से ?)
कर अवाच्य माया का घोषण,
ब्रह्म सत्य के अर्ध सत्य में
उलझा गये विमुख कर जन-मन !

देव, मध्य युग के मुख पर ही
छाया था कुछ कल्मष लांछन,
मुक्त नहीं व्यक्तित्व कृष्ण का
ह्रास दंश से गीता दर्शन !
सचमुच, तुम आकर क्या कहते ?
निष्क्रिय थी तब लोक परिस्थिति,
एक सांस्कृतिक वृत्त पूर्ण हो
बिखर रहा था : अधोमुखी गति !

पीछे थी छूट गयी चेतना,
सम्मुख था दर्शन पंजर मन,—
थोथी धार्मिकता, तार्किकता,
सिद्धान्तों के पथराये कण !
मिली प्रेरणा युग को तुमसे,
पनपे स्मृति, पुराण, षड् दर्शन,
शिला भित्तिगत शिल्प चित्र ने
सँजो दिये गिरि, गह्वर, प्रांगण !

कृष्ण, व्यास, कवि कालिदास में
ज्ञान भक्ति के बहा रस सरित
रीति नीति संस्कृति में कृषि युग
था हो चुका दिगन्त मंजरित!
निखर रहे थे इधर शिखर स्मित
खिसक रहा था उधर धरातल,
भू देशों को ज्ञान गन्ध दे
मुंदने को था मानस शतदल!

पाषाणों के उर पिघलाकर
शान्ति सुगत की कर शुचि अंकित,
अमर शिल्प ने क्षण भंगुर में
शाश्वत को कर दिया सुरक्षित!
देख रहा मैं शान्ति कान्ति के
पर्वत - से तुम करते विचरण,
आकर्षित हो अमित प्रीति से
चरणों पर नत होते भू - जन!

दिव्य ज्योति मण्डित स्मित आनन,
परम शान्ति मन्दिर - सा प्रिय तन,
पग-पग पर धरती की करुणा
करती तुमको आत्म - समर्पण!
किन्तु, बोधिप्रिय, मानव मन की
दुर्निवार सीमाएँ निश्चित,
बुद्ध चेतसों का प्रकाश भी
युग स्थितियों से रहता पीड़ित!

मनुज ज्ञान संचय से अतिशय
लोक चेतना गति अपराजित,
स्वर्ग नरक बनते मिटते नित
जीवन मानस होता विकसित!
अकथनीय क्षति हुई देश की
उस युग के जीवन वर्जन से
जीवन अस्वीकृति से निष्कृति
निष्कृति हो गत अधःपतन से!

मध्यमार्ग रत बोधिसत्व थे
लोक श्रेय हित अविरल तत्पर,
अंग न थे पर भू जीवन के
थे केवल करुणा हत अन्तर!
इसीलिए सेवा करुणा व्रत
बन न सके जीवन मंगल पथ,
भू निर्माण उसी से सम्भव
जो जीवन कर्दम में भी रत!

जड़ से चेतन, जीवन से मन,
जग से ईश्वर को वियुक्त कर
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन
दिया भ्रान्तिवश जन - मन दुस्तर,—
किया अमंगल उसने भू का
अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन, जीवन मन आत्मा
एक, अखण्ड, अभेद्य संचरण !

ह्रास विकास युगों का होता
मानव मन भव गति का दर्पण,
क्षमा, एशिया के प्रकाश,—उस
युग ने शुभ्र किया तम वितरण !
स्वर्ग ज्योति ने छुआ धरा मन
तुमको यन्त्र बना निज निरुपम,
ओझल सूर्य हुआ मेघों में
युग नभ में था घिरा घोर तम !

आज ह्रास तम घन से कढ़कर
पुनः हँस रहा नव सूर्योदय,
आओ नव व्यक्तित्व ग्रहण कर,—
जन - भू पर हो जीवन की जय !
षडायतन में उतर रहा नव
धरा स्वर्ग चैतन्य ज्योति-घन,
उतरो, वितरित करो जनों में
स्वर्ण - हरित चेतन पावक कण !

भू जीवन निर्माण चेतना
आज लोक निर्वाण, मुक्ति पथ,
कर्दम में गड़, उड़ता अति गति
धरती से ऊपर जीवन रथ !
आज नहीं वह उद्यत जाग्रत्
जो जड़ चेतन द्वन्द्वों में रत,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य नहीं वह
जो जन भू जीवन से उपरत !

ईश्वर के प्रति भी न प्रणत वह
जो वैराग्य निवृत्ति मार्ग गत
मुक्ति पथिक,—आत्मा की निष्क्रिय
रिक्त ज्योति का शलभ, भाग्यहत !
अन्तः स्वर्णिम नव चेतन में
आज प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वित,
वही बुद्ध अन्तःस्मित निश्चय
जो जन भू जीवन में भी स्थित !

वही पूर्ण प्रज्ञा जिसमें
सम राशि ऊर्ध्व गुण हों संयोजित,
पूर्ण शील, जो जग जीवन के
संघर्षों में हो न पराजित!
नव भावी चैतन्य प्रसूत हो
भव जन कर्म वचन मन जीवन,
अन्तः पावन नव प्रकाश वह
श्रद्धा, आस्था, जीवन दर्शन!

विद्याऽविद्या ज्योति तमसवत्
भू मानस में स्वर्ण समन्वित,
भव तृष्णा उन्नीत सृजन मन
भू रचना रत अनिर्वण चित!
मार क्षेत्र भू जीवन निश्चित,
स्वयं श्याम ही बने काम नव,
नित्य शुद्ध रस वे निःसंशय
जिनसे रस मय रूप नाम भव!

जीवन के स्तर पर जड़ भू पर
उतर रहा चैतन्य अनावृत,
महाभाव से, ब्रह्म बोध से
पूर्ण सत्य यह, मूर्त अखण्डित!
तर्क बुद्धि, दर्शन से विकसित,
ज्ञान, भक्ति, कर्म से महत्तर,
यह स्वर्णिम नवनीत सत्य का
नव श्रद्धा आस्था का ईश्वर!

आओ, शान्त, कान्त, वर, सुन्दर,
धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण,
विचरो नव युग पान्थ, बुद्ध बन,
जन भू मन करता अभिवादन!
अणु रचना के भूति मंच पर
हो सुखान्त मानव युग का रण,
तुमसे नव मानुष्य स्पर्श पा
विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन!

कवीन्द्र के प्रति

गीतिशिल्पि, तुम जाग्रत् भारत के कवि बनकर
आये, अधरों पर वैष्णव जन की वंशी धर,—
तन्मय, मधुवर्षिणी, रहस सुख-दुख भय कातर,
प्रीति साधना निरत, त्याग अनुराग द्रवित स्वर!
कौन विरहिणी नारी थी वह उर में गुण्ठित
जिसने कवि की मूक वेदना को रस झंकृत

अन्तःस्पर्शी भावों में, छन्दों में अगणित ?
—निश्चय, मानव की आत्मा, युग-युग से कुण्ठित !
कवि, तुमने इन्द्रिय निषेध कर, जीवन वर्जन,
मुक्ति नहीं माँगी, चाहा वैराग्य न साधन;
वहं भार मानस वैभव का खोल रत्न-घन
रस पावस में किया मुग्ध केकीवत् नर्तन !
राजहंस श्री फुल्ल सरोरुह सर के कूजित,
तुम जीवन के अन्तस्तल में पैठे निश्चित,
अन्तर की निस्तल गहराई खोज अपरिमित
लाये बहु मणिगण, मुक्ताफल, आत्मज्योति स्मित !
कवे, पूर्व - पश्चिम का कर सांस्कृतिक समन्वय
बन्धु भाव से मानव-मानव का पा परिचय,
विश्व प्रेम में भू खण्डों का कर नव परिणय
मानवता का लाये तुम जग में अरुणोदय !
भारत के निरवधि मानस का कर युग मन्थन
निखिल विश्व के चिदैश्वर्य के प्रति अति चेतन,
विश्व कवे, तुम जिस मानवता के प्रतिनिधि बन
आये, वह खो चुकी हाय, मानुष्य परम धन !
वैष्णव उर की भूत दया के प्रति अति निर्मम,
जन-विकास प्रति पंगु—नाश हित दारुण सक्षम,
मृत मुट्ठी मे लिये ध्वंस वह,—जीवित अणु बम—
विगत सभ्यता स्वप्न मनोजीवी युग का भ्रम !
घोर ह्रास : चेतन रत, जड़ उपरत, ऋषि भारत
ब्रह्म सत्य, बहुरूप जगन्मिथ्या जिसका मत,
तन मन धन बल हीन आज, दृढ आत्म तेज गत,
रूढ़ि रीति मत सम्प्रदाय शत खण्डित, श्री हत !!
महानाश : भौतिक वैज्ञानिक सत्य प्रकाशक,
देश काल पर जयी, तड़ित् अणुबल उद्घाटक,
प्रकृति प्रशासक, अर्थ शक्ति के बन आराधक
शिविरों में संगठित घोर, सर्वस्व विघातक !!
कवे, अचेतन हिल्लोलें उठतीं किलोल कर
मत्त भुजंगों - सी तृष्णा मणि फणि सहस्र धर,
तम के पर्वत उठते कल्मष के शिखरों पर
लिपटा जिनसे युग प्रभात हेमास्य हास्य भर !
आन्दोलित अवचेतन, उलट गया तम सागर,
बिखरे मणि गण रत्न, अतल जल के मुक्ताकर,
ग्राह, सर्प, घोंघे, कृमि, कर्दम छाया ऊपर,
भू मन का आमूल हो रहा नव रूपान्तर !
धरा योनि से अग्नि स्तम्भ उठता तेजोज्ज्वल
अतल कूप से नग्न रूप जगता तम का भ्रम।

लौह दण्ड वह दीप्त देह धर, जन - मन सम्बल,
सूर्य मुकुट सिर पर, प्रभात छबि स्मित दिङ् मण्डल !

आज धूल में सोयी आँधी, रक्त में तड़ित्,
ओर छोर जन - भू के अग्नि प्रवाल प्रज्वलित;
दैन्य दुःख दारिद्र्य,—युगों के प्रेत पराजित,
निखिल असुन्दरता भू प्रांगण से निर्वासित !

प्राणों का आवेश सहस्र फनों पर नर्तित,
पंगु, पक्ष पीड़ित, गति - कुण्ठित नैतिकता मृत,
काम अन्ध तम स्थाणु तरल विद्युत् अहि वेष्टित,
शून्य नील श्री हरित, स्वर्ण पावक जल सिंचित !

कनक किरण छू गयी धरा तम के गह्वर को,
ज्योति सेतु में बाँध विरोधों के अन्तर को;
प्राप्त करे भू मन सुन्दर से अति सुन्दर को,
खण्ड सत्य से पूर्ण सत्य, शिव से शिवतर को !

मग्न अचेतन कर्दम में भू जीवन शतदल,
उसे उठा, कर सके कलुष का मुख तुम उज्ज्वल ?
मानवता की सिद्धि न विश्व समन्वय केवल
ऊर्ध्व गहन पूर्णत्व लक्ष्य ही में जन मंगल !

क्या सोचा था ? नरक स्वर्ग ही का लघु उपक्रम,
जागेगा सोया प्रकाश जो धरती का तम,
राशि बनेगी गुण, गुण राशि, विषम होगा सम,
चेतन और करेगा जड़ आरोहण निरुपम !

आँख मुँदे जो जड़ वह आँख खुले पर चेतन,
धोता आज धरा तम जन प्राणों का प्लावन,
महा कवे, युग पलकों पर झूला नव सावन,
दिग् विराट् नव मनुष्यत्व का दिव्य स्वप्न बन !

देख रहा मैं, धूम ज्योति…का रुद्र संघटन
वज्र दशन, संघर्ष सघन, विद्युत् असि केतन,
विश्व क्रान्ति सन्देश लिये भरता गुरु गर्जन,
शत हीरक माणिक दीपित अद्‌भुत मरकत घन !

गरज रही दिग् दुन्दुभि, छिटका अग्नि बीज कण,
प्राण हरित नव जीवन मूल्यों का कर वितरण,
जड़ चेतन, आत्मा तन मन का व्यर्थ विभाजन,—
मूल्य भ्रान्त, कवि, रहा युगों से जीवन दर्शन !

जीवन से संयुक्त रहें जन कर्म वचन मन,
जीवन सत्य अखण्ड करेगा मार्ग प्रदर्शन;
सिन्धु हरित छबि, नील दिगंचल, कनक गौर तन
भू जीवन लक्ष्मी के प्रति हो पूर्ण समर्पण !

आत्मिका
[संस्मरण और जीवन दर्शन]

[एक]

महाकाल के नील हर्म्य में
मौन दिग् ध्वनित
बजती प्रिय पद चाप तुम्हारी
मेघ मन्द्र नित !

सुनता आया हूँ शैशव से
विस्मय पुलकित,
अश्रुत स्वर्णिम पग ध्वनियाँ
अन्तर में कम्पित !

[२]

तितली उड़तीं
रंग - रंग का मधुरव भर मन में,
जुगनू हरे स्वरों में
लिपपुत जाते वन में !

तरु मर्मर की मोती की झर
सीप फेन - सी
उफनाती क्षण - क्षण में !

चुक् - चुक्
पूंछ हिला खग गाते,
पंखों पर सौ रंग बल खाते !
फूल परी मुसकाती आती
आँगन में सौरभ भर जाती !

भौरे गुन - गुन पढते पाती,—
मुझे स्मरण उनकी प्रिय बातें,
चुक् - चुक्
चोंच मिला खग गाते !

[३]

कौन देव कन्याएँ जाने
स्वप्नों में आ मुझे रिझाती,
स्वर्गिक सुख, आशा की मधु स्मिति,
अधरों पर चित्रित कर जाती !

वह परियों का प्रिय जग निरुपम
भू जीवन का था लघु उपक्रम :
चाँद मोह लेता चुपके मन,
मधुर चतुर्दिक् था आकर्षण !

ज्ञात न था तब, संगसंग उठ-गिर,
तुम पथ करते थे निर्देशन !

[दो]

मुग्ध, स्वप्नचारी शैशव की पगध्वनि
बनी गीत-कैशोर-चपल,—
नव वय मणि !

[२]

हिमगिरि प्रान्तर था दिग् हर्षित, प्रकृति क्रोड़ ऋतु शोभा कल्पित,—
गन्ध गुंथी रेशमी वायु थी, मुक्त नील गिरि पंखों पर स्थित !
हरित जलधि-से थे निर्जन वन, जिनमें घुसने में लगता भय,
भाव मौन गहरी छायाएँ कँप - कँप उर में भरतीं विस्मय !

नीरवता की भीम शिलाएँ गुह्य बोझ - सा अन्तर में धर
स्तम्भित कर देतीं चंचल पग, नव वय को मन्त्राभिभूत कर !
शृंग नाद कर झरते निर्झर भारी कौतूहल भर मन में,
दूध फेन के स्रोत उफनते गिरि के गीत मुखर आँगन में !

विजन वीथि में मिलतीं परियाँ इन्द्रधनुष अंचल फहराये
धूप - छाँह रँग सारी पहने स्वर्ण गन्ध - कुन्तल छहराये !
लिपटा रहता गिरि पंजर से मांसल कलि कुसुमों का मार्दव,
फूल माल - सी उड़ विहगावलि रंग पंख बरसाती कलरव !

देवदारु के हरित शिखर उठ भू की जिज्ञासा - से ऊपर
तारों से हँस बातें करते नभ का नील रहस्य चीरकर !
भू की परिक्रमा कर ऋतुएँ वहाँ वास करतीं प्रति वत्सर,
वह कुसुमित शृंगार कक्ष था गन्ध वर्ण ध्वनि ग्रथित मनोहर !

[३]

कब विचरा मैं नव किशोर बन अनगढ़ पग धर अविदित भू पर,—
परिवर्तन पथ भू विकास का चलता काल अदृश्य चरण धर !
मध्य वित्त गृह सुख मे जन्मा, धर्म प्राण पा पिता महा मन,
शिखर अपर वात्सल्य स्नेह के, गौर, शंख मन्दिर-सा प्रिय तन !

मातृहीन, मन से एकाकी, सलज बाल्य था स्थिति से अवगत,
स्नेहाचल से रहित, आत्म स्थित, धात्री पोषित, नम्र, भाव-रत !
प्रकृति गोद में छिप, क्रीड़ा प्रिय, तृण तरु की बातें सुनता मन,
विहगों के पंखों पर करता, पार नीलिमा के छाया वन !

रंगों के छींटों से नवदल गिरि क्षितिजों को रखते चित्रित,
नव मधु की फूलों की देही मुझे गोद भरती सुख विस्मृत !
कोयल आ गाती, मेरा मन जाने कब उड जाता वन में,
षड् ऋतुओं की सुषमा अपलक तिरती रहती उर दर्पण में

[४]

पुण्य तीर्थ प्राचीन हिमालय पावन तपोवनों से शोभित,
जहाँ साधु जन आते, आत्मिक शान्ति खोजने, तत्त्व लाभ हित !

चंचल रंग प्रकृति की शोभा हृदय स्पर्श करती दिङ् मुकुलित,
ध्यानावस्थित मूर्ति योग की उर को विस्मय सम्भ्रम मोहित !

पग-पग पर ग्रामीण सरल मन नव वय का करते अभिनन्दन,
शिखरों का वैभव, समतल का दैन्य चित्त में चुभता अनुक्षण !
नहीं भूलता सहज मनुज मन प्रिय किशोर वय के स्मृति दंशन,
मनोग्रन्थि निर्माण काल वह रंजित जिससे जीवन दर्शन !

[५]

आरोही हिमगिरि चरणों पर रहा ग्राम वह,—मरकत मणिकण,
श्रद्धानत,—आरोहण के प्रति मुग्ध प्रकृति का आत्म समर्पण !
साँझ प्रात स्वर्णिम शिखरों से छाभाएँ बरसाती वैभव,
ध्यानमग्न निःस्वर निसर्ग निज दिव्य रूप का करता अनुभव !

कोश हरित, तृण श्वसित तल्प पर सातप वन श्री लगती सुन्दर,
नील झुका-सा रहता ऊपर अमित हर्ष में उसे अंक भर !
शुभ्र हरित परिवेश घिरा वह स्फटिक मुकुर लघु जनपद प्रांगण
हिम सित शान्ति हृदय में भरता वन मर्मर प्राणों में मादन !

भेद नील को, मौन शृंग उठ जाने क्या कहते अन्तर में,
निर्निमेष नयनों से पीता सुन अनन्त के नीरव स्वर मैं !
दृग शोभा तन्मय रहते नित देख क्षीर शिखरों का सागर,
उर असीम बन जाता, अन्तःस्पर्श शुभ्र सत्ता का पाकर !

अमरों के संग अन्तरिक्ष में मन शृंगों पर करता विचरण,
निर्मल था कौमार, भावना स्वप्न पंख करती आरोहण !
उस पवित्र प्रान्तर की आत्मा हुई निविष्ट हृदय में अविदित,
प्राणि मात्र में व्याप्त प्रकृति की गोपन सत्ता रहती निश्चित !

प्रकृति मातृ शिशु क्षितिज अंक में खेल कूद हँस पला अलक्षित,
नैसर्गिक शोभा से परिवृत गुह्य अदृश्य शक्ति से रक्षित !
शोभा चपल हुए किशोर पग गरिमा विनत बना गभीर मन,
रंग भूमि थी प्रकृति मनोरम पृष्ठ भूमि हिमवत् की पावन !

[७]

अनजाने सुन्दर निसर्ग ने किया हृदय स्पर्शों से संस्कृत,
उज्ज्वल स्वर्णिम उच्छ्रायों में अन्तर्मुख मन को कर केन्द्रित !
ऋषियों की एकाग्र भूमि में मैं किशोर रह सका न चंचल,
उच्च प्रेरणाओं से अविरत आन्दोलित रहता अन्तस्तल !

निज प्रकाश इंगित से कोई आकर्षित करता उत्सुक मन,
कब डूबा मैं ज्योति सिन्धु में अवचनीय था वह गोपन क्षण !
वयः सन्धि की ओट खड़ा था संघर्षों का पर्वत यौवन,—
मधु रँग रस फूलों में लिपटा पावक का दीपित ग्रह नूतन !

[तीन]

नयी वयस का था भावुक रण वह जिज्ञासा मन्थित मन से,
नव इच्छाओं का संघर्षण स्थितियों से, जग से, जीवन से !

रहता चित्त अधीर क्षुब्ध नित आवेगों से आत्म पराजित,
एक अतृप्त विषाद हृदय को करता रह-रह गोपन प्रेरित!
स्वर्गिक शृंगों पर मँडरा मन दु:ख गर्त में गिरता जाकर,
अध: ऊर्ध्व गतियों से कुण्ठित आत्म विमुख रहता हत अन्तर!
हिम शिखरों की शुचिता का वह जन-भू में करता अन्वेषण,
लगता सूर्य प्रकाश उसे तब भू रज में लिपटा विपण्ण मन!
हेम शिखा से दग्ध शलभ शिशु जन भू मन से हो संस्पर्शित
अन्धकार से घिर जाता फिर राग द्वेष भय स्पर्धा पीड़ित!
वस्तु स्पर्श से कुम्हला जाता क्यों सात्विक ऐश्वर्य भाव-गत?—
भाव वस्तु में विपर्यास क्यों,—सोचा करता तब मन सन्तत!

[२]

रामकृष्ण औ' रामतीर्थ के वचनामृत से थी भू प्लावित,
पुनर्जागरण का युग था वह भारतीय दर्शन का जग हित!
खोल मध्य युग के अवगुण्ठन पौराणिक संस्कृति के बन्धन,
गरज रहे थे अन्तर उर्वर दीप्त विवेकानन्द वचन घन!
कर्म त्याग वैराग्य ध्येय हो हृदय न तब करता था स्वीकृत,
भू जीवन से पृथक् भागवत जीवन मुझे न भाता किंचित्!
कनक कामिनी के वर्जन में मध्य युगों की भीरु प्रतिध्वनि
मिलती, चिर निष्काम भक्ति ही मन को लगती स्वयं प्रभा मणि!
जीवन इच्छा के अहिफन पर धर प्रकाश मणि अन्तर्भास्वर
सोचा करता प्रायः,—क्या हो मानव जीवन लक्ष्य धरा पर?
उपनिषदों के मन्त्र श्रवण कर अन्तर होता रहता झंकृत,
ब्रह्म, सत्य, शाश्वत, ईश्वर क्या, जिज्ञासा पूछा करती नित!

[३]

इन्हीं दिनों थी विश्व युद्ध की दिग् ध्वनि प्रथम पड़ी कानों में,
निर्मम विस्मय कौतूहल बन रही घुमड़ती जो प्राणों में!
'पराधीन यह भारत माता हमें काटने दुख के बन्धन,
नव युवकों को देश भक्ति हित अर्पित करने उगते जीवन!'—
जागृति का सन्देश लिये नव मंचों से नित होते भाषण,—
जनपद से मैं नगर वास में करता विद्याध्ययन छात्र बन!
देश भक्ति के साथ मोहिनी मन्त्र मातृ भाषा का पाकर
प्रकृति प्रेम मधुरस में डूबा गूँज उठा प्राणों का मधुकर!
गूढ़ विधान प्रकृति का निश्चित, नियत पन्थ जग में सबके हित?
संचित कर्म उदय हो उठते भव जीवन स्थितियों से प्रेरित?
फूलों की ढेरी में मुझको मिला ढँका भ्रमरों का पावक,
युग पिक बनना भाया मन को जीवन चिन्तक, जन भू भावक!
नैसर्गिक सौन्दर्य, पुष्प-सा, खुला दृष्टि में निर्निमेष दल,
प्रथम छन्द उर लगा गूँथने, फूल हार, मधु रँग ध्वनि कोमल!
प्राणों को था स्पर्श मिल चुका कवि गुरु रस मानस का मादन,
मेघदूत के छन्द हृदय में प्रेम मन्द्र भरते गुरु गर्जन!

जाग रहा था सोया भारत नव युग स्पर्शों से स्थिति चेतन,
महा ह्रास से निखर रहा था भावी का नव भुवन, दीप्त मन!
सन्धिकाल में, वह युग - युग से जीवन विरत, दरिद्र, म्रात्महन्
लगता, छाया ग्रह दंष्ट्रा से कृच्छ्र उबरता पाण्डुर पूषण!

[७]

म्रादि काल से ऋषि मुनियों की साधन भूमि रहा जो भारत,
उसके भस्मावृत शरीर में ढँकी म्रग्नि ऋत चित् की भास्वत!
जड़, जीवन, मन को म्रतिक्रम कर शाश्वत के था म्रन्तर्दर्शन
रुका हुम्रा वह, भू जीवन की स्थितियों का हो सके उन्नयन!

भक्ति, ज्ञान, श्रद्धा, तप, संयम भू की मर्यादाएँ प्राक्तन,
त्याग, धैर्य, निष्काम कर्म ही लोक प्रेम, सेवा के साधन!
म्रात्म तोष मय सात्त्विक जीवन परम्परा सन्तों की पावन,—
मध्य युगों से रहा उपेक्षित, भू जीवन मूल्यों का वितरण!

[८]

उसी धरा में उदय हुए थे जन नायक जगवन्द्य महात्मन्,
जिनके निश्छल स्फटिक हास्य से मौन गुंजरित जन-मन प्रांगण!
देव विनय, श्रम शुभ्र वेश मय, म्रात्म शक्ति के पर्वत म्रविजित,
वे फिर से चेतन के वर से जड़ को करने म्राये संस्कृत!

लोक पुरुष पहचान गये थे प्रथम दृष्टि में भारत का मुख,
बढ़ते भौतिक युग प्रवाह में मिले न जन हित श्रेय शान्ति सुख!
रक्त नेत्र पश्चिम में उनको दिखा भव्य प्रासाद विभव का,
पशु बल के भुज दण्ड पर खड़ा जो निवास था युग दानव का!

[९]

प्रथम युद्ध के खर ताण्डव से जन - भू म्रन्तर था मर्माहत,
भव सेवा हित लिया धीर ने सत्य म्रहिंसा का पवित्र व्रत!
पशु बल से हो मनुज पराजित सह न सका युग मानव का मन,
विश्व मुक्ति हित छेड़ा निर्भय देश मुक्ति का वह नैतिक रण!

इंगित पा, सदियों का खँडहर जाग उठा फिर जीवन मोहित,
एक—भिन्न मत भूमि युगों की जन बल में हो उठी संगठित!
उन्हें इष्ट था भौतिक मद को म्रात्मिक बल से करना शासित,
धरा चेतना के विकास को नैतिक संस्कृति के रख म्राश्रित!

पर नैतिकता को म्रतिक्रम कर भौम मनुज को होना विकसित,—
धरा वृक्ष फल मानव जीवन उसे पक्व होना, रस पूरित!
मनश्चक्षु में विहँस रहा नव धरा चेतना का रूपान्तर,
जड़ में चेतन, तन में म्रात्मा मूर्त हो रही पूर्ण रूप धर!

[१०]

प्रथम भेंट में मिला हृदय को सूक्ष्म स्पर्श दृग विस्मय प्रेरित;
स्फुरित इन्द्रधनु म्रचि विनिर्मित हुम्रा मनोमय वपु उद्भासित!
श्रद्धार्पित हो किया हृदय ने प्रभु को भू जीवन इच्छा फल,
प्रकट हुई मानव म्रात्मा के ज्योति मंच पर शक्ति तपोज्ज्वल!

विश्व चेतना में जब नव गुण होते उद्भव हेतु अवतरित,
लोक अस्मिता से संघर्षण करना पड़ता उन्हें अतन्द्रित !
गत शुभ अशुभ विवर्धित होते विश्व प्रगति के युग से प्रेरित,
समदिक् संवर्धन में रहता ऊर्ध्व उन्नयन भी अन्तर्हित !

[११]

क्षेत्र बनाने आये थे वह नव मानवता के हित विस्तृत,
भौतिक युग की दुर्मद गति को बना सौम्य, संयत, मनुजोचित !
नवोन्माद था भौतिकता का मनुष्यत्व था आत्म पराजित,
वणिकों का साम्राज्यवाद था भू देशों को दुह कर जीवित !
भौतिक पशुता से लोहा ले मनुज हृदय करना था विगलित,
पूर्ण अहिंसक बन मानव को भू दानव करना था संस्कृत !
पराधीनता में भी जिसकी मुक्त रही नित आत्मा शाश्वत,
अणु भूत भव जन के मंगल हित उस भू को होना था जाग्रत् !

[१२]

तब पहिला ही असहयोग था, बापू के शब्दों से प्रेरित
विदा छात्र जीवन को दे मैं करने लगा स्वयं को शिक्षित !
बाहर था नव युग संघर्षण, भीतर अन्तर्मन का मन्थन,
पथ दर्शक ईश्वर था केवल पद नत करना था आरोहण !
इन्हीं दिनों मोहान्ध क्षुब्ध मन मुक्त हो गया भव बन्धन से,
बिला गयी हो भौतिक सत्ता गुण्ठन-सा उठ गया नयन से !
दृढ प्रस्तर प्रासाद पिता का मेघ खण्डवत् लीन गगन में
बता गया,—जड़ मे जीवन की नींव न गहरी, वह चेतन में !
दुर्विपाक घटता भू पथ पर चलते स्वयं फिसल जाते पग,—
सहसा प्रातः उठकर जाना अब घर-द्वार नहीं, निर्जन मग !
ज्ञात नहीं कब हुआ, क्या हुआ स्वजनों के हित दुख का कारण,—
वृद्ध जनक थे, पक्व निधन था, अब मैं था, मन था, दुख का वन !
पिता, बहिन, भाई का तन धर मरण मूर्त हो आया सम्मुख,
कैसा निष्ठुर परिवर्तन था वही अंग सब,—बाहु, वक्ष, मुख !
मृत्यु न गुह्य रही किशोर भय गुण्ठन हटा हुई दृग्गोचर,
अश्रु प्रथित सित पट से हँसती जीव नियति थी दारुण सुन्दर !

[१३]

इसी समय कालाकाँकर के, स्नेह द्वार खुल गये अचानक,
शान्ति वास था मुझे अक्षेपित जीवन का था पान्थ गया थक !
गंगा तट था, श्यामल वन थे, तरु प्राणों मे भरते मर्मर,
जल कल-कल, खग कलरव करते, प्रकृति नीड़ था जनपद सुन्दर !
टेसू के पावक वन में युग बीता, खग पशु तरु थे सहचर,
मनन अध्ययन रत रहता मन भीटे पर नक्षत्र था सुघर !
गुंजन ग्राम्या का था युग पट, प्रकृति मनोरम, भू जन निर्धन,
सरल हृदय, अति नम्र आचरण, जीवित तुलसी कृत रामायण !

गृह सम्मुख हँसता सूर्योदय मंगल कनक कलश-सा उठकर,
ग्राम्या की 'खिडकी से' दिखते पार्श्व दृश्य सब परिचित सुन्दर !
ताड़-नीम से पेड़ क्षितिज में तने ग्रहं-से, झुके शील नत,
गंगा उर के सित पालों के जल विहार अब हुए स्वप्नवत् !

रक्त पलाशों की प्रिय मधुऋतु, आम्र मौर मद भृंग गुंजरित,
इन्द्रधनुष मेघों के पावस मोरों के पिच्छों पर नर्तित;
साँझ प्रात भाते जाड़ों के चल रेशम कुहरों से आवृत,
शरद चाँदनी के पंखों पर उड़ते गन्ध भरे वन पुलकित !

[१४]

मानस तल में ऊपर नीचे चलता तब संघर्षण अविरत,
तम पर्वत, सागर प्रकाश का मन्थित रहते शिखरों में शत !
करवट लेता भावी नव युग गत भू मन को कर क्षत-विक्षत,
भय संकट, आशा, सुख-दुख से संकुल था प्रभविष्णु अनागत !

दुखती घायल मनः शिराएँ जग के आघातों से निष्ठुर,
स्वप्नों के स्वर्दूत उतरते सुख विस्मित, आन्दोलित कर उर !
अविदित भय से कँपता अन्तर स्वर्गिक संकेतों से पोषित,
स्वर्ग नरक मानुप तन-मन में प्रलय मचाते विश्व विजय हित !

मुँह तक तम से भर जाता मन उपचेतन आवेगों से श्लथ,
कुचल सूक्ष्म भावों को देता भव चक्रों का युग विकास रथ !
तम प्रकाश की युग सन्ध्या में होता उर में मौन अवतरित
'ज्योत्स्ना' का जीवन प्रभात नव भू पर श्री सुख शोभा कल्पित !

[१५]

मन के राजा थे सुरेश-से सुहृद्, शील के स्वच्छ सरोवर,
श्री प्रकाश गृह दीप शिखा थी,—दोनों के प्रति उपकृत अन्तर !
भाई - बहिन, सखा मन्त्री हम प्रेम डोर में गुँथे परस्पर,—
कुँवर स्नेह से देते आदर, उनका घर मेरा ही था घर !

कालाकाँकर के भूपति थे देश भक्त, गांधीजी में रत,
नम्र, स्वाभिमानी, जन सेवक, बापू रहते थे अभ्यागत !
जल वेणी के बाहु पाश में राज भवन था गंगा तट पर,
नृप जन प्रिय थे, जीर्ण राज्य था जर्जर सामन्ती भू पंजर !

मैं कृतज्ञ उस ग्राम राज्य का जहाँ कटे सुख के संकट क्षण,
वे मानस मन्थन के दिन थे,—भरा सुनहली स्मृतियों से मन !
(देश दासता मुक्त हुआ अब ओ ग्राम्या के स्नेह प्राण जन,
सर्व प्रथम, नव युग प्रभात में सुख स्वर्णिम हों श्रीहत प्रांगण !)

[१६]

जन स्वतन्त्रता के उस रण ने किया विश्व चेतस् आकर्षित,
भारत की एतिह्य देन वह नव युग पृष्ठों पर स्वर्णांकित !
रक्तहीन रण क्षेत्र रही भू आहत नहीं हुआ मानव तन,
रुधिर-स्रवित हो उठा धरा - उर कँपा सभ्यता का पाहन मन !

निश्चय रे वह समर नहीं था वह था संस्कृति पर्व सनातन,
अमृत स्पर्श मानव आत्मा का जड़ पशुता को करता चेतन !
पर मानव पशु खर नख दंष्ट्रा श्रृंगी वन पशु से नृशंस मन,
स्थापित स्वार्थों हित नित शकित मनुज रूप में दानव भीषण !

[१७]

मनुज वृत्तियों में था युग रण, पाप पुण्य में, घृणा प्रेम में,
दम्भ शील, अन्याय न्याय में, आत्म स्वार्थ औ' लोक क्षेम में !
शनैः सौम्य आत्मिक स्पर्शों से वज्र धरा उर होता विगलित,—
नव भौतिकता नयी शक्ति थी लोक क्षेम संवर्धन के हित !

भौतिक गति से आध्यात्मिक जग हुआ ऊर्ध्व के संग भू वितरित,
जैविक दर्शन से अनुप्राणित हुए गहन मन के स्तर दीपित !
नित नव वैज्ञानिक खोजों से हुई मनुज क्षमता शत वर्धित,
नव जीवन रचना सम्भव थी जड़ चेतन को कर संयोजित !

[१८]

सत्यों को कर शोध पूर्व ने किया तत्त्व का रूप निरूपित,
तथ्यों को खोजा पश्चिम ने विकसित तन्त्र दिया भू जन हित !
सत्य तथ्य, विज्ञान ज्ञान, दो पक्ष, एक वह के द्योतक नित,
लोक श्रेय, जीवन उद्भव हित रहें विषम सम चरण समन्वित !

भौतिक गतियों के विकास का दिया मार्क्स ने जीवन दर्शन,
वैज्ञानिक जन तन्त्र जगत के सम्मुख रख, जन भावी दर्पण !
सम्प्रति, सह अस्तित्व शील रत विश्व शान्ति का केवल साधन,
वर्ग हीन हो जन समाज, पर व्यक्ति मुक्ति का हो न अपहरण !

[१९]

साम्य क्रान्ति ने था, की युग की धनिक सभ्यता की गति कुण्ठित,
जग जीवन की बाह्य परिस्थिति विश्व प्रगति हित बनी सन्तुलित !
आर्थिक पद्धति में विरोध थे युद्धों मे धन जन की दुर्गति,
सामूहिक स्थिति में न सुलभ थी व्यक्ति मुक्ति गत आत्मिक परिणति !

विश्व युद्ध का गूँजा दारुण फिर विपण्ण निर्घोष गगन में,
दिखा सभ्यता उर का घातक विष व्रण जग के संकट क्षण में !
अहो भाग्य, विद्वेष भूल कर मिले ऋक्ष वृष सिंह परस्पर,
जन्म मरण का प्रश्न रहा वह मानव संस्कृति का,—शुभ दुष्कर !

[२०]

युग की भौतिकता के मुख पर देख मृत्यु छाया, विषाद घन,
एकांगी जीवन विकास के विमुख हो उठा अन्तर्मुख मन !
भौतिक आर्थिक उन्नति का ही प्रश्न न था अब जग के सम्मुख,
क्षुधा काम से तृप्त,—बुभुक्षित मनुष्यत्व था रे आत्मोन्मुख !

संस्कृति पीठ न हो क्यों जन भू उतरी मन मे स्वर्ण प्रेरणा
पंखों में ले लोकायन का स्वप्न,—पर न साकार वह बना !
ज्योति, कला, संस्कृति, जीवन के द्वार न तब खुल पाये भू पर,
हृदय द्वार थे राग द्वेष से युग के मुँदे, घिरा तम बाहर !

[२१]

नव मानवता को निःसंशय होना है अब अन्तः केन्द्रित,
जन भू स्वर्ग नही युग सम्भव बाह्य साधनों पर अवलम्बित !
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों में जग खण्डित,
ओ अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !

देख रहा मैं, विश्व सभ्यता आज देह मन ही मे सीमित,
हृदय हीन मानवता जाती अन्ध गर्त की ओर पराजित !
निश्चय, निज प्रच्छन्न शक्तियाँ ऊर्ध्व मनुज को करनीं जागृत,
आत्म ज्ञान से शून्य मनुज मन शिखा रहित मृण्मय दीपक मृत !

चन्द्र चूड भौतिक सौधों मे घूक रहेगे या युगान्ध जन ?
खंडहर तुम्हें कहीं दिखते क्या भैरव नीरवता के निर्जन !
विश्व क्रान्ति का यह दारुण क्षण हुआ युगों के बाद उपस्थित,
भू जीवन मन को अतिक्रम कर नव मानव को होना विकसित !

ऐसे ही संक्रान्ति काल में अशुभ और शुभ में छिड़ता रण,
सहज न भरता आसुर असि का धरा चेतना का गहरा व्रण !
सत् से असत्, असत् से सत् फिर कृच्छ्र जन्म लेता भव भावक,
दारुण सुन्दर विश्व सत्य रे पावक में जल, जल में पावक !

[२२]

देश काल गत मानस ही में मानव की चेतना न सीमित,
वैश्व ह्रास में अन्तर्वेत्ता चेता आते लोक श्रेय हित !
सारथि श्री अरविन्द रहे तब ऐसे भगवत् द्रष्टा भू पर,
विश्व ग्लानि कर गये विलय जो अति मानस से धर्म हानि भर !

प्रात: रवि-सा स्फुरित रश्मि स्मित था भगवत् चैतन्य तपोज्ज्वल,
भू मानस में पूर्ण प्रस्फुटित अन्तः स्वर्णिम हो सहस्र दल !
ज्योति-पंख उस दिव्य दृष्टि ने दीपित अन्तर्भुवन दिये कर,
ऊर्ध्व स्पर्श के स्वर्ण तीर से भू मन के जड़ पाश लिये हर !

[२३]

नये भुवन का जन्म हुआ था जो अन्तश्चैतन्य अगोचर,
विश्व ध्वंस बल से रखता जो अन्तः रचना शक्ति महत्तर !
अशुभ असुर से अतिशय शुभ वह, विजयी होगी ज्योति तमस पर,
मर्त्य लोक को नव जीवन का पिला स्वर्ण संजीवन निर्झर !

पर, वह रे अध्यात्म संचरण जिसे जगत् में होना मूर्तित,
स्थूल सूक्ष्म को नव प्रकाश मे जीवन में होना संयोजित !
युद्ध बने गांधीजी साधन, साध्य सिद्ध युग के योगेश्वर,
देता जड़ विज्ञान उपकरण,—गढ़ना भू जन को नव चेतन !

[चार]

भारत अब स्वाधीन हो चुका, (शेष अभी मानवता का रण !)
बहिरन्तर गृह रचना कर नव उसे सँजोने भू दिक् प्रांगण !
महीयसी घटना यह युग की जन भू के जीवन मंगल हित,—
यह अधिमानस भूमि धरा की जहाँ शान्ति तप बल से अर्जित !

[२]

स्वर्ग दूत की नर बलि दे फिर रक्त पूत क्या हुए धरा कण ?
भ्रान्ति मुक्त हो सका शप्त क्या मध्य युगों का शील रुग्ण मन ?
नम्र अहिंसक को हिंसा की क्रूर बिदा ! रे दैव दग्ध क्षण !
हिंसा यदि उठ जाय धरा से तो भू जन का भरे आर्द्र व्रण !
ऐसे ही आये थे ईसा सिर पर काँटों का किरीट धर,
दिव्य प्रेम के देवदूत-से स्वर्ग राज्य का लाये थे वर !
द्रष्टा थे, कवि हृदय, फूल मे पढते थे प्रभु के प्रवचन,
अशुभ न रोको,—सर्व क्षेम रत रहो,—परम साहसिक थे वचन !
मनुज हृदय खग, विद्ध तभी से, चढ़ा क्रूर तम की सूली पर,
आसुर सर का रक्त सिक्त क्षत भरना मर्त्य धरा का दूभर !
देश जाति की मोह भित्तियाँ रोके भू मानव विकास क्रम,
मुक्त नही चेतना, त्रस्त मन, मँडराता सिर पर यम,—अणुबम !

[३]

अन्तरिक्ष युग अब दृग सम्मुख, उपग्रहों में परिभ्रमण कर
चन्द्र, भौम, उशना के प्रागण छूने को, लो, दिग् विजयी नर !
सर्वक्षेम के स्वर्ण बीज क्या बोयेगा वह जन धरणी पर ?
मन को यह विश्वास न होता, जीवन शंकित जग का अन्तर !
भीम विरोधी शिविरो मे अब बँटा भाग्य-हत भू जीवन मन,
होड़ लगी भीषण अस्त्रों में आग्नेयों ब्रह्मास्त्रों का रण !
द्वन्द्व छिड़ा अब प्रलय सृजन मे, वैज्ञानिक युग का अभिवादन !
दग्ध धरा मानस में घिरती महामृत्यु छायाएँ प्रतिक्षण !

[४]

अन्न वस्त्र गृह के अभाव में नग्न कुरूप बहिर्जग जीवन,
सर्वक्षेम का स्वर्ग दूर रे घिरे अविद्या से दरिद्र जन !
भू देशों में द्रोह भयंकर विज्ञानाऽमृत बना गरलवत्,
कामधेनु बहु यन्त्र सुलभ,—पर मानव तृष्णा फन खोले शत !
नाश उगलने को ज्वाला गिरि अग्नि प्रलय का यह नव प्लावन,
सोच रहा मानव भविष्य पर नाश छोर पर खड़ा मूढ़ मन !
युग जीवन मन के अन्तर्गत समाधान सूझता न सम्भव,
आत्म पराजित मानव के हित बहिर्विश्व में भी रे परिभव !

[५]

अन्तर्भुवनों के नभ में यदि विचरण करे बहिर्मुख युग मन
ज्ञात सत्य हो उसे अखण्डित एक निखिल बहिरन्तर जीवन !
इन्द्रिय विमुख मनुज आत्मा ज्यों द्वार रहित मृत गृह तमसावृत,
आत्म हीन मानवता त्योंही दानवता की प्रतिमा कुत्सित !
भू खण्डों में भग्न, विभाजित बहिर्मुखी युग मानव का मन,
स्थापित स्वार्थों मे शत खण्डित मानव आत्मा का हत प्रांगण !
देश खण्ड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह ?
मानवता में देश जाति हों लीन, नये युग का सत्याग्रह !

मध्य युगों की नैतिकता के पूर्वग्रहों से पीड़ित भू मन,
अति भौतिक तृष्णा प्रमाद से लक्ष्य भ्रष्ट युग का जग जीवन !
बाह्य नियन्त्रण से भी समधिक आज चाहिए आत्म सयमन,
शान्ति प्रतिष्ठित हो जग में तब जब हो बहिरन्तर संयोजन !

विविध ज्ञान विज्ञान समन्वित विश्व तन्त्र हो साधन - विकसित,
भेद मुक्त हो दृष्टि हृदय की, पूरित हो भू जीवन इच्छित !
प्रीति युक्त जन, शील युक्त मन, उपचेतन प्रांगण रुचि संस्कृत,
मनुज धरा को छोड़ कहीं भी स्वर्ग नहीं सम्भव, यह निश्चित !

भू विकास मानव स्तर पर रे चेतन मनसो पर अवलम्बित,
बहिरन्तर उन्नति हो युगपत् मिटे दैन्य तन-मन का गर्हित !
बागडोर जीवन की थामें भू जन, हों परिवार नियोजित,
ज्योतिवाह बन सकें नवागत, हृष्ट पुष्ट स्मित, शिक्षित, संस्कृत !

अतिमानव, सामूहिक मानव ये युग के प्रतिवाद भाव स्थित,
सहज राशि गुण सार ग्रहणकर मानवता विकसित होती नित !
सतत दूर के तीर सुनहले जन - मन को करते आकर्षित,
सूक्ष्म मनः सिद्धान्त बदलकर स्थूल जगत में होते मूर्तित !

आज विशेषीकरण समाजी - करण साथ चल रहे धरा पर,
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मन्दिर, जीवन के घर !
यह दीक्षा का युग न कला में—वृहत् लोक शुभ से हो प्रेरित
भू रचना के स्वर्णिम युग के कला शिल्प स्वर शब्द हों अमित !

संस्कृति का जब वृत्त सचरण होता क्रमशः पूर्ण प्रस्फुटित
तब भावों के सूक्ष्म रह : स्तर गुह्य अर्थ निज करते व्यंजित !
ऐसे युग होते दीक्षा युग मन्त्र, तन्त्र, शैली में विकसित,
युग जीवन - आदर्श, नीति, विधि, दर्शन में हो उठता केन्द्रित !

[७]

युद्ध क्षेत्र अब नहीं बाह्य जग, बाहर का रण हुआ समापन,
प्रणत प्रकृति मानव के सम्मुख, विकसित भू जीवन के साधन !
अन्तर के दानव से लड़ना लोक व्रती को आज प्राण पण,
भीतर की भित्तियाँ चूर्ण हों—आलोकित हो जन भू प्रांगण !

भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत,
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी जीवन से उपरत !
आत्मा को प्राणों से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति,
ईश्वर के सँग विचरे मानव, भू पर, अन्य न जीवन परिणति !

एक शब्द में परम मन्त्र यह, जीवन का जो सत्य सनातन—
विविध धरा पथ,—पर सबमें रे बहिरन्तर चाहिए सन्तुलन !
योग समत्व, अहिंसा कहती शुद्ध साध्यवत् हो सम साधन,
सत्य, प्रेम, आनन्द सतत कहते मत खोओ आत्म संयमन !

स्वर्ग नरक, इह पर लोकों में, व्यर्थ भटकते धर्म मूढ़ जन,
ईश्वर से इन्द्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन !
जग भू पर निर्मित करना नव जीवन बहिरन्तर संयोजित,
एक मनुज हो, एक धरा हो,—यही भागवत जीवन निश्चित !

[८]

देव दनुज को सम द्रष्टा ने दी सम शक्ति जगत विकास हित,
यह मानव मति गति पर निर्भर वह हो देव दनुज के आश्रित !
ज्योति प्रीति तप, शान्ति श्रेय धृति, शील न्याय—देवों के प्रतिनिधि,
घृणा द्वेष भय, कलह कलुष रुज्, रोष दर्प,—ये दानव की निधि !
व्यक्ति रहे ईश्वर के संग नित, वही साध्य, भू जीवन साधन,
उससे युक्त जगत सत्, सुखमय, उससे विरत मृषा, दावा वन !
सामाजिक जन, विश्व रूप जो, रहे एक में बहुमुख जीवित,
अधः ऊर्ध्व को, बहिरन्तर को मनुष्यत्व में करें समन्वित !

मनुज ऐक्य हो खण्ड-धरा पर ईश्वर के चरणों पर स्थापित,
मातृ लोक सत्ता में मूर्तित—बहुविधि जन रुचियाँ हों आदृत !
मुक्त समान्तर रेखाओं-से व्यक्ति समाज, एक बहु विकसित
लोकोदय में मिले परस्पर,— भू जीवन मंगल से प्रेरित !

कवि उपदेष्टा नहीं,—और फिर मूढ़ नहीं जन, ढीठ न यह मन,
मनुज प्रेम का लाया स्वर्णिम मूर्त भागवत पावक पावन !
दृढ श्रद्धा विश्वास,—स्वयं ही जन भू आशा के चिर जीवन,—
जीवन चर्वित ज्ञान नहीं रे आत्म मुक्त आनन्द संचरण !

... .

[९]

पंचाशदुपरि ! सात वर्ष मैं रहा नाभसी[1] से सम्बन्धित,
गीति नाट्य से, स्वरित शब्द से रहे प्राण आकण्ठ गुंजरित !
वह जन शिक्षा माध्यम सक्षम, कवि रुचि मुक्त, समय क्रम बन्धन,
विद्युत् ध्वनि लहरों पर वाहित विश्व यन्त्र मन, तुझे शत नमन !
पूर्ण नहीं कर सका अभी तक मैं प्रणिहित कवि कर्म धरा पर,
मानव उर में अंकित करने गुह्य सत्य के अलिखित अक्षर !
आखर केवल कूल,—चेतना जिन्हें डुबाती भर नव प्लावन,—
जन - मन तृण पिंजर में रखना श्री स्वर्णिम भगवत् पावक कण !

[१०]

मध्य वयस का शरद मनोरम सौम्य गगन अब प्रांजल प्रांगण,
जीवन स्वप्नों में शोभा-रत मधु के स्वर्णिम पावक का मन !
जग जीवन के मेघ घुमड़कर प्राणों में झर अनुभव श्यामल
इन्द्रधनुष स्मित अन्तरिक्ष न खोल गये मानस में उज्ज्वल !
व्यक्ति विश्व के संघर्षण से निखर उठा मन में नव मानव,
जो विकास पथ में अब भू पर अन्तर में ले अक्षय वैभव !

---

१. रेडियो। नभस् का गुण शब्द।

जन्म पीढ़ियों में ले नव-भव मर्त्य अमर को होना विकसित,
भू जीवन मन को अतिक्रम कर स्वर्ग धरा पर रचना जीवित!

[११]

नये हृदय का जन्म हुआ अब स्वर्ग पद्म शोभित भू मानस,
पार्थिव इन्द्रिय दल से परिवृत पावक रज पुट में भगवत् रस!
जीवन शोभा की सरसी में हँसता वह आनन्द नाल पर,
इच्छाओं के स्वर्णिम मधुकर उपकृत, तृप्त,—अमृत मधु पीकर!

अक्षय रस का सिन्धु उमड़ता लोट रही लहरें लहरों पर,
मदिर शीत लपटों से पुलकित अतल हर्ष में मज्जित अन्तर!
निखिल निषेधों का अतिक्रम कर मुक्ति ज्वार पर कर आरोहण,
बहिर्भ्रमण करता अन्त:स्थित मन, इन्द्रिय रथ धावित अनुक्षण!

रंग स्पर्श रस गन्ध स्वर रचित रूप हर्म्य मरकत मणि दीपित,
इन्द्रधनुष वर्णों का ऊपर नील गोल शत रश्मि प्रज्वलित!
केन्द्र निखिल स्वर्णिम द्वारों का हृदय कक्ष, अन्त: श्री ज्योतित,
बहिरन्तर की बहुमुख गतियाँ होतीं नित जिससे परिचालित!

[१२]

मन के गाते सोपानों पर विचरण कर जाने कब भू पर
उतर पड़ा मैं जीवन मोहित, मधु स्वप्नों से उर डाली भर!
सम्मुख खड़ी विहँसती निश्छल नव जीवन चेतना प्रौढ़ बन,
फूलों की सौन्दर्य चन्द्रिका, अमित नील दृग, अतल सिन्धुमन!

वह अपनी स्वर्गिक गरिमा में प्रकट हुई अब बाहर भीतर,
विश्व एकता के मन्दिर में आत्म एकता की अक्षय वर!
दे स्वर्णिम चैतन्य अग्नि नव (जो नवनीत हिमालय भास्वर!)
भू जन मे वितरण करने को मुझे कह गयी,—स्मित इंगित कर!

कोटि सूर्य जलते रे उज्ज्वल उस माखन पर्वत के भीतर,
मनुष्यत्व नव, बहिर्दीप्त वह अन्त: संस्कृत, आत्म मनोहर!
लोक प्रेम वह, मनुज हृदय वह इन्द्रिय मन जिसमें संयोजित,
अणु विनाश को अतिक्रम कर वह निज रचना-प्रियता में जीवित!

सामाजिकता के कर पुट में प्राणों का पावक अभिषेकित,
निज मनुजोचित गरिमा में वह अन्त: शोभित, शील संयमित!
काम द्वेष से मुक्त लोक वह दीप्त प्राण जिसमें नारी नर
आत्म नग्न नक्षत्रों-से हँस प्रीति ज्योति बरसाते भू पर!

[१३]

आत्मा, मुक्ति, निवृत्ति मुझे सब रिक्त चित्रपट लगे शुभ्रतर,
स्नेह वर्तिका हीन शिखा-से शून्य गगन मे टँगे ब्रह्मवर!
मृद् भाजन विज्ञान,—सुरा के बदले जिसमे भर क्षेमामृत
जड़ चेतन से करना अब नव हीरक दल भू जीवन निर्मित!

[१४]

कल्याणी-सी, शस्य हरित छवि पक्व फलों से भर उर अंचल,
सुरधनु बाँधे घन कबरी में, वितर हास्य से जीवन मंगल,—

बोली वह, बौद्धिक दर्शन से जीवन दर्शन पट दिग् विस्तृत
उसके भीतर जड़, आत्मा, मन,—धरा पुष्प वह स्वर्ग बीज स्मित!

वह समग्र, मन सीमित, उसको खण्डित कर नित करता चित्रित,
ह्रास विकास मयी गतियों से सामाजिक दर्शन बस परिचित!
धर्म नीति श्रुति स्मृति सत्यों को कर्म वचन मन को वह अविदित,
ज्ञान भक्ति, विज्ञान शक्ति से अति, अमेय, अज्ञेय, अखण्डित!

रूप मूर्त रे प्रेम चेतना सृजन हर्ष से निज संचालित
जन्म मरण के गोपन स्वर्णिम द्वारों से आती-जाती नित!
भाव हीन जन उसे खोजते सुख-दुख द्वन्द्वों से कर विरहित,
प्रीति युक्त मन उसको पाते जीवन द्वन्द्वों में अन्तर्हित!

स्वयं पूर्ण वह, स्वतः प्रस्फुटित, मानव मूल्यों से अति विकसित,
पाप पुण्य गति में भगवत् गति, तम प्रकाश उर में आत्म-स्थित
मन से पर जीवन लक्ष्मी को चिर श्रद्धा आस्था कर अर्पित
शान्त सौम्य,—उत्तर वेला में कर्म निरत मन भू-जीवन हित!

... ...

[१५]

दिशा काल के हरित हर्म्य में अनुक्षण सुनता हूँ पद चाप तुम्हारी निःस्वर,
तुमसे आ, तुममें ही लय होते नित सृजन हर्ष से प्रेरित विश्व चराचर!
आज रुपहले अन्तर हिम शिखरों पर सुनता मैं स्वर्णिम रथ चक्रों का स्वर,
उतर रहे भावी के भुवन अगोचर, सप्त अश्व रवि कवि पंखों पर भास्वर!

प्रार्थना

मातृ शक्ति, फिर उतरो निज प्रच्छन्न व्योम से
अवचनीय आलोक स्रोत-सी, निज किरणों से
रेखा स्मित कर शुभ्र चेतना के शिखरों को,
उनकी शुचि अध्यात्म उच्चता को निखारकर!

मानव मन की गूढ़ गहनतम धूपछाँह मय
तलहटियों में पैठो विस्तृत शान्त विभा-सी,
निज प्रिय सन्निधि के पावन स्वर्णिम प्रकाश से
उनकी स्वप्न प्रतीक्षा को नव चेतन करने!

ज्योति प्रीतिमयि, उमड़ो नव आनन्द ज्वार-सी
नित्य अधिक आनन्द राशि में बहने प्रतिपल,
शोभा की अगणित उठती बढ़ती लहरों में
दिक् चुम्बी क्रीड़ा कर, निज स्वर्गिक कलरव से
जीवन को संगीत-मुखर कर दो भू पथ पर!

आओ, मा, सच्चिदानन्दमयि, अमर स्पर्श से
झंकृत कर दो अन्तरतम के रहःसत्य को,
उर तन्त्री के मूक अचेतन तारों में जो
सोया है निःशब्द तुम्हारी स्मृति-सा लिपटा!

शोभा प्रति शोभा में खिलकर सूक्ष्म सूक्ष्मतम
मोहित कर दे नयनों को : उर का अतृप्त सुख
सौ - सौ आनन्दों में होकर स्वतः प्रस्फुटित
सृजन शील हो उठे : अमिट प्राणों की तृष्णा
व्यापक, ऊर्ध्वग बन, परिणत हो दिव्य शान्ति में !

ज्ञान सहज चेतना ज्योति में विकसित होकर
रजत मुकुर बन जाय सत्य का : मानस का बल
परिवर्तित हो अमित तुम्हारी तपःशक्ति में !
जगज्जननि, निश्छल प्रतीति से हो नित प्रेरित
प्रीति प्रीति के लिए प्रीति बन पद पद्मों की
मज्जित कर दे मुझे परम हर्षातिरेक में,—
अक्षय वर बन उतरो, मा, मानस शतदल पर !

भारत माता

[१६ ८]

भारत माता
ग्राम वासिनी !

खेतों में फैला दृग श्यामल
शस्य भरा जन जीवन आँचल,
गंगा यमुना में शुचि श्रम जल
शील मूर्ति,
सुख-दुख उदासिनी !

स्वप्न मौन, प्रभु पद नत चितवन,
ओठों पर हँसते दुख के क्षण,
संयम तप का धरती-सा मन,
स्वर्ग कला,
भू पथ प्रवासिनी !

तीस कोटि सुत, अर्ध नग्न तन,
अन्न वस्त्र पीड़ित, अनपढ जन,
झाड़ फूँस खर के घर आँगन,
प्रणत शीश
तरुतल निवासिनी !

विश्व प्रगति से निपट अपरिचित,
अर्ध सभ्य, जीवन रुचि संस्कृत,
रूढ़ि रीतियों से गति कुण्ठित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी !

सदियों का खंडहर, निष्क्रिय मन,
लक्ष्य हीन, जर्जर जन जीवन,

कैसे हो भू रचना नूतन,—
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !

पंचशील रत, विश्व शान्तिव्रत,—
युग-युग से गृह आँगन श्रीहत,
कब होंगे जन उद्यत जाग्रत् ?—
सोच मग्न
जीवन विकासिनी !

उसे चाहिए लौह संगठन,
सुन्दर तन, श्रद्धा दीपित मन,
भू जीवन प्रति अथक समर्पण,
लोक कलामयि,
रस विलासिनी !

कला और बूढ़ा चाँद

(रश्मिपदी काव्य)

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९५९]

सुहृद्वर
श्री भगवतीचरण वर्मा को
सस्नेह !

विज्ञापन

'कला ग्रौर बूढ़ा चाँद' में मेरी सन् १६५८ की रचनाएँ संगृहीत हैं।

१८/बी. ७, स्टैनली रोड,
इलाहाबाद
१५ दिसम्बर, '५६

सुमित्रानंदन पंत

ओ सृजन उन्मेष,
मन ने बहुत काट-छाँट की,.....
कला शिल्प के हाथों से
भाव बोध के स्पर्शों से
सहस्रों नये वसन्त सँवारे !
अभी असंख्य शरदों को
अपने अंग
पावक में नहलाकर
रूप ग्रहण करना है !

विज्ञापन

'कला और बूढ़ा चाँद' में मेरी सन् १९५८ की रचनाएँ संगृहीत हैं।

१८/बी. ७, स्टैनली रोड,
इलाहाबाद
१५ दिसम्बर, '५९

सुमित्रानंदन पंत

ओ सृजन उन्मेष,
मन ने बहुत काट-छाँट की,·· ··
कला शिल्प के हाथों से
भाव बोध के स्पर्शों से
सहस्रों नये वसन्त सँवारे !
अभी असंख्य शरदों को
अपने अंग
पावक मे नहलाकर
रूप ग्रहण करना है !

बूढ़ा चाँद

बूढ़ा चाँद
कला की गोरी बाँहों में
क्षण - भर सोया है !
यह अमृत कला है
शोभा असि,
वह बूढ़ा प्रहरी
प्रेम की ढाल !

हाथी दाँत की
स्वप्नों की मीनार
सुलभ नहीं,—
न सही !

ओ बाहरी
खोखली समते,
नाग दन्तों
विष दन्तों की खेती
मत उगा !

राख की ढेरी से ढँका
अंगार-सा
बूढ़ा चाँद
कला के बिछोह में
म्लान था,
नये अधरों का अमृत पीकर
अमर हो गया !

पतझर की ठूँठी टहनी में
कुहासों के नीड़ में
कला की कृश बाँहों में झूलता
पुराना चाँद ही
नूतन आशा
समग्र प्रकाश है !

वही कला,
राका शशि,—
वही बूढ़ा चाँद,
छाया शशि है !

कला

ओ पारगामी
गर्जन मौन
शुभ्र ज्ञान घन,
अगम नील की चिन्ता में
मत घुल !
यह रूप कला ही
प्रेम कला
अमरों का गवाक्ष है !—
उस पार की ज्योति से
तेरा अन्तर
दीपित कर देगी !
तेरी आत्म रिक्तता
अक्षय वैभव से
भर जायेगी !
ओ शरद अभ्र,
तूने अपने मुक्त पंखों से
आँसू का मुक्ता भार
आकांक्षा का गहरा
श्यामल रंग
धरती पर बरसाकर
उसे हरी-भरी कर दिया !
तेरा व्यथा धुला
नम्र मन
व्यापक प्रकाश वहन करेगा,
शाश्वत सुख का दर्पण बनेगा !
तेरे द्रवित हृदय में
स्वर्ग
स्वप्नों का इन्द्रधनु नीड़
बसायेगा !
शिव की कला ही
सत्य और सुन्दर है !

धेनुएँ

ओ रँभाती नदियो,
बेसुध
कहाँ भागी जाती हो ?
वंशी रव
तुम्हारे ही भीतर है !

ओ फेन गुच्छ
लहरों की पूंछ उठाये
दौड़ती नदियो,

इस पार उस पार भी देखो,—
जहाँ फूलों के कूल,
सुनहले धान के खेत हैं!
कल - कल छल - छल
अपनी ही विरह व्यथा
प्रीति कथा कहते
मत चली जाओ!
सागर ही तुम्हारा सत्य नही!
वह तो गतिमय स्रोत की तरह
गति हीन स्थिति भर है!
तुम्हारा सत्य तुम्हारे भीतर है!—
राशि का ही अनन्त
अनन्त नही,—
गुण का अनन्त
बूंद - बूंद में है!

ओ दूध धार टपकाती
शुभ्र प्रेरणा धेनुओ,
तुम जिस वत्स के लिए
व्याकुल हो
वह मैं ही हूँ!
मुझे अपना धारोष्ण प्रकाश
अनामय अमृत पिलाओ!
अपनी शक्ति
अपना जव दो!
मुझे उस पार खड़ी
मानवता के लिए
सत्य का वोहित्थ
खेना है!
ओ तट सीमा मे बहनेवाली
सीमा हीन स्रोतस्विनियो,
मैं जल से ही
स्थल पर आया हूँ!

देह मान

उत्तर दिशा को
अकेले न जाना
लाड़िली,

वहाँ
गन्धर्व किन्नर रहते हैं !
चाँदनी की मोहित खोहों में
ओसों के
दर्पण - से सरोवर हैं,
द्वार पर
झीने कुहासों के परदे पड़े हैं !
उत्तर दिशा में
अपनी वीणा न ले जाना
बावरी,
वहाँ अप्सर रहते हैं !

वे मन के तारों में
ऐसे बोल छेड़ते हैं,—
देह लाज छूट जाती है !
प्राणों की गुहाएँ
आनन्द निर्झरों से
गूँज उठती हैं !
उत्तर दिशा में
ग्यारह तारों की
भाव वीणा न बजाना
मानिनी,
वहाँ इन्द्र रहते हैं !

रक्त पद्म-से
हृदय पात्र में
शची
स्वर्णिम मधु ढालती है,—
स्वप्नों के मद से
इन्द्रियों की नींद
उचट जाती है !
वहाँ आलोक की भूलभुलैया में
अन्धकार
खो जाता है !

उत्तर दिशा को
ज्ञान शिखर की
अनन्त चकाचौंध में
देह मान लेकर
अकेले न जाना,
मानिनी,
वहाँ कोई नहीं,
कोई नहीं है !

मधुछत्र

ओ मधुमाखियो,
यह सोने का मधु
कहाँ से लायीं ?
वे किस पार के वन थे
सद्यः खिले फूल ?
जिनकी पँखुड़ियाँ
अंजलियों की तरह
अनन्त दान के लिए
खुली रहती हैं !
कितने स्रष्टा
स्वप्न द्रष्टा
चितवन तूली से
उनके रूप रंग अंकित कर लाये !
फूलों के हार
पुष्पों के स्तवक संजोकर
उन्होंने
कुम्हलायी हाटें लगायीं !
रूप के प्यासे नयन
मधु नहीं चीन्ह सके !
ओ सोने की माखी,
तुम गर्भ ही में पैठ गयीं,
स्वर्ग में प्रवेश कर
हिमालय - से अचेत
शुभ्र मौन को
गुंजित कर गयीं !
उन माणिक पुष्पराग के
जलते कटोरों में
कैसा पावक रहा,
हीरक रश्मियों भरा ?—
जिसे दुह कर
तुम घट भर लायीं !
कौन अरूप गन्ध तुम्हें
कल का सन्देश दे गयी ?
ओ गीत सखी
ये बोलते पंख मुझे भी दो,
जो गाते रहते हैं,—
और,
वह मधु की गहरी परख,—
मैं भी
मधुपायी उड़ान भरूँगा !

मानवता की रचना
तुम्हारे छत्ते-सी हो !
जिसमें स्वर्ग फूलों का मधु,
युवकों के स्वप्न,

मानव हृदय की
करुणा ममता,—
मिट्टी की सोंधी गन्ध भरा
प्रेम का अमृत,
प्राणों का रस हो !

खोज

साँझ के धुँधलके मे
धीमी धीमी
टिनटिनाती घण्टियों की ध्वनि
किन अनजान चरागाहों से
आ रही है !
भेड़ों के झुण्ड - सी
अवचेतन की
घाटियों में छिपी
परम्पराओं को
संस्कार

अपने अभ्यास की
पैतृक लाठी से
हाँक रहे हैं !
धरती के जघनों के बीच
फैली

घाटियों के अंग
कुम्हलाने लगे हैं !
नाभि - से गहरे
पोखर के जल में
अँधियाला डूब रहा है !
शिखरों पर से
चीलों के पंख खोल
अन्तिम सुनहली किरणें
आकाश की खोहों में
सोने चली गयी हैं !
चारों ओर
नैराश्य, सन्देह
अवसाद का कुहासा
गहराने लगा है !

मन क्या खोज रहा है ?
इन क्षण दृश्यों के
बदलते रूपों में
समग्रता, संगति
कहाँ है ?
वह तो तुमसे
संयुक्त रहने में है !

अमृत क्षण

यह वन की आग है !
डाल डाल
पात पात
जल रहे हैं !

कोपलें
चिनगियों - सी
चटक रही हैं !

शुभ्र हरी लपटें
लाल पीली लपटें
ऋतु शोभा को
चूमती चाटती
बढ़ती जाती हैं...
आनन्द सिन्धु
सुलग उठा है !

ओ वन की परियो,
गाओ !
यह भ्रमरों का यौवन है !
अपने अंगों से
धूपछांह
खिसक जाने दो !
नये गन्ध वसन बुनो,
नये पराग में सनो !

प्रभात आ गया !
ओ वन पाखि [illegible]
[illegible] है
नया

वन लपटों से
तुम मन के
मर्म में
हृदय छू

अब नया आकाश ही
नीड़ हो,
उड़ान ही
स्वप्न शयन !

यह आग शोभा ही में
सीमित न रहेगी,
फागुन लाज ही मे
लिपटा न रहेगा !

साँसें आग न बरसायेंगी,
ओठ ओठ न जलायेंगे !
अमृत पीते रहेंगे हम,
नये पराग सूंघेंगे !

यह मिट्टी ही
शाश्वत है,
असीम है,
चैतन्य है !

प्राणों के पुत्र हम,
स्वप्नों के रथ पर आयेंगे;
रस की सन्तानें,
अनन्त यौवन के गीत गायेंगे !

भावों का मधु पीयेंगे,
मदिर लपटों का
प्रकाश संचय करेंगे,
हमने मृत क्षणों में से
अमृत क्षण चुने हैं !

शरद शील

शरद आ गयी !
श्वेत कृष्ण बलाकों की
मदिर चितवन लिये,—
शरद छा गयी !

स्वच्छ जल
नील नभ
उसी का कक्ष है !
काँसों की दूध फेन सेज पर
चन्दिरा सोयी है !
गौर पद्म सरोवर
उठता गिरता
उसी का वक्ष है !

यह प्रिया की कल्पना है,
चन्द्रमुखी प्रिया की !
शोभा स्वप्न कक्ष में
देह भार मुक्त
शील उज्ज्वल लौ
चन्दिरा की !
सरोवर जल में
रुपहरी आग है,—

राजहंस
स्वप्नों के पंख खोले हैं,—
तुम्हारी रूप तरी में
प्राणों के शुभ्र पाल हैं,
नवले !

ओ युवक युवतियो,
स्वच्छ चाँदनी में नहाओ,
नग्न गात्र, नग्न मन,—
आत्म दीप लिये,
मुक्त चाँदनी में आओ !

नवीन देह बोध पाओ,—
रूप रेखाएँ देखो,
रूप सीमाएँ
पहचानो !

ए तटस्थ प्रेमियो,
रूप विरक्त मत होओ;
रस स्रोत मन में है,
सौन्दर्य आनन्द
भीतर हैं,—
देह में न खोजो !

देह लजाती है,
अपनी सीमा जानती है;
प्रेम विरत होता है
रज गन्ध में सनकर;—
उसका मन्दिर हृदय है !

काले मेघों के महल
ढह गये,
चपला की चमक
कामना की दमक
मिट गयी;—

यह सामाजिकता का
प्रासाद है,
शरद शुभ्र

भाव गौर,—
मानवता का स्फटिक प्रांगण !
ओ युवक युवतियो,
शील सौम्य
शरद शुभ्र
चरण धर आओ !

रिक्त मौन

मैंने
हिमालय के
शुभ्र श्वेत मौन को
फूंका,

मानस शंख से
छोटा था वह !
सूरज ने प्रकाश
चाँद ने चाँदनी लुटायी,
हिमालय की सतरंग देह
मेरी छाया निकली !

स्वर्ग शोभा
कनक गौर उभरे उरोजो को
पीन जघनों से सटाये
सोयी थी,—
छेड़कर देखा,
कामना तृप्ति से
बौनी थी !
ऊषा आयी, साँझ आयी,
वैदिक ऋषि और नये कवि,—
हिमालय की
उलटी हथेली-सी सीप
उस मोती से सूनी थी
जिसे प्रेम ने
हृदय को सौंपा था !

सहज गति

तुम्हारी वेणी के प्रकाश नीड़ में
मेरे स्वप्न चहकते हैं,—
ओ शुभ्र नीलिमे !

जब तक अन्धकार है
प्रकाश भी है !

तुम्हारे पथ की
बाधा है ज्ञान,—
सबसे बड़ा अज्ञान!
वैसे तुम चीन्ही हो,
चिर परिचित हो!

जब तक अन्धकार है
ज्ञान बन्धन बनता रहेगा;
ज्ञान का फल खाकर
मैं अज्ञान में डूब गया!
मन के
काले सुफेद
पंख उग आये!

ड्योढ़ी के भीतर
केवल शान्ति,
निःस्वर शान्ति,
निःसीम शान्ति है!

जिसका छोर पकड़े
ज्ञान अज्ञान शून्य
मैं बढ़ता जाता हूँ,…
बढ़ता जाता हूँ!

ओ अन्तरमयि,
तुम्हारा करुणाकर ही
ध्यान बनकर
गति हीन गति से
मुझे खींचता है!

अपने स्थान पर
मैं तुम्हें पाता हूँ!

दृष्टि

अमृत सरोवर में
रति सागर में डूब
मैं पूर्ण हो गया!

किसी बृहत् शतदल का
पराग है यह स्वर्ण धूलि,—
इसके कण-कण में
मधु है!

यह नील
अन्तः स्पर्शी एकाग्र दृष्टि है,
जिसमें अनन्त सृजन स्वप्न
मचल रहे हैं!

तुम्हारी कामदेह शोभा
आदर्श है,
जिसमें शाश्वत बिम्बित है !
रोम हर्ष
प्रकाश अंकुर हैं,
जिनमें नवीन प्रभात उदित है !

वस्तु कभी वस्तु न थी,
तुम्ही थी !—
भले दृष्टि न हो !

तुम,—
जिसे प्रेम, आनन्द
प्रकाश, शान्ति
वाणी नहीं दे पा रहे,
अनन्द शाश्वत
छू नहीं पा रहे;—
तुम्ही हो,
भले दृष्टि न हो !

मुख

सिन्धु
मेरी हथेली में समा जाते हैं,
उन्हें पी जाता हूँ मैं,
जब प्यासा होता हूँ !
प्राणों की आग मे गलकर,
मैं ही उन्हें भरता हूँ !
जब

सूख जाते हैं वे !

सोने के दर्पण-सी दमकती...
प्राणों की आग,
जिसमें आनन्द
मुख देखता है !
मुख,—चूर्ण नील अलकों घिरा,
अनिमेष, प्रेम दृष्टि भरा—
जो ज्ञान को हृदय देती है !
अधर, अग्नि रेख से लाल
तृप्ति चूमती है जिन्हें !
मेरा ही मन बनता है
वह मुख,—

जब मैं तुम्हें
स्मरण करता हूँ !

मेरा ही मन बनता है
वह सुख,—
जब मैं तुम्हें
वरण करता हूँ !

अनुभूति

मैं सूर्य में डूबा,
वह स्वच्छ सरोवर निकला,
रक्त कमल-सा खिला !
मेरे अंग-अंग
स्वर्ण शुभ्र हो उठे !

ओ हीर रश्मि
अन्तः सत्य,
ओ माणिक किरण
अन्तर्वास्तविकते,
बहिर्जीवन सीमाएँ
लाँघो,
अतिक्रम करो;

तुम नित नवीन
अति आधुनिक हो;
ओ अन्त. प्रकाश,
पूर्व पश्चिम से परे
तुम मानव मिलन सूर्य हो !

ओ काल शिखर पर
रजत नील में स्थित
स्वच्छ मानस,
ओ अन्तश्चेतन,
तुम नव उदय
नव हृदय हो !

मेरा इन्द्रिय बोध
तुममें डूब
स्वर्ण शुभ्र
निखर उठा !

मैं मधुप हूँ !

अब पंकस्थल पर भी चलें
तो ऊपर की दृष्टि
डूबने न देगी !

प्रेम

मैंने
गुलाब की
मौन शोभा को देखा !

उसमे विनती की
तुम अपनी
अनिमेष सुषमा की
शुभ्र गहराइयों का रहस्य
मेरे मन की आँखों में
खोलो !

मैं अवाक् रह गया !
वह सजीव प्रेम था !

मैंने सूंघा,
वह उन्मुक्त प्रेम था !
मेरा हृदय
असीम माधुर्य से भर गया !

मैंने
गुलाब को
ओठों से लगाया !
उसका सौकुमार्य
शुभ्र अशरीरी प्रेम था !

मैं गुलाब की
अक्षय शोभा को
निहारता रह गया !

यज्ञ

यह ज्योति दुग्ध है,
शुभ्र, तैल धारवत्,
जो शील है,
अमृत !

ओ मुग्धाओ,
ओ शोभाओ,
अपना तारुण्य अर्पित करो
रचना मंगल को !

यह मानवता का यज्ञ है,
मानव प्रेम का यज्ञ!
तुम्हारे कोमल अंग
समिधा हों!
लावण्य पूत हो,
प्रेम,—प्रेरणा,
मन्त्र!

रस यज्ञ है यह!
नील विहग
रक्त शिखामय
स्वर्ण हंस
फूल निर्झर—
सब आहुति हों,
पूर्णाहुति!
छाया जल जाय,
नारी शेष रहे!
मानव यज्ञ यह,
भाव यज्ञ!
श्रद्धा, आस्था
जी उठें!
मन का मानव जगे!
स्वर्ण चेतन
अमृत पुरुष,
रस मनुष्य!
वह प्रकाशों का प्रकाश है,
स्वर्ण रश्मि,
भू शरीर!
लो उठाओ,
मनाओ,
लो जलाओ,
आहुति बनो,
पूर्णाहुति!

अन्तर्मिलन

आ., यह [illegible] आलोक,
रक्त [illegible], [illegible]
[illegible] आलोक!
[illegible]—
[illegible] के
[illegible]
[illegible],

अब पंकस्थल पर भी चलें
तो ऊपर की दृष्टि
डूबने न देगी !

प्रेम

मैंने
गुलाब की
मौन शोभा को देखा !

उससे विनती की
तुम अपनी
अनिमेष सुषमा की
शुभ्र गहराइयों का रहस्य
मेरे मन की आँखों में
खोलो !

मैं अवाक् रह गया !
वह सजीव प्रेम था !

मैंने सूँघा,
वह उन्मुक्त प्रेम था !
मेरा हृदय
असीम माधुर्य से भर गया !

मैंने
गुलाब को
ओठों से लगाया !
उसका सौकुमार्य
शुभ्र अशरीरी प्रेम था !

मैं गुलाब की
अक्षय शोभा को
निहारता रह गया !

यज्ञ

यह ज्योति दुग्ध है,
शुभ्र, तैल धारवत्,
जो शील है,
अमृत !

ओ मुग्धाओ,
ओ शोभाओ,
अपना तारुण्य अर्पित करो
रचना मंगल को !

देह लाज मान
मिट गये !

आः, यह उज्ज्वल लावण्य,
रस शुभ्र जल !
ज्ञान ध्यान डूब गये,
श्रद्धा विश्वास
उतने स्वच्छ न निकले !
समाधि ? निष्क्रिय,—
तन्मयता प्रेम मूढ़ थी !

यह माणिक मंदिर आलोक
नव जागरण निकला !
देह अन्धकार न थी,
अन्तः सुख का पात्र बन गयी;
इन्द्रियाँ क्षणिक न थीं
नया बोध द्वार बन गयीं;
जीवन मृत्यु न था
नयी शोभा, नयी क्षमता बन गया !

आकाश फालसई,
धरती मणि पद्म को घेर
हरित स्वर्ण हो उठी !

हृदय का अनन्त यौवन,
प्राणों की स्वच्छ आग निकला—
यह रत्न ज्वाल सरोवर !

प्रतीक्षा

नया चाँद निकल आया है
अतल गहराइयों से,
समुद्र से भी अतल गहराइयों से !
स्वप्न तरी पर बैठा
स्फटिक ज्वाल,
लहरों की रुपहली लपटों से घिरा !

रात की गहराइयाँ
सूरज को निगल जाती हैं;
तभी,
चाँद बन आयी
तुम्हारी स्मृति !

सभी रत्न नहीं भाते,
विष वारुणी
स्फटिक, प्रवाल
सर्प, शंख,—

ओ स्वर्ण हरित छायाओ,
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रों में
मुझे मत बाँधो!
मैं गीत खग हूँ,
उड़ता हूँ,—
ज्योति जाल में
नहीं फँसूँगा!

ऊँचाइयों को
समतल में बिछा,
गहराइयों को
समजल मे डुबा,
इन्द्रधनुषी तिनकों का
नीड़ बसा
कलरव बरसाऊँगा,—
नील हरी छाँहों में छिप
स्वप्नों के पंख खोल
धरती को सेऊँगा!

श्रयुगल

ओ शाश्वत दम्पति,
तुम्हारा असीम,
अक्षय
परस्पर का प्यार ही
मेरा
आनन्द
मंगल
और
चेतना का आलोक है!

पट परिवर्तन

किरणों की
सुनहली आभा मे
लिपटा नील
तुम्हारा उत्तरांग
और
तरंगित सागर
मुक्ताफेन जड़ी
हरी रेशमी साड़ी पहने
तुम्हारी

कटि तक डूबी
आधी देह है !

किसे ज्ञात था,
पलक मारते ही
ओस के धुएँ के
बादल-सा
यह संसार
आँखों से ओझल हो जायेगा !
अन्तर में
तुम्ही
शेष रह जाओगी !
ओ विराट् चैतन्य
यह मैं क्या देखता हूँ

कि घर बाग पेड़
और मनुष्य
किसी अदृश्य पट में
चित्रित भर हैं !
ये वास्तविक सत्य नहीं,
मोम के पुतले-भर हैं !

रथवान
अश्वों को चाबुक मारता है,
वह तुम्हारी ही
पीठ पर पड़ रहा है !
और तुम
खिलखिलाकर
भीतर
हँस रहे हो !

ओ अद्वितीय,
अतुलनीय,
मैं आश्चर्य में डूबा
अवाक
तुम्ही में डूबा हूँ !

पारदर्शी

ओ दुग्ध श्वेत
माखन पर्वत के सूर्य,
ओ श्वेत कमलों के वन,
प्राणों के सुनहले जल,—
तुम्हारे सूक्ष्म कोमल
उरोज मांसल प्रकाश ने
मुझे घेर लिया !

तुम्हारी आभा
गुह्य सौरभ है—
जिसने मेरी इन्द्रियों को
लपेट लिया !

तुम्हारे अनन्त यौवन की सुरा पी
मेरा मन
तीनों अवस्थाओं के परे
जाग उठा !
मेरी कामना की आग में
डूबकर
तुम चांद बन गये हो !
और
निशाओं के
उभरे नील उरोजों से
भ्रमर-से चिपक गये हो !

मैंने तुम्हारे लिए
स्वप्नों का मौन
मधु कुंज बनाया है,—
ओ विद्युत् अनल,
तुम प्रीति सौम्य बनकर
मानवीय रूप ग्रहण करो !

तुम मानव के
अन्तर में छिपे प्रकाश के
माध्यम बन सको,
वह अधिक चेतन
अधिक पारदर्शी है !

अमृत

मैं सूर्य की किरणें दुहूँ
तुम चांद की !
मैं तुम्हें प्रकाश दूँ
तुम प्यार !

मैं उच्च पर्वत शिखरों से
बोलूँ—
जहाँ पौ फटने के पहिले
फालसई नीलिमाओं के कुंज में
उषा की सलज लालिमा में लिपटी
श्वेत कमल कली-सी
शान्ति, मौन सोयी है !

तुम सागर की गहराइयों से गाना,
जहाँ फेनों के मोती उगलती

लहरों पर
रुपहली चन्द्र ज्वाल तरी का
मोहित गवाक्ष खोले
रत्नों की सतरँग छाया में लिपटी
स्वप्न पंख
भावना अप्सरी रहती है,
अनिमेष शोभा में जगी !

समुद्र तल में अनेक रत्न हैं,
जिनके मूल रंग
और आदि-ज्योति
ऊपर की अमलताओं में—
हीरक झरनों के सूतों-सी
दमकती
सूर्य किरणों में हैं !

चन्द्रमा का
शुभ्र पीत पावक भी
सूर्य प्रकाश का ही
नवनीत है !

सूर्य चन्द्र
सत्य ही के वत्स हैं—
शान्ति और शोभा
श्रद्धा और भक्ति
उसी की धेनुएँ हैं !

ये किरणें भी
कामधेनु हैं,—
जिनके स्तनों से
धारोष्ण प्रकाश
मधुशीत अमृत
बहता है !
ओ आनन्द,
प्रेम सत्य ही का दुग्ध है,
जिसे पीकर
सूर्य चन्द्र पलते हैं !
वही
प्रकाश और अमृत है !

कोंपलें

आज कोई काम नहीं,—
सोने के तार-सा खिंचा
प्यारा दिन है !

कल—
गुलाबों में
काट-छांट की थी,
तब से
आँखों के सामने
नयी - नयी कोंपलें
फूट रही हैं!—
ललछौंही कोंपलें
स्वप्न भरी
रतनार चितवन - सी,
शुभ्र पीत चिनगियों - सी,—
लपटों के पग धर
नयी पीढ़ी बढ़ रही है!
ज्यों ही आँखें मूंदता हूँ
कोंपलें, केवल कोंपलें,...
रेशमी मूंगी कोंपलें,
रुपहले सुनहले इंगितों-सी
बरस पड़ती हैं!

ओ सृजन उन्मेष,
मन ने बहुत काट-छांट की,
पुराने ठूंठ उखाड़े,
रही जड़ें खोदी,
भद्दी डालियां
काटीं तरासी,—
इधर - उधर
कला शिल्प के हाथों से
भाव बोध के स्पर्शों से
सहस्रों नये वसन्त संवारे!
अभी असंख्य शरदों को
अपने अंग
पावक में नहलाकर
रूप ग्रहण करना है!
आज मुझे
नये स्वप्न
नये जागरण
नये चैतन्य की कोपलें
दिखायी देती हैं!
सर्वत्र
कोंपलें ही कोंपलें
आँखों के सामने

भाव भरा मुख
स्वप्न भरी चितवन
खोल रही हैं !

प्रबोध

यह गौर मांस सरोवर
जिसमें मैं कूद गया हूँ !
इसमे स्वर्ण हंस हैं,
शुभ्र अरुण कमल !

ओ शोभा पावक के कुण्ड,
तुम कितने शीतल हो !
तुम्हारा अमृत पीकर
मेरे तन-मन-प्राण तृप्त हो गये—
मधुर अमृत पीकर !

उन्मत्त भावना हिलोरें
मुझे घेरे हुए हैं,
मैं तन्मय,
उनके इच्छाकुल आलिंगन मे
बँध गया हूँ,—
फूल मालाओं की लहरों के
आनन्द पाश में !

स्वप्नों की गहराइयाँ
मुझे अपनी ओर खींचती हैं !—
इन अतलताओं का सुख
मन को मूछित कर देता है !
ओ अनाम सौरभ
अश्रुत संगीत
अनुपम सौन्दर्य के देश,
इस नीरव शान्ति के
अतल सिन्धु से
मैं सर्वांग पूर्ण होकर
निकलूंगा !
सम्पूर्ण होकर !

मुझे
नील कुहासे में खोयी
धरती पर चलना है !—
हरे अँधेरे में लिपटी
धरती पर !

पादपीठ

तुम
किरणों के मुक्ताभ प्यालों में
सुनहली हाला लायी हो !—
मेरा हृदय
शुभ्र पद्म - सा खिल उठा है !
उसमें चन्द्रकला ने
अन्तः प्रेम का
रुपहला नीड़ बना लिया है !
पिघली आग - सी हाला
नहीं पीयेगी
वह, अमृत पीती है !

ओ सुनहली किरणों,
तुम्हारा स्वागत करता हूँ,
तुम ज्ञान नील गवाक्ष से
मुझ पर बरसती रहो !

यह हीर रश्मि
चन्द्रकला
परात्पर ज्योति है !
उसे मेरी
अन्तर रचना करने दो,
वह अनन्य प्रेयसी है !

तुम
अपने वैश्व ऐश्वर्य से
मेरे तन - मन सँवारो,—
तुम्हारे स्वर्णिम पंखों पर
मैं अनन्त शोभाओं के
निःसीम प्रसारों में विचरण करूँ !
नव प्रभात का दूत बन सकूँ !

यह शुभ्र चन्द्रकला
रजत पावक का कुण्ड है !
अचेतन काले सिन्धु में
इसकी असंख्य लपटें
कूद पड़ी हैं !
प्रेम, आनन्द और रस का रूप
बदल गया है !

हृदय
शान्ति की स्वच्छ अतलताओं में
लीन होता जा रहा है !

विश्व कहाँ खो गया है !
देश काल ? जन्म मरण ?
ओ चन्द्रकले,
केवल अमृतत्व ही अमृतत्व
अनिर्वचनीय
अस्तित्व ही अस्तित्व
शेष है !
मेरी पाद पीठ
अन्धकार है,
जहाँ तुझे
खड़ा रहना है !

भाव रूप

अप्सराएँ !—
हिम कलशों पर
साँझ प्रात
मूँगी लाली,—
सात लपटों वाली
इन्द्रधनुष छाया,—
हेम गौर
स्वप्न चरण चाँदनी की
रूप हीन शोभा,—
तितली, जुगनूँ
हिलोर,—
ओस,
अप्सराएँ !

लीला, लावण्य,
तनिमा,—
अजान चितवन
निश्छल भंगिमा,
अदृश्य रोमांच,—
आशा, लज्जा,
सज्जा,—
अप्सराएँ !

ओ सुर सुन्दरियो,
सुर बालाओ,
इस रूप ज्वाल की देह को
प्राणों की धूपछाँह में
नहलाओ,
डुबाओ,—

यह धरती की हँसमुख सहेली,
उसका सोंधा पराग है !

हंसों की पीठ पर
कमलों का कनक मरन्द
बिखरा है,
सीप की हथेली में
सुनहला मोती हँस रहा,
लहरों के धड़कते वक्षःस्थल पर
रुपहले अंगार-सा
चांद ऊब - डूब कर रहा है !

ओ भाव देही
अनन्त यौवनाओ,
यह मृणाल तन्तु है,
पागल आशा का सेतु !—
इसी से आओ जाओ !

अभी मानव चेतना में
किरणों का तोरण
नहीं खुला,—
जिससे स्वर्ग सुषमा
अगुण्ठित
अभिसार कर सके !

विकास

नीली नीहारिकाएँ
शिखरों की हैं,
हरीतिमाएँ
घाटियों की !—

जिनके आर पार
रश्मि छाया सेतु बाँध
तुम आती जाती हो !

अन्तः सौरभ से खिच
भौंरों की भीड़
तुम्हे घेरे
गूंजती रहती है !

और
ये सदियों के खँडहर हैं !
जहाँ देह - मन - प्राण
बासी अन्धकार की सड़ांध में
दिवान्धों-से
औंधे मुंह लटके हैं !

झिल्लियों की सेना
अन्तर पुकार को रौंद
चीत्कार भरती है !

एक दिन में
मीनारें मेहरावें
कैसे उग आयेंगी ?—
कि रश्मि रेखाओं से
दीपित की जा सकें !
हैं ऐसे विद्युद्दीप
मन का अन्धकार
मिटा सकें ?

ओ विज्ञान,
देह भले ही
वायुयान में उड़े,
मन अभी
ठेले, बैलगाड़ी पर ही
दचके खाता है !

हाय री, रूढ़िप्रिय
जड़ते,
तेरी पशुओं की-सी
सशंक, त्रस्त चितवन देख
दया आती है !

वर्जनाएं

तुम स्वर्ण हरित अन्धकार में
लपेटकर
कई रेंगनेवाली
इच्छाएं ले आते हो,
जिनकी रीढ़
उठ नहीं सकती !

इनका क्या होगा
मैं नहीं जानता !
पिटारी खोलते ही
टेढ़े - मेढ़े साँपों-सी
ये
धरती - भर में
फैल जाती हैं !

कौन शक्ति इन्हें बांधेगी ?
कौन कला समझायेगी,

कौन शोभा अलंकृत करेगी ?
ये मधु - तिक्त ज्वलित - शीत
वर्जनाएँ हैं !—
जो अब मुक्त हो रही हैं !
तुम्हारी सुनहली अलकों की
ये फूल माल बनेंगी,
इनकी मादन गन्ध पीकर
मृत्यु जी उठेगी !

तुम स्वर्ण हरित अन्धकार में
लपेटकर
अमृत के स्रोत
ले आये थे,
जो हृदय शिराएँ बन
समस्त अस्तित्व में
नवीन रक्त
संचार कर रही हैं !

घर

समुद्र की
सीत्कार भरतीं
आसुरी आँधियों के बीच
वज्र की चट्टान पर
सीना ताने
यह किसका घर है ?
सुदूर दीप स्तम्भ से
ज्योति प्रपात बरसाता हुआ !…
या जलपोत है ?

नथुनों से फेन उगलतीं
अजगर तरंगें
सहस्रों फन फैलाये
इसे चारों ओर घेरे
फूत्कार कर रही हैं !
उनकी नाड़ियों में
लालसा का कालकूट
दौड़ रहा है !
वे अतृप्ति की
ऐंठती रस्सियों - सी
इसे कसे हैं !

इस निर्जन
स्फटिक स्वच्छ मन्दिर के

मुक्ताभ कदा में
कल रात चांद
चांदनी के संग
सोया था !
किरणों की बाँहों में
चन्दिरा की
अनावृत ज्वाला को
लिपटाये !

तब
लहरों के फेनिल फनों में
स्वप्नों की मणियाँ
दमक रही थीं !

सवेरे
इसी मन्दिर के अजिर मे
अरुणोदय हुआ !
रक्त मदिरा पिये !

रात और प्रभात
पाहुन - भर थे !—
यह धरती का घर है,—
(आकाश मन्दिर नहीं !)
हरिताभ शान्ति में
निमज्जित !

सिन्धु तरंगें
पंक सनी टाँगों से बहती
धरा योनि की दुर्गन्ध
धो-धोकर
कड़ुवाती
मुंह बिचकाती,
पछाड़ खाती रहती हैं !

यह धरती पुत्र
किसान का घर है,—
द्वार पर
पीतल के चमचमाते
जल भरे कलस लिये,
सिर पर आँचल दिये,
युवती बहू खड़ी है,—
अनन्त यौवना
बहू !

दन्तकथा

पुरानी ही दुनिया अच्छी
पुरानी ही दुनिया !

नदी में कमल बह रहे—
कहाँ से आ रहे ?

किनारे-किनारे
स्रोत की ओर
जाते···जाते···देखा,

नदी के बीच
रंगीन भँवर पड़ा है ;—
उसी से फुहार की तरह
कमल बरस रहे हैं !

हाय रे, छोरी की नाभि-से भँवर !
पास जाते ही
भँवर ने खींच लिया !—
वह परियों के महल का
द्वार था !

परियाँ खिलखिलाकर
हँसीं !—
भौंहों के संकेत से कहा,
राजकुमारी से ब्याह करो !

परियों की राजकुमारी
नत चितवन
मुसकुरा दी !
उसके मुँह में
वैसा ही कमल था !

पुरानी ही दुनिया अच्छी,
पुरानी ही दुनिया !

वह सीधा था,
हृदय में दया थी !
झाड़ फूँस की कुटी,—
भगवान परीक्षा लेने आये !
भस्म रमाये, झोली लटकाये,—
उन्होंने हाथ फैलाये
भीख माँगी !
मुट्ठी-भर अन्न पाकर
चुपके,

वरदान दे गये ! ...

झाड़-पात की कुटी
सोने का महल बन गयी !
द्वारपाल चँवर डुला रहे हैं,—
बुढ़िया ब्राह्मणी
नवयुवती बन गयी,
शची-सा शृंगार किये है !
पुरानी ही दुनिया अच्छी,
पुरानी ही दुनिया !

एक थी स्त्री, एक था पुरुष,
दोनों प्रेम-डोर में बँधे,
सच्चे प्रेमी प्रेमिका थे !
मन्दिर के अजिर में पड़े रहते,
देवी का प्रसाद पाते !
दोनों एक साथ मरे !—
मरकर
हरे-भरे लम्बे
पेड़ बन गये !

अब
दोनों धूपछाँह मे
आँखमिचौनी खेलते,
दिन-भर पत्तों के ओठ हिला
गुपचुप
बातें करते !
वसन्त में कोयल पूछती,
कूहू, कूहू,
कौन है, कौन है ?

बरसात में
पपीहा उत्तर देता,
पिऊ, पिऊ,
प्रिय है, प्रिय है !
पुरानी ही दुनिया अच्छी,
सच,
पुरानी ही दुनिया !

बिम्ब

तुम रति की भौं हो
कि काम का धनु खण्ड ?
ओ चाँद,
यह रेशमी आशा बन्ध
तुम्ही ने बुना !

जिसमें
किरणों के असंख्य रंग
उभर आये हैं!

ओ प्यार के टूटे दर्पण,
तुम्हारा खण्ड-खण्ड पूर्ण है!
जिसमें अपूर्ण भी
सम्पूर्ण दिखायी देता है।
यह कौन-सी आग है
माखन-सी कोमल,
स्तन-सी मांसल!
इसमें जलना ही
सोना बनना है!
विरह का गरल
अमृत बन
कब का शिव हो गया,—
तुम्हारा शशि-सा पद नख
भाल पर धारण कर!

लाल फूलों की लौ—
मेरी लालसा—
जीभ चटकारती है!
निर्जन में लेटी चाँदनी
तुम्हारी ओर ताकती है!
तुम्हारी सात्विक सुधा
प्राणों की समस्त ज्वाला
पी लेती है!—

ओ अमृत घट,
ज्ञान के निःसीम नील में
सुनहले आशा के बन्ध के भीतर
तुम्हीं हो,—
प्यास की अनन्त लहरियों में
रुपहली नाव खेनेवाले
आत्म मग्न
तुम्हीं हो!—
मैं नहीं!

इन्द्रिय प्रमाण

शरद के
रजत नील अंचल में
पीले गुलाबों का
सूर्यास्त

कुम्हला न जाय,—
वायु स्तब्ध···
विहग मौन !···
सूक्ष्म कनक परागों से
आदिम स्मृति-सी
गूढ़ गन्ध
अन्तर में समा गयी !

जिस सूर्य मण्डल में
प्रकाश
कभी अस्त नहीं होता,
उसकी यह
कैसी करुण अनुभूति,—
लीला अनुभव !

नयी नींव

ओ आत्म व्यथा के गायक,
विश्व वेदना के पहाड़ को
तिल की ओट कर,
अपने क्षुद्र तिल-से दुख का
पहाड़ बनाकर
विश्व हृदय पर
रखना चाहते हो ?
अहंता में पथरायी
निजत्व की दीवार तोड़ो,
यह वज्र कपाट
तुम्हें बन्दी बनाये है !

आत्म मोह के
इस घने अँधियाले,
वन के पार
नये अरुणोदय के
क्षितिज खुले हैं !
जहाँ
ममता, अहंता और
आत्मरति के कृमियों को
पैरों तले रौंदते—कुचलते
असंख्य चरण
श्रम स्वेद के पंक में सने—
निरन्तर
आगे बढ़ रहे हैं !

ओ निजत्व के वादक,
इस अरण्य रोदन से, लाभ?
अपने पर
आँसू मत बहाओ!
अरण्य और सत्य के बीच
शान्ति, धैर्य और निष्ठा की
दुर्भेद्य मेखला है,—
जिसके पार
तेरा रिक्त रुदन
नहीं पहुँचेगा!

वहाँ,
अपने सुख-दुख भूलकर
प्रबुद्ध मानवता
सुनहले अन्तरिक्षों में
नवीन
भू रचना की नींव
डाल रही है!

मूर्धन्य

ओ इस्पात के सत्य,
मनुष्य की नाड़ियों में बह,
उसके पैरों तले बिछ,—
लोहे की टोपी बन
उसके सिर पर मत चढ़!

सिर पर
फूलों का ही मुकुट
शोभा देता है!

स्वप्नों से घर की नींव
पड़ सकती है,
इस्पात
गलाकर
नहीं पिया जा सकता!
फूल ही पात्र हैं
जिनसे मधु पिया जाता है!

मैं ही हूँ वह मधु
जिसे प्रकृति ने
असंख्य फूलों से चुना है!
जिसमें सभी आकाशों का
सुनहरा मरन्द है!

ओ इस्पात के तथ्य
मैं तेरा जूता पहन
दृढ़ संकल्प के चरण
बढ़ाऊँगा,—
पर तुझे
मूर्धन्य स्थान
नहीं दे सकता !
तू साधन रह,
साध्य न बन !

एकाग्रता

तुम्हारी पवित्रता
अनिर्वचनीय है,—
जिसकी अवाक् गहराइयों की
शुभ्र सीप में
सत्य—
मुक्ताभ सत्य
पलता है !

ओ प्रेम की प्रगाढ़ते,
जो अपनी तन्मयता में
मूक है !
ओ निष्ठा की तीव्रते,
जो अपनी एकाग्रता में
आत्मा - विस्मृत है !—

इन अतल गहराइयों को
कैसे समतल बनाऊँ ?
इन अलंघ्य ऊँचाइयों को
कैसे समस्थल पर लाऊँ !

कि
बाहर - भीतर
तुम्हीं को देखूँ—
तुम्हारी ही सन्निधि में रहूँ,—
तुम्हीं में
समाऊँ !

धर्मदान

यह प्रकाश है,
तुम इसमें क्या खोजोगे,
क्या पाओगे ?—

यह दीप
तुम्हें सौंपता हूँ !

यह अग्नि है,
तुम किन आनन्दों के
यज्ञ करोगे,
किन कामनाओं की
हवि दोगे ?—
यह वेदी
तुम्हें सौंपता हूँ !

यह प्रकाश और अग्नि ही नहीं,
गति है, जीवन है,
तुम किन लोकों में
जा पाओगे ? —
यह किरण
तुम्हें सौंपता हूँ !
यह अग्नि
अन्तर अनुभूति है,
तुम सत्य के स्रोत को
देख पाओगे कि नहीं ?
यह अभीप्सा
यह प्रेरणा
तुम्हें सौंपता हूँ !

सान्निध्य

तुम्हारी शोभा देख
फूलों की आँखें
अपलक रह गयीं !

तुम फूलों की फूल हो,
माखन - सी कोमल !—
तुम्हारे शुभ्र वक्ष में
मुँह छिपाकर
मैं
ध्यान की
तन्मय अतलताओं में
डूब जाता हूँ !

ओ कभी न खो जानेवाली,
मेरे इन्द्रिय द्वारों से
तुम्हारे आनन्द का
अति प्रवाह

दिगन्तों के उस पार
टकराता रहता है !
मेरी शान्ति
तुम्हारे
केन्द्र वृन्त पर
कभी न कुम्हलानेवाले
अस्तित्व की तरह
खिली है !

चाँद

चाँद ?
मैं उसे अवश्य पकड़ूँगा !
प्रेम के पिंजड़े में पालूँगा,
हृदय की डाल पर सुलाऊँगा,—
प्यार की पँखुड़ी
चाह की अँखड़ी
चाँद—
उससे
स्वप्नों का नीड़ सजाऊँगा !
तुम्हारा ही तो मुकुर है !
फूल के मुख पर
तितली-सा बैठकर
वह सतरंगे पर फैलायेगा !
मैं उसे
इन्द्रधनु की झूल में झुलाऊँगा,
प्यार का माखन खिलाऊँगा !
तुम्हारा ही तो मुख है !
चाँद ?
मैं उसे निश्चय चखूँगा,
फूल की हथेली पर रखूँगा,—
तुम्हारा तो प्रकाश है !
भावों से सजोऊँगा,
आँसू से धोऊँगा !
तुम्हारी तो शोभा है !
पत्तों के अन्तराल से
अलकों के जाल से
मैं चाँद को
अवश्य पकड़ूँगा !

दृष्टि नीलिमा में
रूप चाँदनी में बखेरूँगा,
तुम्हारा तो बोध है !

भाव पथ

शपथ !—
अशुभ न करूँगा,
असुन्दर न वरूँगा,
तुम मुरझा जाती हो !

ओ भावना सखी,
तुमने मुझ पर
सर्वस्व
वार दिया !—
मैं दूसरों पर निछावर हो सकूँ !
प्रीति चेतने,
जीवन सौन्दर्य
तुम्हारी छाया है !
बिना स्पर्श
निर्जीव, निष्प्राण
हो उठता !

रिक्त गुण्ठन है
स्त्री की शोभा,
रूप का भाग !
मैं उससे न बोलूँगा,
न छूऊँगा,—
वह देह बोध ही बनी रही तो !
पथ रोध है
देह बोध,
भूत बाधा !

ओ प्राण सखी,
स्वप्न सखी,
तुम्हारा लावण्य,—
अमृत निर्झर
उतरता है
चन्द्र किरण
रथ से !

बिना छुए,
रोमांच हो उठता,

बिना बोले
मन समझ लेता है !
अदृश्य स्थल है यह,
गुह्य कुंज,
गन्ध वन,—
जहाँ मिलते हैं हम !

शाश्वत वसन्त...
अनन्त तारुण्य...
अनिन्द्य सौन्दर्य...
पहरा देते हैं यहाँ !

प्रकाश

सुनहली
धान की बाली-सी
दीप शिखाएँ
अँधियाली के वृन्त पर काँपतीं,—
क्या जानें ?

हीरक सकोरों में
आलोक छटाएँ
स्वप्न शीश
इन्द्रधनुष-सी सुलगीं—
उनकी गूढ़ कथा है !

जिसने सूर्य ही का मुख ताका
इन्हें न पहचानेगा !
इनका प्रकाश
उस अँधेरे को हरता है
जिसे सूरज नहीं हरता !

कितने ही प्रकाश हैं !—
दूध के झाग-सा
रूई के सूत-सा
उजियाला
सबसे साधारण !

मन की स्नेह ज्योति
अँधेरे को बिना मिटाये
सोना बनाती है,—
वह भी प्रकाश है !
अन्धकार के पार
प्रकाश के हृदय में
जो लौ जलती है,—

अनिमेष,
ध्यान लीन,—
यह बिना देखे
सब कुछ समझती है !

कालातीत

ये नीरव नीलिमा घाटियाँ
स्वप्नों की हैं !
जहाँ शोभा चलती है
अशरीरी !—
आनन्द निर्झरी-सी
हीरक रव !

यहाँ शान्ति की
स्वच्छ सरसी में
प्रीति नहाती है,
सुनहला परिधान निखरा
मुक्ति में डूबी !

असीम का स्वभाव,—
वह शोभा भी
सघन नीलिमा में बँधा
असीम ही रहता !—
सरसी में शोभा भी !
अनिमेष दृष्टि का अवाक् ध्यान
शाश्वत अनुभूति है !
ये नीलिमा घाटियाँ हैं
कालातीत—
जहाँ अशरीरी शोभा
रहती,
दृष्टि परिधान छूटा
आत्म मग्न,
ज्योति नग्न !

अन्तःस्थित

मुझे ज्ञात है,
तुम
जो नवीन दिगन्तों में
स्वर्णिम प्रभात हो,
तुम्हीं

मेरे मानस में
शुभ्र पद्म कली बन
खिली हो !

मेरी
हृदय की दृष्टि
तुम्हें अपलक
निहारती रहे !

वह-मैं

जीवन है,
तन है, मन है,
इनसे भी गहरा है
एक-है,
हीरक-है,
रश्मि-है !

देह,
व्यक्ति,
समाज,—
इन वस्त्रों को उतारो,
मेरे स्वप्न कक्ष में
अपने को सँवारो !
तुम्हें नग्न देखना चाहता हूँ,—
शब्दों से
भावों से
सूक्ष्म है
वह-है !

शुभ्र - शुद्ध,
अचिह्न अविद्ध,—
अपने को नये रूप से निखारो,
अपने को अपने मे निहारो,—
हृदय कक्ष में है
वह दर्पण !

छातियों में लिपटी हो
धूलि में, गन्ध में
रूप में, छन्द में,—

इतिहास
दर्शन
विज्ञान,—

इनसे परे हो तुम,
परे हूँ मैं

अनिमेष,
ध्यान लीन,—
वह बिना देखे
सब कुछ समझती है!

कालातीत

ये नीरव नीलिमा घाटियाँ
स्वप्नों की हैं!
जहाँ शोभा चलती है
अशरीरी!—
आनन्द निर्झरी-सी
हीरक रव!

जहाँ शान्ति की
स्वच्छ सरसी में
प्रीति नहाती है,
सुनहला परिधान गिराकर
मुक्ति में डूबी!

असीम का स्वभाव,—
वह शोभा की
सघन नीलिमा में बँधा
असीम ही रहता!—
सरसी में शोभा भी!
अनिमेष दृष्टि का प्रकाश दान
शाश्वत अनुभूति है!
ये नीलिमा घाटियाँ हैं
कालातीत—
जहाँ अशरीरी शोभा
रहती,
दृष्टि परिधान हटा
आत्म मग्न,
ज्योति नग्न!

अन्तःस्थित

मुझे ज्ञात है,
तुम
जो नवीन दिगन्तों में
स्वर्णिम प्रभात हो,
तुम्हीं

मेरे मानस में
शुभ्र पद्म कली बन
खिली हो!

मेरी
हृदय की दृष्टि
तुम्हें अपलक
निहारती रहे!

वह-मैं

जीवन है,
तन है, मन है,
इनसे भी गहरा है
एक-है,
हीरक-है,
रश्मि-है!

देह,
व्यक्ति,
समाज,—
इन वस्त्रों को उतारो,
मेरे स्वप्न कक्ष में
अपने को सँवारो!
तुम्हें नग्न देखना चाहता हूँ,—
शब्दों से
भावों से
सूक्ष्म है
वह-है!

शुभ्र - शुद्ध,
अविद्ध अविद्ध,—
अपने को नये रूप से निखारो,
अपने को अपने में निहारो,—
हृदय कक्ष में है
वह दर्पण!

छातियों में लिपटी हो
धूलि में, गन्ध में
रूप में, छन्द में,—
इतिहास
दर्शन
विज्ञान,—
इनसे परे हो तुम,
परे हूँ मैं

तुम और मैं !—
काल शून्य है
वह-है,
वह-तुम,
वह-मैं !

जीवन बोध

इन इन्द्रनील आरोहों पर
अविराम बजनेवाली
रुपहली घण्टियों के नीरव स्वर
यदि न सुनायी पड़ते हों,
दुग्ध फेन भापों में छिपी
अमृत स्रोतों-सी सरकती
चाँद की किरणें
न दिखायी देती हों,—
इन नीहार-नील ऊँचाइयों में खोये
अदृश्य शिखरों पर
मुक्ताभ सोपानों से उतरती अप्सरियाँ
यदि मध्यवर्ती छाया पथ में
रुक जाती हों—
विद्युत् पंख विहग
ज्योति की रक्ताभ खोहों में
खो जाते हों—
और
रूई के झाग-से मेमने
उन अवाक् नीलिमाओं में
न चढ़ पाते हों,—
तो,
मैं अपने श्रद्धा मौन गीतों को
ध्यान पथ से
वहाँ भेजूंगा !
उनके अभीप्सा के पंख,
उन्हें अवश्य छू पायेंगे !
वहाँ शुभ्र ऊँची वायुएँ
इन्द्रधनुष पालनों में
सहस्रों नयी उगी
शशि कलाओं को
झुलाती हैं,—
वहाँ अज्ञात गन्ध
घ्राणेन्द्रिय को मूर्छित कर

माणिक सुरा-सी
प्राणों में भर जाती है—

मोतियों के झरनों में लटके
अनेक स्वप्न दूत
सीप के मुक्ता स्मित पंख फैलाये
निःस्वर उच्छ्रायों में
मँडराते हैं,—

मैं, उन आरोहों को
प्राणों की हरी गहराइयों में उलट
नये जीवन बोध की फसल
उगाऊँगा !

ए अरुणोदय के रक्तमुख सूर्य,
उपायों के हेम गौर
स्वप्न शिखर वृक्षों में
मुंह छिपाये न रहो,

चन्द्रमुखी
सलज्ज सन्ध्या को
बाँहों में समेटे
अनुराग भरे प्रवाल कुंजों में
सोने मत जाओ,—

आज बौना दिवा पुरुष
श्यामा रजनी की
अचेतन गहराइयों में डूबकर
आत्म विस्मृति मे
खो जाना चाहता है !

ओ महानील के प्रहरी कवि,
प्रभात तारक बन
जगो,
स्वप्न शुभ्र प्रकाश लपटों में
मनोदैन्य को भस्म करो !

ओ तरुण कवि,
कल के सूर्य,
कुहासों के आरोहों से
बाहर निकल

नये विश्वास का
कनक मण्डल क्षितिज
प्रस्तुत करो,
नयी आस्था की
उर्वर भूमि,—

मैं गीतों के
सूप-से पंख फैलाकर
प्रीति-ध्वज, शोभा प्ररोह
नये प्राण बीज बोऊँगा,—
जिनके मूल
अनवगाहित
चैतन्य की गहराइयों में
फैलेंगे !

कीर्ति

किसी एक की नहीं
यह कीर्ति,
समस्त मानवता की है !
पूर्व-पश्चिम से मुक्त
जन-भू की प्रतिभू
मानवता की !

शस्य बालियों भरी,
ग्राम्र मंजरियों सजी—
मुकुट नहीं कीर्ति,
मन की
व्यक्तित्व की
विभा है !

कोयल कूक रही !
तरु लता वन में
तरुण रुधिर दौड़ रहा !
किरणों से अनुराग
सुनहला पराग
बरस रहा !

सृजन क्रान्ति यह,
रचना रूपान्तर !
जीवन शोभा का सिन्धु
हिल्लोलित हो उठा,
दृगों को नयी दृष्टि
कानों को अर्थ बोध के
नये स्वर मिल गये !

ओ नयी आग,
बाहुओं वक्षों में
जघनों योनियों में
नया आनन्द कूद रहा !
भाल से, भ्रुवों से

कपोलों अधरों से
नया लावण्य निखर रहा !
ओ शुभ्र शक्तिमत्ते,
रस की नयी चेतने,
व्यक्ति तुम्हें बन्दी नहीं बना सकेगा,
ममता कलुषित नहीं करेगी !
तुम नयी शक्ति, नयी वेदना,
शील स्वच्छ
नयी सामाजिकता हो !
रक्त मांस की
सुनहली शिखा,
नयी प्राणेच्छा
प्रणयेच्छा बन
नयी एकता, नये बोध के
प्राण बीज बो
नव यौवन आग भरी
भू जीवन अनुराग हरी
मानवता की सौम्य पीढ़ी
उपजायेगी !
नयी मानसिकता की धात्री,
रचना मंगल का
स्वर्णिम तोरण बनेगी !
उसी मानवता की है
विश्व कीर्ति,
स्वप्न बालियों भरी
गीत मंजरियों गुँथी !

आनन्द

इन्द्रियाँ
सीमाओं में बँधी
उसका पूर्णतः
अनुभव न कर सकीं;

वाणी
कला से सधी
उसे सम्पूर्ण
अभिव्यक्ति न दे सकी !

आनन्द
निखरकर
मेरे हृदय में समा गया !

और
स्वर्ग पद्म तुल्य
अपने समग्र सौन्दर्य में
खिल उठा !

उपस्थिति

किन अगोचर शिखरों से
ये सुधा स्रोत
हृदय में झरते हैं !

तुम्हारी शान्ति
स्फटिक पर्वत - सी,
अडिग,—

तुम्हारा आनन्द
क्षीर सिन्धु - सा तरंगहीन,
तुम्हारा सौन्दर्य
सौम्य,
आत्म विस्मृत अवाक् !

कितने प्रकाश पर्वत
अन्धकार घाटियाँ
पार कर
तुम्हारे निकट आ सका हूँ,
तुम्हारा
अकलुष स्पर्श
पा सका हूँ !

ओ अन्तश्चेतने,
मानवता
तुम्हारी व्यापक पवित्रता में
तुम्हारी उपस्थिति की
अविराम सुधा वृष्टि में
स्नान कर
स्वच्छ
समग्र बन सके !

भाव

चन्द्रमा
मेरा यज्ञ कुण्ड है,
शोभा के हाथ
हवि अर्पित करते हैं !

भावना कल्पना
स्वप्न प्रेरणा—
सभी चरु हैं,
समिधा हैं,
आहुति हैं !

ओ आनन्द की लपटो,
उठो !
ओ प्रीति, ओ प्रकाश,
जगो !

यह सौन्दर्य यज्ञ है,
कला यज्ञ !
शान्ति ही होती है !

आत्मा
इन्द्रियों की
रुपहली लपटों का
अमृत पान कर रही है !

प्राणों की
स्वतः जलनेवाली समित्
जल-जल उठती है !
अवचेतन की गुहाएँ
ओषधियों से दीप्त हैं !

यह सूक्ष्म यज्ञ है,
भाव यज्ञ !
चन्द्रमा ही
यज्ञ वेदी है !

भावावेश

अकारण
शुभ्र प्रेम ही को
ढाल दिया तुमने
अपनी अमूर्त शोभा,
अमूर्त आनन्द में !

जब मैं
अमूर्तता
निराकारता के
मुख का गुण्ठन
खोलता हूँ—
अपनी नग्न
गुण नग्न

चम्पई आभा में घिरे
तुम्हीं मुझे दीखते हो !

ओ रुपहले सौरभ घन,
किस गूढ़ सुगन्ध की
घनीभूत ढली है
तुम्हारी देह ?

भावावेश में
जब हृदय
गहरी साँस लेता है,
तुम उड़कर
उसी में समा जाते हो !

ओ मेरे
सहस्रों रोम्रों में प्ररोहित
मधुरतम
प्रेम !

अवरोहण

मेरी दुर्बल इन्द्रियाँ
तुम्हारे आनन्द का उत्पात
नही सहेंगी,—
उन्हें वज्र का बनाम्रो !

तुम्हारा आनन्द
समुद्री प्रतिवात है,
मेरे रोम-रोम
दिशाओं में शुभ्र अट्टहास भर
जग की सीमा से टकराकर
मन्थित हो उठते हैं।

मन के समस्त दुर्ग
यम नियम की दीवारें
टूटकर
छिन्न-भिन्न हो गयीं !

तुम्हारे उन्मत्त शक्तिपात की
रति-क्रीड़ा के लिए
मेरी कोमल तृणों की देह
लोट-पोट हो
बिछ-बिछ जाती है !

तुम कामोन्मत्त
प्रेमोन्मत्त पर्गों से
उसे रौंदकर

जीवन विह्वल
बना देते हो!
सौ-सौ अग्नि लपटों में उठ
मेरी चेतना
सजग हो उठती है!
तुम्हारा विद्युत् आनन्द
भाव प्रलय मचाकर
नयी सृष्टि करता है!

रक्षित

तुम संयुक्त हो?
फूल के कटोरों का मधु
मधुपायी पी गये
तो, पीने दो उन्हें!

नया वसन्त
कल नये कटोरों में
नया आसव ढालेगा!

तुम्हारी देह का लावण्य
यदि इन्द्रिय तृष्णा
पी गयी हो
तो, छककर पी लेने दो!
आत्मा के दूत
कल, नये क्षितिजों का सौन्दर्य
आँखों के सामने
खोलेंगे!

प्रेम
देह मन में सीमित,—
वियोगानल में
जल रहा हो,
जलने दो,—

वह सोने-सा तपकर
नवीन कारुण्य
नवीन मांगल्य के
ऐश्वर्यों में
विकसित होगा!
तुम संयुक्त हो न!

नया देश

ओ अन्धकार के
सुनहले पर्वत,

जिसने अभी
पंख मारना नहीं सीखा,—

जो मानस अतलताओं में
मैनाक की तरह पैठा है,
जिसमें स्वर्ग की
सैकड़ों गहराइयाँ
डूब गयी हैं !

मैं आज
तुम्हारे ही शिखर से
बोल रहा हूँ !—

तुम, जिससे
स्वप्न देही
शंख गौर ज्योत्स्नाएँ—
कनक तन्वी
अहरह काँपती
विद्युल्लताएँ···

भावी रम्भा उर्वशियों - सी
फूल बाँह डाले
आनन्द कलश सटाये
लिपटी हैं,—

ओ अवचेतन सम्राट्,
यह नया प्रभात
शुभ्र रश्मि मुकुट बन
तुम्हारे ही शिखर पर
उतरा है !

तुम सत्य के
नये इन्द्रासन हो !
यह नाग लोक का
चितकबरा अन्धकार
तुम्हारा रथ है !

शची
रक्त पद्म पात्र में
अनन्त यौवन मदिरा लिये
खड़ी है !
रम्भा मेनका
उसी की परछाइँ हैं !

ओ हेम दण्ड नृप
तुम विष्णु के अग्रज हो,—

यह आनन्द पर्व है,
अपने द्वार खोलो !

इन नील हरी
पेरोज घाटियों में
फालसई मूँगिया प्रकाश
छनकर आ रहा है !

मयूर
रत्नच्छाय बर्हभार खोले हैं !
मोनाल हफिये
अँगड़ाई लेकर
पंखों का इन्द्रधनुषी ऐश्वर्य
बरसा रहे हैं,—

एक नया नगर ही बस गया है !—
ओ मुक्ताभ,
यह नया देश, नया ग्राम
तुम्हारी राजधानी है !
हृदय सिंहासन
ग्रहण करो !

रहस्य

इन रजत नील ऊँचाइयों पर
सब मूल्य, सब विचार
खो गये !

यहाँ के शुभ्र रक्ताभ
प्रसारों में
मन बुद्धि लीन हो गये !

तुम आती भी हो
तो अनाम अरूप गन्ध बनकर,
स्वर्णिम परागों में लिपटी
आनन्द सौन्दर्य का
ऐश्वर्य बरसाती हुई !

ओ रचने,
तुम्हारे लिए कहाँ से
ध्वनि, छन्द लाऊँ ?
कहाँ से शब्द, भाव लाऊँ ?

सब विचार, सब मूल्य
सब आदर्श लय हो गये !

केवल
शब्दहीन संगीत
तन्मय रस,—
प्रेम, प्रकाश और प्रतीति !

कहाँ पाऊँ रूपक,
अलंकरण, कथा ?
ओ कविते,
ये मन के पार के
पवित्र भुवन हैं,—
यहाँ रूप रस गन्ध स्पर्श से परे
अवाक् ऊँचाइयों
असीम प्रसारों
अतल गहराइयों में
केवल
अगम शान्ति है !
अरूप लावण्य,
अकूल आनन्द,
प्रेम का
अभेद्य रहस्य !

सूर्य मन

लज्जा नम्र
भाव लीन
तुम अरुणोदय की
अर्ध नत
शुभ्र पद्म कली-सी
लगती हो !

ओ मानस सुषमे,
प्रभात से पूर्व का
यह घन कोमल अन्धकार
तुम्हारा कुन्तल जाल - सा
मुझे घेरे है !
सामने
प्रकाश के
पर्वत पर पर्वत
खड़े हैं !—
उनकी ऊँची से ऊँची
चोटियों के फूलों का मधु
मेरा गीत भ्रमर
चख चुका है !

अब,
मन
तुम्हारी शोभा का प्रेमी है,
तुम्हारे चरण कमलों का मधु पीकर
आत्म विस्मृत हो
वह गुंजरण करना
भूल जाना चाहता है !

मन का गुंजरण
थम जाने पर
तुम्हारा शुभ्र संगीत
स्वतः सूर्यवत्
प्रकाशित हो !

समर्पण

ओ शुभ्रे,
तुम अन्तः प्रकाश में डूबी
शरद मेघ हो,
तुम्हारे ध्यान मौन
आलोक का स्पर्श पा
आत्म ज्ञान
विस्मृत हो जाता है !

नील
दृष्टि शून्य था,
तुम्हारी आँखों में समाकर
सर्वदर्शी बन गया !
तुम्हारे कपोलों में
स्वर्ग शोभा
मुख देखकर
लज्जित हो उठती है !

भ्रमरों की मसृण गुंजारों-से
कुन्तल
तुम्हारा आनन
घेरे रहते हैं !—
जिनके सुनहले तिमिर वन में
उषाएँ विलास करती हैं !

मणि सरोवर
अधरों का अमृत
हृदय को
रस शुद्ध कर देता है !

आनन्द शिखर
उरोजों को छू
देह ज्ञान छूट जाता है!

तुम्हारी योनि
अतल हरित सिन्धु है,
जिसमें विश्व रसमग्न है!
चम्पक जघन
प्रेम के शोभा निर्झर हैं,
जिनसे प्रेरणाओं की तड़ित्
लिपटी हैं!

तुम्हारे रश्मि चरण
धरती के अन्धकार में
प्रकाश सृष्टि करते हैं—
जिन्हें देख
दृष्टि अपलक
हृदय पद्म
निछावर कर देती है!

एक

नील हरित प्रसारों में
रंगों के धब्बों का
चटकीला प्रभाव है,—

शुभ्र प्रकाश
अन्तर्हित हो गया!

सूरज, चाँद और मन
प्रकाश के टुकड़े है,
बहु रूप!

दर्पण के टुकड़ों में
एक ही छवि है,
अपनी छवि!

तुम्हारा प्रकाश
अनेकरूप है,
जिसका सर्व भी दर्पण नहीं!

यह इन्द्रधनुष
द्रौपदी का चीर है;
इसका अशेष छोर
शुभ्र किरण थामे है—
जो हाथ नहीं आती!

शब्द चींटियों की पाँति से
चलते रहेंगे—
देश काल अनन्त हैं !
तुम सीमा रहित
अस्तित्व मात्र
कौन बिन्दु हो ?—
जिसके सामने
चींटी
पर्वत - सी लगती है !
अकूल, कौन सिन्धु हो,
अश्रु कण में भी
समा जाती हो !

शरद

श्यामल मेघ
रुपहले सूपों की तरह
सिन्धु जल की
निर्मलता बटोरकर
तुम पर उलीचते रहे !
ओ सुनहली आग,
अविराम वृष्टि से
घुलने पर
तुम्हारी दीप्ति बढ़ती गयी !
ओ स्वच्छ अंगों की
शरद !
तुम्हारे लावण्य का स्पर्श
मुझसे सहा नहीं जाता !—
ओ स्वप्न गौर शोभे,
ओ शीत त्वक् अग्नि !
धुली अंधियाली के
रेशमी कुन्तल,—
स्निग्ध नीलिमा नत
चितवन,
रक्त किसलय अधर
नवल मुकुलों के अंग !—
ओ गन्ध मुग्ध फूल देह,
दुग्ध स्नात, सौम्य
चन्द्रमुख
वसन्त !

तुम्हारा रूप देख
सूरज, नत मुख,
सहम गया !
उसकी रेशमी किरणें
पक्षियों के रोमिल पंखों-सी
सिमट गयी !

लो,
साँझ उषाएँ
प्रसाधन लिये
द्वार पर खड़ी हैं !
ताराएँ
पलक मारना
भूल गयी हैं !

ओ सुखद, वरद,
शरद !
आनन्द
तुम्हारी शुभ्र सुरा पी
अवाक् है !

शंख ध्वनि

शंखध्वनि
गूँजती रहती,—
सुनायी नही पड़ती !
त्याग का शुभ्र प्रसार,
ध्यान की मौन गहराई,
समर्पण की
आत्म विस्मृत तन्मयता,
आवेग की
अवचनीय व्यथा
और,
प्रेम की गूढ़ तृप्ति
शंखध्वनि,—
सुनायी नही पड़ती,
सुनायी नही पड़ती !
श्रवण गोचर ?
इन्द्रिय गोचर ?
ऐसी स्थूल
कैसे हो सकती है
शंख ध्वनि ?—

गूँजती रहती,
वह
गूँजती रहती !

हे वन पर्वत, आकाश सागर,
तुम निबिड़ हो, उच्च हो,
व्यापक हो, निस्तल हो !
कहाँ है अनन्त और शाश्वत ?

शंखध्वनि
अणु - अणु में व्याप्त
इन सबसे परे,
परे, परे,
सुनायी पड़ती,
निश्चय
सुनायी पड़ती !

अनिर्वचनीय

ओ ज्योति वृन्त पर खिले
अन्धकार के
अधखिले फूल,
तुम्हीं दृश्य प्रकाश,
तुम्ही जीवन हो !
तुम अदृश्य हो
इसी से दृश्य हो,
ओ दृश्य में अदृश्य !

तुम्हारा गन्ध स्पर्श पा
मन का सूनापन
गीत भ्रमर बन
गूँज उठा !

वह सुनहले केसर की
लोम हर्ष शय्या पर लेटा
गलित पावक मधु पी
रस मग्न हो गया !

शुभ्र प्रकाश, कृष्ण तम,
कनकाभा, निशीथ,
दोनों तुम्ही हो,—

कब कौन बढ़ जाता है
ओ प्रकृति, ओ पुरुष,
नहीं कहा जा सकता !

मैंने तुम्हारे मुख पर
किरणों का जाल
डाल दिया,
हिरण्मय पात्र में बिम्बित
सत्य का मुख
ढँकने के बदले
खुल गया है!
धरती की रोम राजि
हरी है,
सिन्धु का अंचल भी!
तुम इनसे भी गहरे
प्रेम के मूक तम हो,
जिसके चरणों पर
ज्ञान लोटता है!

नया प्रेम

ओ नये प्रेम,
तुम्हारे किसलय पुटों में
जीवन मधु है,
चम्पई लता वेष्टनों में
ममता की मुक्ति,—
फूलों के सरोवरों में
भौंरों की गूंज भरे
हृदय के स्वप्न,—
और,
सुनहले झरनों में
नयी पीढ़ियों के लिए
यज्ञ की आग है!
तुम पिछली फूलों की बीथियों
आंसू की गलियों से होकर
मत आना,—
क्या कोई भी घर,
कोई भी आंगन
कोई भी पथ
तुम्हारा नहीं?
जहाँ दीप हो,
छांह हो,
या धूल भरी थकान हो!
मैं सर्वत्र जाऊंगा!

पद

केवल
शोभा की सृष्टि करो,
चाँदनी की अलकों में
स्वप्नों का नीड़
बसाकर !

केवल
प्यार की वृद्धि करो,
साँस लेती हिलोरों पर
हेम गौर हंस मिथुन
सटाकर !

केवल
आनन्द अमृत पिलाओ,
वासन्ती आग के दोने
किसलय पुटों का
गन्धोच्छ्वास पिलाकर !

केवल
चम्पई चैतन्य में डुबाओ,
तन्मयता के सुनहले अतल मे
स्वप्नहीन सुख मे मग्न कर !

वरदान

सीमा और क्षण को
खोजकर हार गया,
कही नही मिले !

ओ निःसीम
शाश्वत,
मैं रिक्त और पूर्ण से
, शून्य और सर्व से
मुक्त हो गया !

जहाँ कुछ न था,
कुछ - नही भी न था,
उसके गवाक्ष से
स्वतः ही

सुनहली अलकों से घिरा
तुम्हारा मुख दिखायी दिया !

तुम्हारी अमित स्मिति से
शोभा, प्रीति और आनन्द
स्वयं उदित हो गये !

अकूल अतल शान्ति
साँस लेने लगी,
जिसके
उठते - दबते वक्ष पर
स्वर्ग मर्त्य मैत्री के
दो अमृत गौर कलश
शोभित थे !

तुम्हारे सर्वगामी
सहज स्थिर
रश्मि चरणों पर
दिशा काल
ज्ञान शून्य पड़े थे !

अव्यक्त

देह मूल्यों के नहीं
मेरे मनुष्य !
रस वृन्त पर खिले,
मानस कमल हैं वे,
पंक मूल,—
आत्मा के विकास !
मुक्त - दृष्टि भावों के दल
आनन्द सन्तुलित !

कलुष नहीं छूता उन्हें,
रंग - गन्ध वे
मधु मरन्द,
गीत पंख
मनुष्य !

छन्द, शब्द बँधे नहीं,
भाव, शिल्प सधे नहीं,
स्वप्न, सोये जगे नहीं !

सूरज चाँद, साँझ प्रभात ?
अधूरे उपमान !
शोभा ?
बाहरी परिधान !

रूप से परे
अन्तः स्मित,

गहरे
अन्तः स्थित,—
मूल्यो के मूल्य हैं
मेरे मनुष्य !

करुणा

शब्दों के कन्धों पर
छन्दों के बन्धों पर
नहीं आना चाहता !
वे बहुत बोलते हैं !

तब ?
ध्यान के यान में
सूक्ष्म उड़ान मे,
रूपहीन भावों में
तत्त्व मात्र गात्र धर
खो जाऊँ ?
अर्थ हीन प्रकाश में
लीन हो जाऊँ !
—तुम परे ही रहोगी !

नहीं,—
तुम्ही को बुलाऊँ
शब्दों भावों में,
रूपों रंगों में,
स्वप्नों चावों में,—
तुम्ही आओ
सर्वस्व हो !
मैं न पाऊँगा
निःस्व हो !

सदानीरा

तुम्हें नही दीखी ?
बिना तीरो की नदी,
बिना स्रोत की
सदानीरा !

वेग हीन, गति हीन,
चारों ओर बहती
नही दीखी तुम्हें

जल हीन, तल हीन
सदानीरा ?

आकाश नदी है, समुद्र नदी,
धरती पर्वत भी
नदी हैं !

आकाश नील तल,
समुद्र भँवर,
धरती बुद्बुद, पर्वत तरंग हैं,
और वायु
अदृश्य फेन !

तुम नहीं देख पाये !
छन्दहीन, शब्दहीन, स्वरहीन, भावहीन,
स्फुरण, उन्मेष, प्रेरणा,—
झरना, लपट,
आँधी !

नीचे, ऊपर सर्वत्र
बहती सदानीरा—
नहीं दीखी तुम्हें ?

शंख

अन्तरतम
गोपन क्षण
गूँज उठा,—
नीरव, बुद्धि अगम,
भाव गुह्य !

वह महासिन्धु का शुभ्र शब्द था,
मौन अतलताओं मे पला
स्फटिक सत्य,—
शंख !
निःस्वर गूढ़ हर्ष
नवनीत तुल्य
साकार हो उठा !

नाद के सूक्ष्म श्वेत पंख
आकाश में छा गये !
स्वच्छ शान्ति के निश्चल पर्वत
मानस जल में निःशब्द सोये थे,—
उनमे अन्तः जागरण के
गीत मुखर
निर्झर फूट पड़े !

जल तल की चट्टानों से टकरा
जिसका रक्त मुख आहत हो उठा
वह क्रुद्ध सर्प
शत फन
फेनिल फूत्कार छोड़
नत फन हो गया !

समुद्र का श्वेत कोलाहल,
अगम शान्ति में लीन हो रहा,
मैं अन्तर्नाद में डूब गया हूँ,
शुभ्र आत्म बोध में ! —
ओ महत् शंख !

झरोखा

हृदय मे डूबो
देह भीतो,
हृदय में डूबो !
वही अमृत सर है !

तन के ताप
मन के शाप
धुल जायँगे !

प्रकाश के मन से
बड़ा है
हृदय सरोवर,
मांगल्य सागर !
ज्ञान से महत् है
प्रेम,
क्षमा - आकर !

अपने में डूबो
लोक भीतो,
वहीं प्रकाश है !
जगत ?
मात्र निवास है !
जहाँ अन्धकार ही
अन्धकार,

यदि
रुद्ध हैं
हृदय द्वार !

फूल

वह तटस्थ था,
अनासक्त,
तन्मय !

कब पलकें खुलीं,
शोभा पंखुरियाँ डुलीं,—
रंग निखरे,
कुम्हलाये,—

वह अजान था,
आत्मस्थ,
वृन्तस्थ !

गन्ध की लपटें
असीम में समा गयीं,
स्वर्ण पंख मरन्दों से
धरा योनि भर गयी !
वह समाधिस्थ,
मौन,
मग्न !

धीरे - धीरे
दल झरे,
रूप - रंग बिखरे,—

वह अवाक्,
रिक्त,
नग्न !—

जन्म मरण
ऊपरी क्रम था,—
वह,
मात्र
फूल !

अन्तः स्फुरण

सीपी, शंख, स्वर,
इनमें अनबिंधे मोती हैं,
अनसुना नाद,—
स्वर वृन्त पर
अनसूंघे फूल !

मोती नहीं हँसे,
गीत नहीं गूँजा,
फूल नहीं खिले !

इन्द्रिय द्वार मुँदे रहे
सूक्ष्म के प्रति !
विषाद रज भरा रहा
उर मुकुर !

शंका,
अनास्था,
अविश्वास,—
मन अपने ही से युक्त नहीं !
सत्य दूत हैं
सीपी, शंख,—
स्वप्न मुकुल,
रस वृन्त !
अतल
सागर जल के
अरुणोदय !

देन

काल नाल पर खिला
नया मानव,
देश धूलि में सना नहीं !
समतल द्वन्द्वों से ऊपर,
दिक् प्रसारों के
रूप रंग
गन्ध रज मधु
सौम्य पंखड़ियों में सँवारे,
हीरक पद्म !

एक है वह
अन्तः स्थित
बाह्य सन्तुलित,
भविष्य मुखी
रश्मि पंख
प्राण विहग,—
सूर्य कमल !
वह काल शिखर
देख रहा,
बहिर्देश
बहिर्जीवन
सीमाओं के पार,—
इतिहास पंक मुक्त !

अन्तः प्रबुद्ध
बहिः शुद्ध,
पूर्व पश्चिम का नहीं,
काल की देन
अत्याधुनिक
अन्तर्विकसित
चैतन्य पुरुष,
ज्योति पद्म !

अन्तस्तरण

समाधान करो,
विश्वास न हरो,—
आश्वस्त करो !

ये शेष चरण हैं
अशेष—
अन्तिम चरण !

निर्वाक् समुद्र में हूँ !
समुद्र पर चलने लगा हूँ,—
निःसीम समुद्र···
द्र···द्र···
अथाह
गम्भीर जल,
अकूल, अतल !

उत्ताल तरंगें
ग्राहमुखी—
आँधी की रस्सियों-सी ऐंठीं,
चितकबरे साँपों-सी रेंगतीं
फेन स्फीत
सहस्र फन !

आत्मरति के
गुंजलक
मरोड़े !

हाय, मन !
नाव नहीं, नाविक नहीं,
दिशा नहीं, कूल नहीं,—
पाँव—
पाँव पैदल चल रहा हूँ
अतल अकूल जल पर !
नीलोज्वल
हरित कोमल !

ओ जीवनमयी,
मन भींग गया,
प्राण डूब रहे,
अन्तःकरण रस मग्न,
हृदय तन्मय !

डूबने न देना,
मुझे डूबने न देना !
समुद्र पर चलने लगा हूँ
नि.सीम निस्तल पर !

आश्वस्त करो,
यह तुम्हारा
नया चरण है !
आस्था न हरो !

ओ स्थलचर,
समुद्र में डूबना नहीं,
चलना है चलना !

सूक्ष्म गति

वह चलती रहती,
थकती नहीं !—
ठंढी, बहती आग,
टटकी वायु !

धुन्ध के भुजंगों मे उडती
फेनो के पर्वत उगलती,
कूड़ा कचरा निगलती,
प्राणोज्ज्वल होती
जगत् प्राण !

कर्म गति शक्ति है,
रक्त की, मन की,
मस्तिष्क की,—
वह
धूल के पहाड़ उठाती,
क्रान्ति मचाती,
आगे बढ़ती
नये क्षितिजो को निखारती !

चेतना गति - सी शुभ्र नहीं,—
चेतना गति - सी !
जो मूक अतलताओं को छू
चुपचाप

स्वर्णिम ग्रारोहों में उभारती
सँवारती है !

केवल

केवल
प्रकाश ग्रौर सौन्दर्य
प्रीति के यमल !

चाँदनी मे लिपटे तारुण्य - से
ग्रधखिले ग्रंगों के
ग्रधखुले रंगो के
प्रकाश ग्रौर लावण्य
दो मुकुलों - से
रूप नग्न !

भाई - बहिन हैं
प्रकाश ग्रौर लावण्य !
छाया ग्रंचल में बँधे
यमज !
मंगल ग्रौर ग्रानन्द !

तुम्हारी छाया
जिसमें प्रकाश ग्रानन्द
मंगल लावण्य लिपटे हैं
स्वप्नों के ऐश्वर्य में—
उसे न छू पाऊँगा !

तुम्हें देख न सकूँगा
शोभा नग्न !
ग्रो ग्रंगों की ग्रंग,
लावण्यों की लावण्य,
तारुण्यों की तारुण्य !

चम्पक त्वक्,
शुभ्रारुण,
ग्रतल कोमल !—
मैं डूब जाऊँगा
ग्रो तन्मय ग्रमल कोमल !
भाषा नही
भाव नहीं,—

ग्रो ग्रव्यक्त,
तुममें समा न जाऊँ,
खो न जाऊँ !

आगे मौन है,
अतल मौन,
केवल
निश्चल मौन !

शील

ओ आत्म नम्र,
तुम्हें ज्वालाएँ
नहीं जलाती !
तुम्हारी
छन्दों की पायलें
उतारे दे रहा हूँ,—
तुम स्वप्नों के पग धर
चुपचाप
मार्ग कोमल
मर्म भूमि पर चल सको !
तुम्हारी चापें
न सुनायी दें,
पदचिह्न
न पड़ें !

बाहर
हालाहल सागर है,—
विद्वेष विष दग्ध
सहस्रों उफनाते फन
फूत्कार कर रहे हैं !
उनका दर्प
शील के चरण धर
चुपके
पदनत करो !
तुम्हीं हो
वह हालाहल,
फन,
और
फूत्कार,—
अपने से
मत डरो !
तुम्हीं हो शील,
त्याग,
प्रेम,—

जानता हो,
कलाकार
मूषक ही था !

कुत्ता
बेमन भौंका—
धन्य रे
हितोपदेशकार !

वाध्य बोध

तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ !
खिलने पर
कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ !

—हाय रे दुराशा !
मुझमे
खिलना
कुम्हलाना ही
देख पाये !

द्यावापृथवी

बोध के
सर्वोच्च शिखर से
बोल रहा हूँ :

ओ टिमटिमाते
दीपको,
विश्व क्षितिज पर
महज्ज्योति
महत् सूर्य का उदय
हो रहा है !

मानव जाति का
अन्तः शिखर,
गहनतम मनःक्षितिज
नव प्रभात से
स्वर्णिम हो उठा !

नया प्रकाश
समस्त मानवता की
गहराइयों

जानता हो,
कलाकार
मूषक ही था !

कुत्ता
बेमन भौंका—
धन्य रे
हितोपदेशकार !

बाध्य बोध

तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ !
खिलने पर
कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ !

—हाय रे दुराशा !
मुझमें
खिलना
कुम्हलाना ही
देख पाये !

द्यावापृथवी

बोध के
सर्वोच्च शिखर से
बोल रहा हूँ :

ओ टिमटिमाते
दीपको,
विश्व क्षितिज पर
महज्ज्योति
महत् सूर्य का उदय
हो रहा है !

मानव जाति का
अन्तः शिखर,
गहनतम मन:क्षितिज
नव प्रभात से
स्वर्णिम हो उठा !

नया प्रकाश
समस्त मानवता की
गहराइयों

जानता हो,
कलाकार
मूषक ही था !

कुत्ता
बेमन भौंका—
धन्य रे
हितोपदेशकार !

बाध्य बोध

तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ !
खिलने पर
कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ !

—हाय रे दुराशा !
मुझमें
खिलना
कुम्हलाना ही
देख पाये !

द्यावापृथवी

बोध के
सर्वोच्च शिखर से
बोल रहा हूँ :

ओ टिमटिमाते
दीपको,
विश्व क्षितिज पर
महज्ज्योति
महत् सूर्य का उदय
हो रहा है !

मानव जाति का
अन्तः शिखर,
गहनतम मनःक्षितिज
नव प्रभात से
स्वर्णिम हो उठा !

नया प्रकाश
समस्त मानवता की
गहराइयों

ऊँचाइयों में
फैल रहा है!

ओ दीप से नीराजन
करनेवालो,
चन्दन अक्षत के
पूजको,
तुम्हारे मानस में
शुभ्र कमल खिला हो,—
तुम भावना की नाव से
समुद्र पार जा सकते हो,
तो क्या?
कल महत् जीवन बोहित
समस्त मानवता को
अकूल के पार ले जा सकेगा!
नव सूर्योदय
प्रत्येक हृदय में
स्वर्ण कमल खिलायेगा!
आज लोक कल्याण के महत् पर्व में
विश्व मंगल के बृहत् सूर्योदय में
सहस्रों सूर्यों का प्रकाश
जीवन अन्धकार की
गहनतम घाटियों को
आलोकित कर रहा है!
अपनी बौनी मान्यताओं के
सुनहले पाश से
मुक्त होओ!
नारद मोह वश
सत्य के महत् दर्पण में
अपना मुख देखने के बदले
महत् प्रकाश का सौन्दर्य
देखो!
तुम्हारा सत्य
इस महत् सत्य की
एक
लँगड़ी किरण - भर है!

ओ पंक ओ पद्म

ओ चपले,
धृष्टे,
प्रेम से डर!

वह
कभी न बुझनेवाली
आग है !

तेरे आँचल में
उड़ेल दूं तो
देह मन प्राण
सब
भस्म हो जायेंगे !

ओ वासनाओं के
असंख्य केंचुलों की
नागिन,—
जिसके अधरों का
स्मित दशनामृत
हालाहल,
दंश विष बन गया !

ओ देह के अँधियाले में
बुझी किरण,
प्रेम से डर !

जिस मिट्टी के लोंदे को
तू गोद में लिये है
वह मिट्टी का ही खिलौना
बना रहे !
देह धूलि, प्राण पंक में
लिपटा !

तू यह गौरव
ढोती रह,—
तूने
दुर्गन्ध भरी
कीचड़ की नाली से
अन्धे कीड़े को
जन्म दिया !
मृत्यु मलिन मांस से
मांस लोथ को
सँवारा !

तेरी टाँगों का
तुच्छ कीट
द्वेष घृणा त्रास
भेद भाव ही में
पले !

उसका हृदय
प्रकाश का नीड़
न बने,

प्रेम का स्वर्ग
न बने !
ओ कुलटे
प्रेम की आँच से
अपने कलंक को
बचाना !

यह तुच्छ अहंताओं को
भस्मीभूत कर
धरती को, विश्व को
मानवता के पावक का
यज्ञ कुण्ड बना देगा !

तेरे चंचल कटाक्ष
कृत्रिम हाव-भाव
सब आहुति होकर
जल - भुन जायँगे !

अतृप्ति

क्या देह से ही लिपटोगी ?
ओ मदिरा की
चम्पई ज्वाल !

गहरे पैठो
और गहरे,—
मेरे अन्तरतम की
गहराइयों में डूब जाओ !
ओ शोभे,
ओ कामने, श्रद्धे,
प्राणों से ही बँधना
बँधना नहीं !

मैं देखूँ,
लाज में सनी
तुम्हारी अतलताओं में
कितनी सुषमाओं की
स्वच्छताएँ—
भावनाओं की
सूक्ष्मताएँ—
अनिमेष स्वप्नों की
अनिर्वचनीयताएँ
छिपी हैं !

देखूँ
कितने विश्व

कितने मूक लोक
कितने अमेय स्वर्ग,
मादकताओं के पागल प्रकार
सुधाओं के गूढ़ स्वाद
इस लावण्य पट में
अन्तर्हित है !

ओ वासन्ती कले,
रूप रंग गन्ध से
निखरी
तुम्हारी अनावृत
आभा—
लता-सी लचीली
देह तनिमा
बाँहों में भर
सन्तोष नहीं होता !

आत्मानुभूति

कैसे कहूँ
अपने अछूते आँचल में
रंगों के धब्बे,
मधुपों के
षट्पद चिह्न
न पड़ने दे !—
यह कल की बात है !
आज
अपनी भीनी शोभा
लुटाना चाहे
लुटा !

मीठी कोमल पँखुरियाँ
आँधियाँ दलें-मलें !
गौर वर्ण
आरक्त हो जाय,
स्वर्णिम मरन्द
झर जायँ !
नयी पीढ़ियाँ
मधुरस की तीव्रता में
आत्म विभोर हो जायँ !
तुझे अपनी
गुण्ठित शोभा का मूल्य
पहचानना है !

ओ सर्जयित्री
भावयित्री

कारयित्री प्रतिभे,
तू ही लायी
जातियों
संस्कृतियों
सभ्यताओं को !

असंख्य पिपीलिकाओं-से
हाथ - पाँव
जो धरातल पर
हिलडुल रहे हैं—

यह तेरे ही प्राणों का आवेश,
रोम हर्षों की सिहर,
अवश अंगों की थर्‌थर्‌ है !
जीवन
विकास पथ है,
साध्य साधन में
संगति ला !

एकमेव

दिन-रात
मेरा ही यज्ञ,
चल रहा है !
बोध की अग्नि में
लोक कर्म
जल गया है !

अपने बिना
तुम्हें देख ही नहीं पाता,—
ओ युगों के सपने,
मेरे अपने !

पलकें गिराता हूँ
सौ-सौ युग
जगते-सोते हैं !
चितवन फेरता हूँ
आत्म ज्ञान के
शून्य से टकरा
दृष्टि लौट आती है !
दूसरा कोई मिलता ही नहीं !

ओ ज्योतिरिंगणो,
तुम्हारा सूर्य का भेद
कल्पित, बाहरी भेद है,—

मैं तुमसे छोटा,
सूर्य से बड़ा हूँ !

कहो,
दिशाएँ
उषा के सुनहले पावक में
लिपटी रहें—
दिवस का
रुपहला बालक
जन्म ही न ले !—

कहो,
शुभ्र कुँई-से उरोज खोल
चाँद के कटोरे मे
सुधा पीती रहे,—

रात
काले कुन्तलों में
देह लपेटे
गुहा गर्भ में
सोती रहे !

दिन-रात
मेरी भ्रू भंगिमाएँ नहीं
तो क्या हैं ?

अखण्ड

मुट्ठी भर-भर
मूल्यों के बीज
मैंने इधर-उधर बखेर दिये हैं !
वे चिनगारियों-से
क्षण-भर चमककर
बुझ गये !
मेरी हथेली में
अब कुछ नही !
रिक्त, अकेला, प्रसार है !
जो अपने - आप
फिर-फिर
भर जाता है !

क्यों न फेनो की
सृष्टि करूँ ?
तुम किस मूल्य से
फेन को फेन कहते हो ?
सद्यः को
काल की ऐनक से

क्यों देखते हो ?
छोड़ो काल को—
कालातीत सद्यः हो
शाश्वत है !
छोड़ो शाश्वत को
केवल मैं ही हूँ !

मैं मुँह में पानी भर
जल फुहार बरसाऊँगा,—
करो तुम मूल्यांकन,
गिनो फुहार की बूँदें !

ओ रे सुन्दर,
ओ रे मोहन,
मैंने ही तुम्हें
फूलों को
स्वप्नों को
इन्द्रधनुष को दिया !

मैं शब्दों की
इकाइयों को रौंदकर
संकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा !
उनके पंखों को
असीम के पार
फैलाऊँगा !

मैं शाश्वत, निःसीम का
गायक और सृजक रहा
तो
सद्यः क्षणिक का भी
जनक हूँ !

मुझे
खण्डित मत करो !
शाश्वत क्षणिक
दोनों ही
न रह पायेंगे !

समाधान

वेदना की खेती है,
अहंता के बीज,—
तीव्र आशंका
जिज्ञासा का हल !
मैं मनुष्यत्व की फसल
उगाऊँगा !

आनन्द ही की
गहराई है
यह व्यथा !
जो
प्रीति शिखर बन
मुझे ऊपर खींचती है !
अहंता की
अभिन्न सखी;—
उसी का नवनीत सार है
व्यथा !
मेरे हाथ में
तुमने अपना
अहं ही का छोर
दिया है ! —
उसी से
अपने को
तुम्हें—पकड़े हूँ !
वह हमारा
मिलन तीर्थ है !
उसी से
अपने पराये को,
विश्व को,
विश्व पार के सत्य को
समझता हूँ !
तपता हूँ
खँटता हूँ
तो, अपने को पाने !
हँसता हूँ
गाता हूँ तो
अपने को रिझाने !
सब अहंताएँ
अहंताएँ ही हैं,—
भक्त की, अभक्त की,
एक ही है !
मैं अनेकों मे एक
एक में अनेक हूँ !
अपने को,
ध्यान से देखा,
उलटा-पलटा
परखा—
तो,
तुम्ही निकले !

सत्य कथा
सत्य से—
प्रेम व्यथा
प्रेम से
अधिक बढ़ गयी !

रुपहले मौर
झर न जायें,
बने रहें !—
आम्र रस सृष्टि
भले न हो !

सूनी डालों पर
कुहासे घिरे
ओस भरे
आशा बन्ध
(मानस व्यथा के प्रतीक)
पतझर की सुनहली धूल
आँचल में समेटे रहें,—
कोयल न बोले !

तन्तुवाय-सा
मैं—अपने ही जाल में
फँसा रहे,—
सूरज चाँद तारे भी
उसी में उतर आयें !

जो छिछले जल में
वंशी डालनेवाले,
ये कीड़े-मकोड़े
साँप घोंघे हैं !
जिन्हें तुम मछलियाँ
रुपहली कलियाँ समझे हो !

जल अप्सरियाँ
रत्न आभाओं में लिपटी
अमेय गहराइयों में
रहती हैं !

यदि निर्मल
मुक्ताभ अतलताओं से—
सुनहली किरणों - सी
जल देवियाँ
कभी बाहर
लहरों पर तिरने आ जायें,

तो यह नहीं
सत्य सतही होता, है
ग्रौर
छिछली तलैया में डूबकर
तुम
फेन के मोती चुगो !
ग्रो मेरे रूप के मन,
तेरी भावना की गहराइयाँ
ग्ररूप हैं !

वाष्प घन

ग्रो बादलों के देश,
भावनाग्रों के सूक्ष्म धूम,
चेतना के शुभ्र फेन,
मैं ग्रादिवासी हूँ,
तुम्हारे प्रदेश का !
न ग्राकार-प्रकार,
न रूप - रंग - रेखा,—
कैसे हल चलाऊँ ?
कौन - से मूल्य बोऊँ
जो,
मानवता की फसल हँस सके !
तुममे
मुट्ठी भर-भर
चाँदी का चूर्ण
सोने की बुकनी
रत्नों की छायाएँ भी मिलाऊँ
तब भी तुम क्षण शोभा
रिक्त भावोच्छास ही रहोगे !
ग्रच्छा हो,
तुम स्वयं रिमझिम कर
मिट्टी में मिल जाग्रो,
धरती को सहलाग्रो,
नयी हरियाली बन जाग्रो !
ग्रो सपनो के देश,
जहाँ पंख हीन परियों के साथ
मृणाल नाल के हिंडोले में
झूलता प्रेम
सिसका करता है !
ग्रो ग्रात्मपरक गीत,

अति कल्पना के मेघदूत,
तुम्हारे इन्द्रधनुष की
मैं चूनर बनाऊँगा,
घर-घर फहरायेगी—
तुम्हारी बिजली को
बाँहों में लिपटाऊँगा,
युवकों को सिहरायेगी !

आज कुहासे के
सुरमई खँडहरों मे
धूप धुले
रेशमी वाष्पों में लिपटे
भावों के सुनहरे बिम्ब
टूटे चाँद की पायलें बजा,
पीड़ा की सेज सजा,—

मुक्ताभ फेनों के उपधान पर
थका शीश धर
इन्द्रधनुषी छटाओं में
लुकछिप,
रूप कला के
स्वप्न देख रहे हैं !

ओ थोथे छूँछे
भापों के खोखले निर्घोष,
कोरे आत्म विज्ञापन से
दिशाएँ न गुंजा;
गरजने से
बरसना
अधिक काव्यमय है !
हाँ, इसमे
नवीनता न हो !

भू पथ

यह भावना पथ है !
ओ महारसमयी,
तुम स्वप्नों के चरण धर
इसी छाया बीथी से आती हो !

रजत प्रकाश फैलने लगा,
सुनहली पायलें रह-रह
बज उठती हैं !—

तुम्हारे अतल मर्म की
मोहक गन्ध—

मन तन्मय हो गया,
देह सो गयी !
तुम्हारे सूक्ष्म सौन्दर्य के अग
मेरे अंगों से लिपट गये,
ओ चन्द्रकिरणों की तन्वी,
सौरभ से देह मूच्छित हो गयी !
मेरी प्रवृत्तियों पर
तुमने विजय पा ली,
इन्द्रियों की बहु रूप अग्नि
प्रकाश बन गयी !
तुम हृदय में
ऐसे समा गयी
वह तुम्ही में
लीन हो गया !

तुम अन्तःइन्द्रियों की
शोभा हो,
कैसी साधारण लगती है
स्थूल इन्द्रियों की अनुभूति !
ओ इच्छाओं की इच्छे,
तुमने मेरे तन-मन प्राणों को
निष्काम सकाम बना दिया !
उनके संवेदन
तुम्हारे महत् आनन्द में मिल गये !
समाधि मग्न
मैं नही रह सकता,
तुम्हें अन्धकार की
कर्कश गुहाओं में
चलना ही पड़ेगा,—
वे सब
प्रतीक्षा में हैं।

वाचाल

'मोर को
मार्जार-रव क्यों कहते है मा ?'
'वह बिल्ली की तरह बोलता है,
इसलिए !'
'कुत्ते की तरह बोलता
तो बात भी थी !
कैसा भूंकता है कुत्ता,
मुहल्ला गूंज उठता है,—

भौं-भौं !'

'चुप रह !'

'क्यों मा ?...
बिल्ली बोलती है
जैसे भीख माँगती हो,
म्याँउ, म्याँउ !—
चापलूस कहीं की !...
वह कुत्ते की तरह
पूंछ भी तो नहीं हिलाती'—

'पागल कहीं का !'

'मोर मुझे फूटी आँख नहीं भाता,
कौए अच्छे लगते हैं !'

'बेवकूफ़ !'

'तुम नहीं जाननी, मा,
कौए कितने मिलनसार
कितने साधारण होते हैं !...
घर-घर,
आँगन, मुंडेर पर बैठे
दिन-रात रटते हैं
का, खा, गा...
जैसे पाठशाला में पढ़ते हों !'

'तब तू कौओं की ही
पाँत मे बैठा कर !'

'क्यों नहीं, मा,
एक ही आँख को उलट-पलट
सबको समान दृष्टि से देखते हैं !—
और फिर,
बहुमत भी तो उन्हीं का है, मा !'

'बातूनी !'

सिन्धु मन्थन

मन्थन कर
आत्म मन्थन,—
ओ सागर,
ओ - मानस,
ओ स्वाधीन देश,
अन्तर मन्थन कर !

उत्ताल भुजंग तरंग जगें
शतफन फेन दंश
फूत्कार भरें !—
आंधी तूफ़ान उठें
बिजली और वज्र
कड़कें !
तेरा कालकूट और अमृत
बाहर निकले,—
लक्ष्मी काली
रम्भा सूर्पनखा,
कौशल्या कैकेयी—
तेरे दुर्गन्ध भरे मन की
कीचड़ में डूबी
तेरी आत्मा
बाहर निकले !
ओ दन्तहीन बूढ़े अजगर,
भय सन्देह घृणा की
विद्वेष-भरी अंधेरी खोह से
बाहर आ,—
ओ आत्म पराजित,
एक बार क्रुद्ध होकर
अपनी आरीदार पूंछ
समस्त बल से
धरती पर मार—
फटकार—
पुरानी केंचुल झाड़ !
नया यौवन
तेरी प्रतीक्षा में खड़ा है।
ओ गुप्त द्रोही,
रीढ़ के बल रेंगना छोड़,
ऊर्ध्व मेरु बन !
नयी भूमियां निखर आयी हैं,—
अपनी झूठी मणि फेंककर
मुक्त नील तले
स्वच्छ वायु में विहार कर !
ओ आलस्य प्रमाद के
निरुद्यमी
राम चाकर काल सर्प,
दर्शन विष दन्त,
श्रद्धा के गरल,—
परम्परा के बिल से निकल,
आत्म - वंचना छोड़ !
छो······ड़ !

पौ फटने से पहिले

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९६७]

बच्चन को
षष्टिपूर्ति पर
सस्नेह

विज्ञापन

'पौ फटने से पहिले' में मेरी सन् १९६७ की कुछ कविताएँ संगृहीत हैं, जिनमें से अधिकांश अबके ग्रीष्मावकाश में रानीखेत में लिखी गयी हैं। इन रागात्मक रचनाओं में मैंने आज के युग की पृष्ठभूमि में प्रेमा के संचरण को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है; ये प्रतिक्रियाएँ कई वर्षों से मेरे भीतर संचित थीं। अनेक लोगों के लिए जो कल्पना मात्र है वह मेरे लिए सत्य रहा है। जो मेरे अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क में रहे हैं वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जानते हैं कि मेरा मन अधिकतर इसी भाव-भूमि पर विचरण करता रहा है।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि मैं अपनी भावनात्मक सर्जनाओं को इन रचनाओं में यत्किंचित् वाणी दे सका हूँ। जैसा कि 'पौ फटने से पहिले' नाम से स्पष्ट है, इन रचनाओं में आज के ह्रास युगीन भावनात्मक संघर्ष का गहन अन्धकार तथा कल की संवेदना का आशारुण प्रकाश संग्रथित है, साथ ही राग-चेतना के सामाजिक विकास की सूक्ष्म-रूपरेखा भी इनमें अन्तर्हित है। मुझे विश्वास है, प्रस्तुत काव्य संग्रह मेरी भाव-दृष्टि के अध्ययन में सहायक हो सकेगा।

ये रचनाएँ मूलतः जीवन की केन्द्रीय चेतना को सम्बोधित हैं।

१८ बी० ७, के० जी० मार्ग,
इलाहाबाद
१० जुलाई, १९६७

सुमित्रानंदन पंत

एक

अन्धकार का घोर प्रहर यह
नीरवता गहराती रह-रह,—
मन में नहीं कहीं भय संशय,
प्राण, अभी पौ फटनेवाली !

लोक परीक्षा का दारुण क्षण
दृष्टि ज्योति हत, लक्ष्य भ्रष्ट मन,
बढ़ता ही जाता संघर्षण
निशा और भी घिरती काली !

गरज रहा निस्तल तम सागर
निश्चेतन भू-मन का गह्वर,—
शान्त, सौम्य आस्था का अन्तर
नभ में फूटेगी ही लाली !

भाव स्तब्ध, निर्वाक् दिगन्तर
छायाएँ-सी चलती भू पर,
चीर तीर-सी रही क्षितिज-उर
अरुण चूड की ध्वनि मतवाली !

मूँद रही ताराएँ लोचन
स्वप्नों से उपचेतन उन्मन,
निर्जन तम में रेंग रहा कुछ
केंचुल झाड़ रही निशि व्याली !

रक्त-स्नात, लो, प्राची अम्बर
धँसता उर में स्वर्ण पंख शर,
अँगड़ाता सोया समीर जग,
तृण तरुदल देते करताली !

अब प्रकाश-गर्भित लगता तम
यह नव युग आगम का उपक्रम,
चूर्णिताक्षि, नीलम-प्याली में
तुमने फिर रस-मदिरा ढाली !

दो

कौन वे स्वर्णिम क्षितिज
तुम पार जिनके,
प्रिये, रहती हो अगोचर !

तैर स्मित मरकत प्रसार
हरित जलधि-से
तरल प्राणों के मनोहर,
लांघ
नीलारोह मन के,
शुभ्र ऊषाएँ
जहाँ से उतर निःस्वर
फालसई आलोक के
रचतीं दिगन्तर !
खोजता मैं
तुम्हें तद्गत
चेतना के
स्फटिक शिखरों पर
विचरकर !
प्राण,
फहराता रुपहली वायुओं में
सुनहला अंचल तुम्हारा
धरा-रज रोमांच से भर,—
मौन
सुन पड़ती
तृषातुर घाटियों में
नृत्य नूपुर ध्वनि—
अमृत के मेघ-सी झर !
चेतना ही नहीं,
जग की वस्तुएँ भी
भेद कहतीं—
हृदय भय संशय तिमिर हर !
विश्व क्षर यह,
विश्वमयि, पर,—
विश्व की सर्वस्व तुम
शाश्वत, अनश्वर !
तरुणि,
मिलनातुर,
क्षितिज से झुक रही तुम,—
रूप धरती भावना में
ज्योति भास्वर,
प्रीति तन्मय हृदय
रति-उन्मेष प्रेरित
सृजन स्वप्न निरत
जगाता मर्म में संवेदना स्वर,
सूक्ष्म रस में द्रवित अन्तर !

तीन

जब तुम्हें मैं, प्राण, छूता,
देह के भीतर कहीं
छूता अगोचर!

लाज में लिपटीं
उषाएँ उतर नभ से
कल्पना के खोलती
उर में दिगन्तर,

भाव वैभव से प्रसन्न
वसन्त करता
रंग रुचि दीपित
दिगन्त विषण्ण पतझर!

स्वर्ग के खुलते
झरोखे निर्निमेष,
अशेष दिखता चेतना-मुख,
देह रहती रूप,
रूप अनिन्द्य श्री सुषमा गुणों से
भाव वेष्टित
ज्योति मन्दिर-सा प्रतिष्ठित
बोध को रस मुग्ध कर
देता अमित सुख!

अमृत झरता प्राण-मन में,
उर अघाता ही नहीं,
छवि पान भर करता अनश्वर!

रोम-रोम प्रहर्ष करते वहन,
रस-अनुभूति से
अंग सिहर उठते,
तड़ित् सुख से
मर्म थर् थर्!

कौन कहता—
देह हो तुम?
वस्तु गुण ही चेतना है?
तुम पृथक् रज देह से
सत्ता विमुक्त—
मुझे बताती
गूढ़ ऋत-संवेदना है!

देह पर पा जय
प्रिये, मैं छू सका हूँ
प्रीति रस मधु-छत्र

ज्योतिःसर
तुम्हारा गुह्य मन्तर!—
ज्ञान जाये, मान जाये,
उतर आये
देह मन पर
प्राण पर
रस ज्योति निर्झर,—
जननि, रूपान्तर
जगत् का कर
निरन्तर!

चार

तुम सोने के सूक्ष्म तार-सी
कितनी हो नमनीय,
सहज कमनीय

तुम्हारे सौम्य मूल्य को
आंक नहीं पाया
हेमांगिनि,
बर्बर भू-नर!

सखि अन्तश्चेतने,
उपेक्षा करता आया
मनुज निरन्तर
तुम्हें नगण्य
अवस्तु समझ कर!

ज्ञात नहीं उसको
तुम अपनी शील शक्ति से
हिमगिरि को भी उठा
नचा सकती छिगुनी पर!

हाय, दर्प से चूर-चूर
अब मानव का मन!
विद्या मद, धन मद
कुल यश मद—
सभी उसे मोहान्ध किये,
उन्मत्त उठा फन!

भूल गया वह मानवीय गुण,
निष्ठा, आस्था, सहृदयता,—
तप त्याग, समर्पण!

नहीं जानता,
स्नेह-दुग्ध ही से होता
जीवों का पोषण—
सत्य प्रेरणा ही से
जीवन का संवर्धन !
सहज भाव-तन्मयता ही से
श्री शोभा स्वप्नों का सर्जन !

हेम लते हे,
विवश कर रहा नर तुमको
तुम चण्डी रूप करो फिर धारण,—
ध्वस्त करो मिथ्याऽभिमान को,
नष्ट करो खोखले ज्ञान को,—
अन्तर्मुख फिर करो ध्यान को,
संचालित कर लोक-यान को !

ओ निश्छल शिशु ही सी
हृदय-बोध-लो,
चिन्मयि,
आत्म नम्र सौन्दर्य स्पर्श पा
प्रिये, तुम्हारा
यह ब्रह्माण्ड स्वतः ही सारा
स्वर-संगति में बँधा अखण्ड
सृजन-लय नर्तित,
श्री शोभा स्वर्गों में
होता रहता विकसित,
सित इंगित मर्यादित !
शुभे,
करो भू-पथ फिर शासित !

पाँच

तुम नहीं होतीं
किसे मैं, प्राण, पहनाता
सुनहली ज्योति-ध्वनि पायल ?
जिन्हें गढ़ते किरण चुम्बित
लहरियों के मुखर करतल !

मचलतीं ही क्यों लहरियाँ
दृष्टि-सर में ?
स्वर्ग किरणें ही उतरतीं
क्यों धरा-रज पर ?—
विचरतीं मुक्त अम्बर में !

तुम न होतीं तो
वसन्त कभी बनाता
रूप-मांसल
रिक्त वन का अस्थि-पंजर ?
जहाँ बारह मास रहता
हिम-अकिंचन
निःस्व पतझर !
साँस लेता क्या समीरण
शून्य में भर हृदय-स्पन्दन ?
गन्ध-घट अहरह उड़ेल
सुमन भ्रमर का
निर्निमिष करते कि अभिनन्दन ?

लता ही क्यों कँप
पिरोती हार कलियों के
विटप की बाँह में
करने समर्पण
फुल्ल यौवन ?

कोकिला निश्चय न गाती ! —
(सृष्टि भी किसको सुहाती ?)
जन्म क्या लेती कभी वाणी ?—
किसे करती निवेदन
वह प्रणय क्षण ?

रिक्त होता अह, निखिल ब्रह्माण्ड,—
नभ का नील भाण्ड
कहीं छलकता मोतियों से
प्रेम की वेणी पिरोने ?
शून्य का स्मृति-दंश खोने ?
प्यार कर चरितार्थ होने ?

खोजता किसको भला तब ज्ञान
खोल सहस्र लोचन ?
गहन निशि का भेद
सूची-भेद्य तम घन !
भक्ति जप-तप ध्यान
करते विफल आराधन !

रहस चुम्बित विजन में
कहाँ कँपता बाँह में
कम्पित लता-सा
लाज किसलय रँगा
कोमल कामना-तन ?

तुम न होती तो, प्रिये,
सौन्दर्य के सित चरण छूकर
पार कर पाता कभी मन
सत्य के दुर्जय शिखर?—
तन्मय हृदय
भव सिन्धु पथ तर!

छः

शुभ्र लाज में लिपटी
क्यों होती दृग् ओझल?
प्रकृति,
मुझे तुम ध्यान लीन
आत्मस्थ जान कर!
मैं तो देख रहा तुमको ही,
चित् स्वरूप
उर-आँखों में भर!

निष्क्रिय साक्षी बन
क्या हाय, करेगा आत्मन्?
अद्वितीय, एकाकी,
अपने में स्थित, निर्जन!—
प्राण,
तुम्हीं उसकी प्रकाश,
गति स्थिति लय,
जिसके चरणों में तन्मय
सार्थक उसका अपनापन!
खोज रहा था, सुमुखि,
तुम्हारे सृजन-स्वप्न हित
आत्मा की समभूमि,
प्रीति रस द्रवित धरातल,—
अन्तर-पथ से उतर—
जहाँ उत्फुल्ल
चेतना का ज्योतिर्मय
श्री-सहस्रदल!
प्रिये,
अनुर्वर विरज स्थाणु को
किसकी पद-शोभा कर
रज अंकुरित निरन्तर
रस प्रहर्ष सर्जन के
मुक्त दिगन्तों में नित

उद्घाटित करती—
जग में ला स्वर्ण युगान्तर !

जीवन मंगल के
अमिताभ झरोखों से हँस
अन्तः सुषमा के
प्रकाश पुलकित अरुणोदय
शिवे,
शून्य को बना
सर्व सम्पन्न,
सृष्टि के क्रम विकास में
यदि नव स्वर-संगति भरते—
क्या विस्मय ?

भाव-लते,
क्या निखिल विश्व मन
नहीं तुम्हारा ही
वैभव भूषित सिंहासन ?
शासित करो,
अनन्य तन्मये,
संचालित कर
भू-विकास पथ का संघर्षण !

उर अन्तर्मुख हो
कि बहिर्मुख
युवति, तुम्हारा ही अधराऽमृत
पी कर जागृत,—
और कौन ?
भू-स्वर्ग लोक में—
आत्मा जिसके प्रति
सर्वस्व करे निज अर्पित !

सात

सिर से प्रिय पैरों तक,
नख शिख—
अमिते, तुम्हीं समग्र सत्य हो,
इसे जानता मेरा अन्तर !
इसीलिए, ललिते,
जब मैं प्रिय चरण चूमता
मुझको मिलता स्पर्श
कहीं चरणों से ऊपर
उस अन्तरतम का
जो प्रीति-स्वर्ग चिद्-भास्वर !

शुभ्र चरण ही क्यों,
जब मैं मुख छिपा गोद में
तुम्हें बाँधता बाँहों में भर—
फूल देह होती लय,
बाँहें भी विलीन—
शेष
उर-तन्मयता ही
रह जाती स्मृति-हीन—
अकूल चेतना सागर
आस्थे, करता भाव-मग्न
हम दोनों ही को
निस्तल, निःस्वर !

तुम्ही बोधमयि,
मेरी अन्तः सत्ता हो निःसंशय,
तन - मन प्राणों मे लय !
मेरी शोभा-प्रियता ही
धर चन्द्र - बिम्ब तन
भरती तद्‌गत रस परिरम्भण !
मेरे स्वप्नों के ही स्तवक
उरोज शिखर बन
शंख घोष भरते उर में
रस - निःस्वर, गोपन !
मेरी ही भावाकुलता
बन किसलय-पुट स्मित
मुझे पिलाती
सित अधराऽमृत !
रस-मर्मज्ञे,
तुम असीम सहृदयता वश ही
उदय हृदय में होती
वधू उषा बन,
लज्जानत, श्री मण्डित !
इससे पहिले,
बाँहों में भर
मधुर चुम्बनों से रँग दूँ मुख,—
शोभा - तन्मय अन्तर
हो जाता सुख-विस्मृत !
प्रिये,
तुम्ही हो प्रकृति पुरुष भी,

युगल मिलन भी,
अमृत प्रीति भी—
जिसके प्रति
मेरा तन - मन
सम्पूर्ण समर्पित !

मुझे तुम्हीं ने
निज शिशु सहचर चुना,
तुम्हीं हो मा,
प्रियतमा, सखी भी,—
एक, अभिन्न, अगुण्ठित !

आठ

स्नेह यह,
सित हृदय-सौरभ
भाव पंखों में
तुम्हारी ओर धावित !

देह पंखड़ियां
बसी रज - गन्ध में,
पर, देह-रज के यह न आश्रित !

हृदय-स्वर्ण-मरन्द-कण हो
सहज साँसों मे प्रवाहित
तुम्हें सूक्ष्म अरूप स्पर्शों से
प्रिये, यदि करें वेष्टित,—

या अजाने
मर्म हो रस-भाव स्पन्दित,
अंग कँप
आनन्द से हों रोम-हर्षित,—

तो समझना,
प्रेम ने स्वर्गिक अगोचर
बाहुओं में बाँध
तुमको वर लिया,—
कर हृदय अधिकृत !

सूक्ष्म से अति सूक्ष्म,
ममते, ज्योति से भी आशु-गति वह
प्राण मन में भीग
करता भाव - मोहित !

देश काल न रोक पाते,
स्वप्न बन, स्मृति बन,

हृदय को हृदय से
तद्गत सतत करता मनोजित् !

कहाँ तुम हो, कहाँ हूँ मैं,
प्रिय उपस्थिति
प्राण करती रस-निमज्जित,—
पहुँचता मन उड़
तुम्हारे पास तत्क्षण,
मिलन-इच्छा से
तड़ित् गति राग-प्रेरित !

तुम कहाँ हो अब परा (ई),
रूप सौरभ हृदय में बस
मुझे करती आत्म विस्मृत,

देह रहतीं दूर स्थित,
तन्मय स्पृहा ही
सूक्ष्म तन धर
गले मिलती
गूढ परिचित !

नौ

कवि हूँ, प्राण, तुम्हारा,
निज से हारा !

सृजन-कल्पना-कर से
छूता कोमल अंग तुम्हारे,
फूलों में जो खुलते प्यारे
श्री सुषमा में तन्मय सारे !

सौरभ पीता हूँ अधरों की,
सुधा सरों की,
नव मुकुलों की गन्ध सूँघकर,—
ललने,
मेरा हृदय तुम्हारा
स्वप्न-नीड भर !

प्राण-सखी तुम,
चूम मौन शोभा-कल्पित मुख
हरने मोह-निशा-पथ का दुख
नयी उषाएँ लाता भू पर
लज्जा मण्डित, निःस्वर !

बाँहों में भरने तन
निखिल विश्व शोभा

अन्तर मैं करता धारण,—
गड़ा वक्ष में आनन !

वह तन्मय क्षण,
मौन समर्पण,—
खुल पड़ता उर में
विराट् शोभा वातायन !

मा हो तुम,
मैं दिव्य योनि से
निकला बाहर,
शुक्ति-अंक भर !

शिशु-सा
छिपा गोद में निज मुख
भूल भेद दुख,
हृदय-स्वर्ग में
स्वप्नों के पलने में स्वर्णिम
नव जीवन प्रभात में अरुणिम
झूला करता—

साँस साँस में,
रुधिर लास में
अनुभव कर
नव जन्म ग्रहण सुख !

माता,
चरणों को छूता मैं
श्रद्धा आस्था से नत,—
कवि उर अभिमत,
उतरें सित पग
धरा-कमल पर,
जन मंगल का
'भू को दें वर !

दस

तुम अनन्त यौवना लता हो
चित् शोभामय,
मेरे प्राणों के निकुंज में
लिपटी तन्मय !

खिल - खिल भाव प्रबोधों के
मुकुलों में नित नव
मेरे अन्तर में भरती
रहती सित विस्मय !

साँसों संग उड़
सूक्ष्म सुरभि
मधु के मरन्द कण
तन - मन में भरते
स्वर्गिक
विस्मृति सुख मादन !
मर्म, अधर-मधु-रस हित,
रहता हो न गुंजरित,
स्मरण नहीं
ऐसा कोई
सार्थक जीवित क्षण !

प्रीति चन्दिरे,
मूल तुम्हारे
शाश्वत की
आनन्द-योनि में,
छाये भाव गगन में
सुषमाओं के पल्लव,—
प्राणों की मरकत छाया से
छवि मांसल तन,
सृजन प्रेरणा में कुसुमित
अन्तर्जग-वैभव !

फूलों के
स्तन - शिखरों पर
चिन्तन-श्लथ सिर धर
स्वप्न देखता मैं
भू जीवन के
दिक् सुन्दर !—
रूप तुम्हारा खिल
अतिक्रम
करता
[illegible] को,
शून्य द्रवित हो
बहता उर में
बन रस निर्झर !

कौन सुनहली
जग गुंजार
हृदय में [illegible]
तुमको करती
श्री [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] !

[illegible]

भाव सखी,
तुम कहाँ समा सकती थी मुझमें,—
मुझको ही तुम
तदाकार
कर रही निरन्तर !

ग्यारह

कौन कह रहा
तुम अरूप हो, निराकार हो ?
रूप तुम्हारा निखर
लाँघता, रति,
अरूप-तट,
चित् सुषमा का
ज्योति ज्वार हो !

ध्यान लीन मन में
जगती जब
तुम स्मित वदने,
आशा दशने,
शोभा वसने,
भाव यौवने,
हृदय-कमल पर भास्वर,—

कालहीन दीखता अनन्त
प्रणत चरणों पर
शव - सा लुण्ठित निःस्वर,
निश्चल, तदाकार हो !

परम प्रीति तुम,
रूप अरूप एक,
तुमको वर,
जड़ चेतन
सोते जगते
स्मित भ्रू-इंगित पर !—
भेद अभेदों की तुम
तद्गत सत्य-सार हो !

भाव भंगिमा से
श्री शोभा पड़ती झर-झर,
खुलते अन्तर में
चिद् वैभव के स्तर पर स्तर !

आर-पार सम्भव ?
अकूल अथ-इति का सागर,

प्रीति बिन्दु ही तरी,
भेद पल में जाते तर!—
तुम्ही भुक्ति में मुक्ति द्वार हो!

अन्ध गहन भू-निशि,
सूची पथ पाना दुष्कर,—
प्राण, बिना तुमसे पाये
चिद्-दृष्टि ज्योति-वर!
प्रीति सूत्र तुम
तुम्ही भाव-मणि, सृष्टि-हार हो!

भू विकास पथ पर
अदृश्य तुम करती विचरण,
समदिग् जीवन में कर
तप रत मौन अवतरण!

प्राप्त कर सके प्रीति-स्पर्श
तुमसे जन-भू मन,
दृष्टि समग्र जनों को दे
उर आस्था नूतन!—
हृदय चेतना की स्वर्णिम झंकार—
प्यार हो!

कौन बताता
तुम अरूप हो, निराकार हो!

बारह

किसकी सुषमा
देह-यष्टि में कर श्री-वेष्टित
प्रकृति, हृदय तुम करती मोहित?

नील कमल?
सरसी उर में
नयनों की शोभा
अपलक बिम्बित—
हुई सदा को अंकित!

चलोर्मियों ने
किससे सीखी
भृकुटि-भंगिमा चंचल?

गूँथ फेन के मोती
लोल हिलोरें उठ-गिर
कभी बजा पातीं
स्वर्णिम-रव पायल?

अनिल हुई
सद्यः मुख सौरभ पी
दिक् सुरभित,
सुरधनु बाँध
शिरीष वेणि में
दिशा स्पर्श-रोमांचित !

उरोभार-से शिखर
उभर आये
भू के उद्वेलित,
रोक नहीं पायी
वह उर-उच्छ्वास
देख घट में
छवि सागर पुंजित !

सरिता
चल पद-न्यास सीखते
अतल उदधि जल में लय,—
सुलभ कहाँ होती
वह पद-गति
धरा-स्वर्ग-क्रम आश्रय !

भाव प्रिये,
तुम, धूपछाँह
संसृति-पट में अवगुण्ठित,
अपने को
तद्गत उर में
चेतना-शिखे,
ऐश्वर्य मौन
करती जाती उद्घाटित !

तेरह

रात्रि का एकान्त क्षण,
उर-कक्ष निर्जन !
प्रीति पागी
नींद भी जागी
तुम्हारे ध्यान में सो,
मिलन सुख स्वप्न में खो,—
हृदय कवि का भाव-अनुरागी !
विलासिनि,
प्राण उन्मादिनि,

निभृत उर वक्ष मे आओ,
न मुग्धे, और बिलमाओ,
हृदय सित प्रेम विस्मृति में डुबाओ!

देह में मिल देह हो लय,
हृदय से हो हृदय तन्मय,
प्राण प्राणों से लिपट
आनन्द-रस भोगें अनामय!

स्वप्न शयन,
शरीर आत्मिक-स्पर्श सुख भागी!

भाव - उन्मेषिनि,
विकासिनि,
उर्वशी - सी उतर
भास्वर चेतना नभ से
त्रिदिव सौन्दर्य मे लिपटी अनश्वर—

मर्त्य से उठ स्वर्ग तक
सित भावना-रस-श्रेणि
तुम बनती अगोचर!—

शंख वर्तुल
भाव गौर
मराल शावक वक्ष
शोभा-पंख खोल तरुण दिगन्तर
मोह लेता कल्पना को
स्वर्ग सुषमा के दिखा
गोलार्ध सुन्दर!—
प्राण कैसे हों विरागी?

वधू तन्मयते,
निखिल संशय रहित मन—
रूप वैभव के बिना
होता अरूप अनन्त निर्धन!

देह

आत्मा से कहीं
ऐश्वर्य पावन,—
प्रेम को सम्पूर्ण कर सकती
हृदय मन वह समर्पण!

स्वर्ग?

रति-शोभा-मुकुर भर,
अमर

शाश्वत

बन प्रणय क्षण,
आत्म त्यागी !
कवि हृदय
रस भाव अनुरागी !

चौदह

तुम प्रसन्न उर के
सित प्रांगण में आती हो,
जीवन मन का
जड़ विषाद हर,
मुसकाती हो !

अन्तर्मन की
सहज सौम्य स्थिति ही
प्रसन्नता,
होती जिसमें लीन
बहिर्जग की विपन्नता;
प्राणों मे
आनन्द मेघ भर
बरसाती हो !

क्या प्रसन्नता ?
फूलों का शोभा-प्रफुल्ल मुख,
वे विपण्ण रहते
तो मधुकर होते उन्मुख ?

तुम्ही मौन प्रेरणा-
गुंजरण भर गाती हो !

बाह्य यत्न से
अन्त: शान्ति
न होती निर्मित,
वह वरदान तुम्हारा,
होती स्वत. अवतरित !

तुम्हीं पूर्णता,
स्वर्ण सन्तुलन
भर जाती हो !

वधू चेतने,
जड, अपूर्ण,
जर्जर जग खँडहर,
इसको निज आनन्द निवास
बनाओ सुन्दर !—

तड़ित् स्फुरण बन
तुम अन्तर-पथ दिखलाती हो !
काँटों की भाड़ी में
हँसे फूल-सा कोमल
जीर्ण रूढ़ि कृमियों से
विक्षत भू-अन्तस्तल !—

जगन्मयी,
जग से अतिशय,
तुम अपने में स्थित,—
जन-भू हो
श्री शोभा मंगल में
दिक् कुसुमित;
ज्योति-गर्भ अरुणोदय
तुम जग में लाती हो !

पन्द्रह

मरकत पट में
माणिक मंदिर
सुधा भर जीवित
मा धरती,
तुझको करता
जीवन - अभिषेकित !

ओ वैराग्य विमूर्छित, भारत,
छान बीन कर
मैं समस्त
आध्यात्मिक तत्वों को
चिद् भास्वर—
तेरे लिए सुधा संजीवन
लाया मादक,
तेरे ही चरणों का रहा
पिता, मैं साधक !
यह नव युग अवतरण सत्य
उतरा जो भीतर
स्वर्ण शुभ्र आलोक अमृत से
अन्तर-घट भर;—
पूर्ण,—छलकता
सात्विक
रजत ज्वार में बाहर—
अमृत पान कर

चम्पक तन,
कांचन विनम्र
सौरभ का अन्तर !

सखि, अरूप चेतना
भावना
देती हो सुख,
स्वयं चन्द्र ही
सौम्य बन गया हो
जिसका मुख—
गौर चाँदनी
ढल कोमल अंगों में
मूर्तित

सूक्ष्म भाव को
इन्द्रिय सुलभ
बनाती हो नित—
तब किसको भायेगा
प्राण, अरूप, अगोचर !
किसका स्पर्श
करेगा तन्मय
रोम हर्ष भर !

कहीं रेशमी ज्योत्स्ना
तन की बनती वेष्टन ?
स्पर्श तुम्हारा
तन मन को
करता रस-चेतन !
क्या न अरूप
प्रसार

तुम्हारे मधुर रूप का ?
व्याप्त धरा में जो जल
वही न वारि कूप का ?

भाव वत्सले,
स्वप्न मांसले,
मैं हूँ विस्मित—
तुम्हे देखकर भी
क्या देख रहा मैं
निश्चित ?
छूने पर भी
छू पाता हूँ—
नहीं मानता,
तुम अरूप हो

स्मित, रूप—
मन नहीं जानता !

प्रमे, प्ररूप
रूप से पर—
रस सम्मोहन में
मुग्ध हृदय
तुमको पाता
तन्मय प्रर्पण में !

सत्रह

सित स्फटिक प्रेम,
मन जिसकी माला जपता,
स्वर्वह्नि प्रेम,
जिसकी ज्वाला में तपता !
रस प्रमृत प्रेम,
जिसको उर तन्मय पीता,
प्रहि दंश प्रेम,
रस गरल कण्ठ में, जीता !

कवि प्रेम-पीठ
जन-भू पर रखने प्राता,
सह घृणा द्वेष भय दंश
प्रेम-पद गाता !
विश्वास उसे,
जग प्रेम धाम ईश्वर का,
उर प्राकांक्षी
जन-भू मंगल के वर का !

लटकी प्रनन्त रस रज्जु
ऊर्ध्व प्रम्बर से
चढ़ता वह,
पकड़े श्रद्धा प्रास्था कर से !
भू जीवन निधि हित
करता वह प्रारोहण,
बन सके धरा-मन
प्रभु के मुख का दर्पण !

भावना-रज्जु दृढ़,
सत रज तम गुण निर्मित,
सित स्वर्ण रजत संग
प्रयस-शूल भी गुम्फित !
छिदते रस ग्राही प्राण—

रक्त रंजित तन,
बढ़ता मन अविरत—
सीती प्रभु करुणा व्रण !

पा सूर्य लक्ष्य
प्रेरणा दीप्त कवि का मन
छेड़ता मुग्ध
नव भू-जीवन के गायन !
मांगल्य-धाम हो
मुक्त धरा रज प्रांगण,
भू जीवन मन हों
मनुज प्रीति के दर्पण !
अन्तर-शोभा से निर्मित भू
प्रभु का घर,
भौतिक भव हो
आत्मिक वैभव पर निर्भर !

रे प्रथम बार अब
अहं-भाव केन्द्रित नर
सित प्रेम मूल्य की नींव
धरा-रज पर धर
रचता जीवन प्रासाद—
खोल लोकोत्तर
सामूहिक जन-मंगल के
स्वर्ग दिगन्तर !

जन-राशि मनुज-गुण हो
भू पर संयोजित—
जीवन समृद्धि हो
बहिरन्तर सम्पोषित !

जो तम का घोर प्रहर
जन साधारण को,
वह नव प्रभात आगम-क्षण
जाग्रत् मन को !

चढ़ता ज्यों मन
झरता भू पर नव जीवन,
हटता चिन्मय के मुख से
मृण्मय गुण्ठन !

जन-भू ही ईश्वर का आवास—
न संशय,
अन्यत्र न स्वर्ग, न ईश्वर,—
यह रे निश्चय !

निर्माण करें जग का
हम पा प्रभु आशय,
वह प्रेम,—
कृच्छ्र भू-स्वर्ग-सृजन तप में लय !

अठारह

फिर उडने लगा
सुवर्ण मरन्द
चिदम्बर से झर,
तन्मय स्पर्शों से
मनः शिराएँ
कँपती थर् थर् !

उर देह-भीति से मुक्त,
रोम रस-हर्षित,
ओ भाव मोहिनी,
मन अब पूर्ण अनावृत !

क्या करते कृत्रिम
जप-तप, व्रत, आराधन,
तुम तद्गत सित आस्था पथ से
कर विचरण—

जड को छू
नव जीवन में करती चेतन !
स्वप्नों के क्षितिजों मे
तुम खोल रही उन्मेषित
नित नये रूप के अन्तरिक्ष
अन्तः सुख प्रेरित !

उर रूप तुम्हारा धर
नव श्री सुषमा से वेष्टित
होता तुममें लय
रति, समग्र रस अर्पित !

तुम मेरा तन धर कर
मन करती मोहित,
शव बनता शिव
पा शक्ति स्पर्श मृत्युंजित् !

उन्नीस

जहाँ जहाँ तुम रखतीं
शुभ्र चरण चल,—

भूतल
वहाँ वहाँ हो उठता, श्यामे,
दूर्वा-श्यामल !
ज्योतिर्मय हो उठते रज कण
तड़ित् स्पर्श से
सूर्य चन्द्र बन,—
प्रमे,

कौन विश्वास करेगा
जिसने कभी नही जाना हो
स्वप्न-चरण तुम सृजन-भूमि पर
कैसे करती विचरण !
खिलते उर सरसी मे सरसिज
रूप सृष्टि गढ़ता सित मनसिज
अर्पित कर तुमको पावक निज !
सृजन चेतने,
स्वप्नों के खुलते
अन्तर मे स्वर्ग दिगन्तर
अप्सरियाँ-सी उड़ती
उन शोभा-शिखरो पर !
गा उठते प्राणों के भुवन अचेतन,
देवदूत चलते
मोहित
मरकत घाटी में प्रतिक्षण !
जहाँ तड़ित् अंगुलि
करती सित इंगित,
वहाँ मौन बजती पग पागल
ध्यान-शयित
जगता अन्तस्तल !—
नये सूक्ष्म सौन्दर्य भुवन
उर-मन्थन से उद्घाटित
प्राणों में हो उठते जाग्रत्,—
भाव बोध सम्पदा
हृदय में कर रस-वितरित !
संवेदने,
हृदय ही मेरा श्यामल भूतल
सृजन भावना ही दूर्वादल,
रूप प्रेरणा
तड़ित् स्पर्श चल—
अन्तस् ही
युग बोध तरंगित
चित् सरसी जल !

रति सुख प्रीते,
मनो लहरियों में नित,
नील चरण स्मित
शशि पद चुम्बित
भाव कमल अगणित
अपलक
श्री पद चिह्नों-से
हो उठते प्रस्फुटित—
प्राण कर उपकृत !

बीस

प्राणों की सूक्ष्म सुरभि उड़
प्राणों में छा जाती,
तुम अन्तर में आती !
शोभा के चम्पक मरन्द कण
मधुर उपस्थित से भरते मन,
कौन मौन गुंजार
स्वप्न में सी जग,
क्या कुछ गाती !

बुद्धि भूल जाती भव चिन्तन,
भाव-पंख उड़ते स्वर्गिक क्षण,
उतर उषाएँ
नयी चेतना उर में लिपटातीं !

स्वर्णिम अंकुर-से संवेदन
मन में उगते अन्तश्चेतन,
माणिक ज्वाला के चित् जल में
जीवन शोभा न्हाती !

श्रद्धा होती स्वतः समर्पित
नव आस्था से कर उर दीपित,
प्राण,
सर्वगत तन्मयता जग
प्राणों में अकुलाती !
निखिल विश्व मन को कर अतिक्रम
अपने ही में स्थित, चिर निरुपम,
मुक्त परात्पर हर्ष, शान्ति
तुम रोओं में बरसाती !

एक बार पा स्पर्श परात्पर
अनघ विद्ध हो उठता अन्तर,
प्रीति,

साथ तुम क्षर, अक्षर, पर,—
रति प्रिय मति न अघाती !

इक्कीस

प्रिये,

तुम्हारी स्मृति आते ही
स्वर्णोज्वल चित् लोक
हृदय में होता मुकुलित,
तन्मय कर सित अन्तर !
झर पड़ते मन के सुख दुख व्रण
मधु - आगम में झरता ज्यों
हिमवन का पतझर !

धुल जाती मन से
जग की रज,—
ह्रास निशा में जो जग निद्रित,
हृदय मुकुर में
श्री शोभा अम्लान
सहज हो उठती बिम्बित !
मेघ पटल से निकल चाँद
ज्यों इन्द्र धनुष मण्डल स्मित
लगता शोभित,—
सूक्ष्म भाव किरणों से विरचित
मूर्ति तुम्हारी
करती उर आलोकित !
अन्तर्मन की सित प्रतीक तुम
वहिर्जगत में
अभी स्थूल छायांकित,
लगता
एक अखण्ड श्रेणि में
भू जीवन में होगी
स्वर्णिम सर्जित !
रस चैतन्यमयी,
तुम चन्द्र - तरी हो,
जिसमें तिर मेरा मन
ज्ञान नीलिमा नभ अनभ्र क्षण भर में,
वहाँ पहुँचता ध्यान लीन
सित प्रीति स्वर्ग में
जहाँ वास करती तुम

निस्तल,
'प्राण, सुधा सागर में !

परा चेतने,
तन मन प्राणों में
बिखरे वैभव ही से जो
प्राज्ञ तुम्हारी प्रतिमा करते अंकित,
बाह्य ड्योढ़ियों ही में फिर वे
मन्दिर का अनुमान लगाते,
गढ़ते मूर्ति
बहिर्वैभव पर, विस्मित !

शशि शेखर स्मित कंगूरे की
झलक देख भी लें यदि
विद्या - गर्वित,—
ओ हिरण्य सौन्दर्य रश्मि गुण्ठित,
जब तक, जन का अन्तर हो
नही तुम्हारे
तन्मय स्पर्शों से रोमांचित,
स्वयं तुम्ही साकार रूप धर
हो जाओ न हृदय में तद्‌गत अंकित !

तब तक, प्रतिमे,
जग की भूलभुलैया में मन
भटका करता
बाह्य सिद्धियों प्रति आकर्षित—
हो पाता न भाव - रति विस्मृत
चरणो पर
सर्वस्व समर्पित !

हे अन्तर्मयि,
जीवन मन के सभी स्तरों पर
स्पर्श पा सके हृदय, तुम्हारा
सतत तुम्ही में तन्मय—
लय हो अहं रचित जग सारा,—

भू जीवन को सूर्य - दिशा दे
जन प्रांगण में
उतर नव अरुणोदय !

बाईस

किस असीम सुषमा के
स्वप्न - ग्रथित अंचल मे
प्रिये, लपेट लिया तुमने मन !

द्रुपद सुता का चीर
रेशमी मसृण स्पर्श की
सूक्ष्म प्रेरणा से पुलकित कर
सर्जित करता अन्तश्चेतन,
नव रूपों भावों के वेष्टन !

ज्यों प्रभात मुख स्मिति से
जग की निखिल वस्तुएँ
हो उठती श्री शोभा मण्डित—
बदल विश्व ही जाता मेरा
स्वर्ग चेतना से हो दीपित !
अयि इन्द्रिय सुलभे,
ये इन्द्रिय भुवन
स्वर्ग के रस - पावक से प्राण - प्रज्वलित
दृश्य गन्ध रस स्पर्श शब्द की
भाव श्रेणियाँ करते नव उद्घाटित !
सौरभ से आकृष्ट
तुम्हारे सित भुवनों की
निखिल सत्व ही
स्वर्ण भृंग - सा मर्म गुंजरित—
नव जीवन - मंगल का मधु
संचय करने को
मुझे तद्गते,
करता प्रेरित !

रस वसन्त नव आया !
प्राणों में सोयी समीर जग
अन्तर करती गन्ध उच्छ्वसित !
जल स्थल में नभ
नया भाव सौन्दर्य
हो उठा ज्वाल-पल्लवित,
चित् मरन्द-से
नये सूक्ष्म सम्वेदन के स्वर
व्याप्त मर्म में पुलकित !
जन प्रतीति चेतने,
हृदय के सित प्रहर्ष
सौन्दर्य लोक में
मानव मन हो जागृत—
पतझर वन सी
झरें विकृतियाँ बहिरन्तर की,
प्राण मनस हों संस्कृत !

प्रिय दर्शिनि,
भू की कुरूपता मिटे,
इन्द्रियाँ तन्मात्रा हों विकसित—
तुमसे रह संयुक्त
मनुज जीवन हो पूर्ण,
समृद्ध, अखण्डित !

तेईस

प्रिये,
अदृश्य चरण चापें सुन
भू होती तृण रोम प्ररोहित
तो विस्मय ?—
जड़ रस - चेतन,
जीवन - शव होते
पद छू जीवित !

अंचल सा फहरा समीर
हो उठता आत्म-बोध-रज सुरभित,
क्षौम मसृण स्पर्शों से
पर्वत कम्पित,
सागर चन्द्र - तरंगित !

खिच अंगों की भाव गन्ध से
मन हो उठता भृंग गुंजरित,
प्राणों में
स्वर्गिक सम्मोहन से
होता संगीत प्रवाहित !

आत्मशीलमयि,
शोभा - बाँहों में बँध अन्तर
हो उठता रस - तन्मय, विस्मृत—
वह सित विस्मृति मुझे
सूक्ष्म आनन्द - लोक में
करती जागृत !

बदल विश्व - पट जाता तत्क्षण !—
विहग मधुप गाते उन्मेषित
लहरें मणि-पायल कर झंकृत !
चन्द्रलेख मस्तक पर शोभित,
उषा लालिमा हो उठती
कौमार्य - लाज से मण्डित !

काम पान कर
अग्नि मदिर
पावन अधराऽमृत

विश्व सृजन स्वप्नों मे
रहता व्यस्त अतन्द्रित !

प्रीति - लाजमयि,
इन्द्रिय तुमको ही पाती
रस गन्ध स्पर्श में—
बुद्धि तुम्हें ही
भावों मे, चिन्तन विमर्श में !
अन्तःस्थित तुम रखतीं मन को
शोक हर्ष में !

अन्तर्युवति,
नया ही मानव बन
जगता मैं
तुममें ध्यानावस्थित,
उर

निःसीम शान्ति में मज्जित,—
सार्थक स्वर - संगति में बँधता
भू जीवन
संघर्षण - मन्थित—
तुमको अर्पित !

चौबीस

कुछ भी नहीं यथार्थ जगत् में
तुमसे अकलुष, मोहक, सुन्दर,
किरण - तन्वि, चेतना स्वर्ण से
विरचित शोभा - सूक्ष्म कलेवर !

भय संशय हो जाते अवसित,
इच्छाएँ तुमको पा उपकृत,
स्वर्ग धरा में जो कुछ भी प्रिय
भाव-तरुणि, तुम उससे प्रियतर !

नहीं जानता, प्राण कौन तुम,
जगती उर मे ध्यान-मौन तुम,
श्री सुषमा में तन-मन मज्जित
रस तन्मय करती नत अन्तर !

तृप्त देह - रज, रोम प्रहर्षित,
भाव - जगत् चित्-स्पर्श सन्तुलित,
स्वर संगति में बँध - से जाते
अन्तरतमे, समस्त चराचर !

भीतर से तुम समधिक बाहर
सक्रिय रखती भू - जीवन - स्तर,

नव विकास क्रम को गति देती
विश्वरूपमयि, काल-सिन्धु तर!

मन बाहर विचरे या भीतर
पूर्ण निछावर हो यह तुम पर
शिव से शिवतर निखर भावना
भू - मंगल - रत रहे निरन्तर!

पच्चीस

सुधा सिन्धु में रहती हो तुम
मुझे न संशय
प्राण, उपस्थिति से ही
उर का कलुष गरल गल
जीवन मंगल में
परिणत हो जाता मधुमय!

पुराकाल में हुआ
अमृत विष का जब वितरण
शिव को
विष को पड़ा कण्ठ में करना धारण!—
रहे पृथक् ही अमृत गरल
दो तत्व सृजन के—
तुमने रूपान्तरित उन्हें कर
जन-भू मन में
दिया विश्व को अन्तरैक्य का
परम रसायन!

कल का अमृत गरल बन
गरल अमृत संजीवन
भव विकास का, गौरि,
बन गया श्रेय संचरण!

विगत राशि गुण, महत् क्षुद्र घुल,
पाप पुण्य घुल,
भू श्री शोभा गरिमा में
होते रूपायित,—
ज्योति स्पर्श पा,
जीवनमयि, कर आत्म उन्नयन!

क्षमे,
अनन्त तुम्हारी बाँहें
अग जग विस्तृत,
नख शिख
आत्म नील तुम,

केवल प्रीति अपरिमित—
रवि शशि दृग,—पथ करते दीपित,
उडुगण हार वक्ष पर शोभित !

मैं हूँ विस्मित !—
क्यों भारत
युग युग से आत्मज्ञान से प्रेरित
युग युग से श्रेयस् प्रति अर्पित,
आज, अर्ध - संस्कृत जग का कर
अन्ध अनुकरण
हाय, खो रहा निज गौरव घन !—
क्यों न पुनः विष पी जन - भू का
युग सागर से मन्थित—
अमर प्रेम की बाँहें खोल
नहीं समेटता भू - जीवन को
(जो बहु भेदों में खण्डित !)
अन्तर्विरोध कर प्रशमित !

उसे नम्र रहना—
विनम्रता आत्मा का गुण,
भू संकट सहना—
जनगण हित अन्तर्पथ चुन !
मनुज प्रीति में उसे बाँधना
युग-भू-जीवन—
निज दिग् भ्रान्त निकट देशों के
पूज घृणा व्रण !

अणु से कहीं महत्
आत्मा का बल निःसंशय,
(वह ध्वंसात्मक,
यह रचनात्मक)—
सर्व प्रेम ही
चिन्मय आत्मा का गुण निश्चय !
वही श्रेय की शक्ति,
उसी की अन्तिम दिग् जय !
दृढ़ आस्था रख
जन हों निर्भय !

ब्बीस

म गन्ध फैली अम्बर में !
ुर प्रणय की भाव - वेदना
अँगड़ाई लेती अन्तर में !

बसी सुरभि तन मन प्राणों में
फूट रही तन्मय गानों में,
बाहर भीतर व्यथा सुनहली
छायी कोकिल मधुकर स्वर में !

उमड़ा प्रेम वह्नि का सागर
तपते सुख में चन्द्र दिवाकर,
ज्योति सूत्र तुम—
गुँथी अगोचर
स्वर्ग मर्त्य में, क्षर अक्षर में !

खुलते रूप - दिगन्त नयन में
स्वप्न - भुवन बहु विस्मित मन में,
भाव तड़ित् सी प्राण - जलद में
लिपटी तुम उर के स्तर स्तर में !

छाया बहिरन्तर संघर्षण
आन्दोलित जग का उपचेतन,
आया भू मानस मन्थन क्षण—
व्याप्त वेदना सचराचर मे !

बहिर्भ्रान्त युग - मानव जीवन
भय संशय से जन मन उन्मन,
गहन व्यथा - तम बन ठहरी तुम
अरुणोदय के प्रथम प्रहर में !

सूक्ष्म गन्ध में मज्जित अग जग,
स्वप्नों से चिह्नित जन - भू मग,
दौड़ रहीं रस माणिक लपटें
जन जीवन की लहर लहर मे !

भाव व्यथा से, परमे, निखरो,
रूप सत्य बन भू पर विचरो,
स्वप्न तरी तुम,
पार लगाओ
युग-मन वस्तु-तमस-सागर में !

सत्ताईस

बाँधे चित् सौन्दर्य सिन्धु
सित बाहु पाश मे,
तुम रस मज्जित करती अन्तर !
स्वर्ण हंस भरते उडान
उर अन्तरिक्ष मे—
जीवन शोभा
पड़ती झर झर !

सत्य स्वतः ही भाव रूप धर
तुममें होता शोभा-गोचर,
प्रीति तन्मये,
रस प्रहर्ष का स्पर्श
प्राण तन मन लेता हर !
रौंदे इन्द्र धनुष तृण चुनकर
कला नीड रचना हो सुखकर,
बिना तुम्हारी दृष्टि-रश्मि के
चित्र बिम्ब स्वर
आडम्बर भर !
फिर भी प्रिय पगध्वनि सुन प्रेरित
जो अरूप छवि कर छायांकित
भू पथ करते शोभा दीपित—
उन्हें सहज मन देता आदर !
बरस रहा आनन्द अपरिमित,
तन मन स्वर-सम्वेदन पुलकित,
स्वर्णिम अंकुर-सी तुम शोभित
प्राणों की भू में रस उर्वर !
हृदय-सत्य की शोभा-प्रतिमे,
सित अन्तर प्रहर्ष की अतिमे,
उतर रही तुम स्वर्ग उषा सी
दीप्त भाल पर चन्द्र रेख धर !
स्वप्न-सेतु रच भाव-मनोहर
विचरण करती बाहर भीतर—
वितरण कर तुम चिद् रस सम्पद्
धरा स्वर्ग को बाँध परस्पर !

अट्ठाईस

स्वर्ण तार सी
कौन चेतना
द्यावा पृथिवी में रस गुम्फित ?—
मर्म प्रीति के
अमृत स्पर्श से
आज हो उठी उर में झंकृत !
तन-मन के द्वन्द्वों में सीमित,
जन न जीवन बर्बर मन्थित,
जुगनू बन
झिलमिल किरीट रवि
अन्धकार तम
करता वितरित !

अल पर्वत
रज कण बन
लुण्ठित—
रस समुद्र
अंजुलि पुट गुण्ठित;
तृणवत् नत
हत सत्पौरुष वट
रेंग रहा
कर्दम में कुत्सित !

स्वर्ण किरण
छूकर जन भू मन,
भय संशय
तम में जाती सन;
वस्तु रूप ही सत्य,
देह रज
आत्मा को करती संचालित !!

पक्ष-घात पीड़ित मानव मन
सत्य न अब कर सकता धारण,
पंगु आत्म पौरुष
लँगड़ाता,
रस अतृप्त, भव-तृष्णा-मर्दित !
भले विफल हो
सूक्ष्म भाव-श्रम
बढ़ता शनैः
जगत् विकास क्रम,—
असफलता ही
लक्ष्य-सिद्धि की
प्रथम सफल श्रेणी—
यह निश्चित !

ज्ञात मुझे,
तुम सार सत्य सित
बिम्ब जगत्
तुम पर अवलम्बित;
करवट लेती विश्व चेतना,
एक वृत्त
होने को अवमित !
इसीलिए
स्वप्नों से स्पन्दित
कवि रस मानस
आज अतन्द्रित—
भू मंगल मधु संचय करने

स्वर्ण भृंग
उर-भाव गुंजरित !

उन्तीस

भावों की बँट
सूक्ष्म रज्जु सित
बाँध रही तुम जन-भू मन को
स्वर्ण ऐक्य में,
प्राण अपरिमित !
गूँथ हृदय स्पन्दन स्त्री-नर के
भेद चूर्ण कर बहिरन्तर के,
रस स्वर्णिम चेतना ज्वार में
भू मन के तट
करती प्लावित !
देह भावना रज में सीमित
राग चेतना मुख अवगुण्ठित,
सूर्य - स्पर्श से प्राण-पंक में
प्रीति पद्म
तुम करती विकसित !
श्री सुषमा के स्वर्ग दिगन्तर
खोल हृदय में सित चिद् अम्बर,
तुम जीवन का मृण्मय आनन
नव प्रकाश से
करती मण्डित !
कौन अनाम सुरभि उड़ गोपन,
जाने तन्मय करती तन - मन,
देह प्राण मन की सीमाएँ
रस प्रहर्ष क्षण में
कर मज्जित !
स्वप्न क्षितिज करते दृग विस्मित,
भाव स्पर्श प्राणों को पुलकित,
युवति, सुनहले सम्बन्धों के
प्रीति सेतु
तुम करती निर्मित !
उर के बिखरे सूत्र सँजोकर
भाव शृंखला गढ़ तुम दृढ़तर
अहं - मग्न जन कूप वृत्ति को
प्रीति स्पर्श से
करती विस्तृत !

मनुज - सत्य ही जीवित ईश्वर
जिसे प्रतिष्ठित होना भू पर,
राग चतना के विकास पर
भू जीवन विकास
अवलम्बित !

तीस

तुम मेरी हो,
हाँ, सचमुच मेरी हो !
विस्मित मत हो,
सखी रूप में
तुम समग्र मेरी हो !
मुझे अधूरा कम ही भाता,
हृदय पूर्णता के प्रति जाता !
तुम्हें प्यार करता मैं मन से,
हृदय-सखी तुम, बड़ी बहन से !
देह प्रीति से
यह रति ऊपर,
धीरे ही आस्था होगी
तुमको चिद् गति पर !
निज मन में मेरे सँग रह कर
शुभ्र भाव लहरों में बह कर
संशय रहित करो निज अन्तर !
स्वर्ग ज्योति का सित वातायन,—
खोल रुद्ध भू - मन में नूतन,
भू विपाद मैं हर जाऊँगा,
नयी चेतना बरसाऊँगा !
युग संघर्षण के
जन उर व्रण भर जाऊँगा !
आधा धूम तुम्हारे मन का
मिट जायेगा—रज-भय तन का !
शत प्रतिशत भय संशय
तब होगा निर्वासित
जब सामाजिक स्तर पर
प्रेमा होगी स्थापित !
भू-विकास की सम्प्रति जो स्थिति
मन से केवल सख्य प्रीति को
मिलनी स्वीकृति !
जीवन स्तर पर पीछे होगा
बोध प्रतिष्ठित

जय भू मानव

शक्ति पात से होगा संस्कृत !
मनः शिराएँ होंगी झंकृत,
हृदय
नयी स्वर्गिक शोभा-गरिमा से स्पन्दित !
निष्क्रिय शुष्क विराग मिटेगा
जीवन मन का,
सृजन - हर्ष से प्रेरित होगा
उर जन जन का !
सूक्ष्म तड़ित् से जाग्रत् होगा
निद्रित अन्तर,
सक्रिय होंगे भू जीवन के
बहिरन्तर स्तर !

रह पायेगी नहीं
मनुज के प्रति विरक्ति तब
धरा प्रीति में परिणत होगी
मूर्त भक्ति जब !
रहे देह में क्यों मन सीमित ?
खुलें भावना के दिगन्त—
आत्मिक ऐश्वर्यों से
आलोकित !

भू जीवन चेतना अनन्त,—
न पिंजर बद्ध रहे भू मन
पति सुत परिजन से ग्रसित
देह भय पीड़ित !
प्रीति ग्रथित हों भू नारी नर
काम तमस के कूप से उबर !

विश्व विकास स्वयं क्या होता ?
बीज प्राप्त नर उसके बोता !
जो विकास ध्वज-वाहक होता
वह भू जीवन साधक होता !
ईश्वर मुख से होता परिचित,
सित चैतन्य स्पर्श से दीपित !
प्रभु से ही पा वह सित इंगित
गुह्य बोझ से मन्थर-गति नित —
नयी दिशा देता जीवन को,
संयोजित कर
विघटित मन को !

कवि होता सम्राट् न
वह सेना अधिनायक,

होता सित चित् रस चातक,
जन भू उन्नायक !
नहीं बदलता वह जीवन को,
मात्र दृष्टि भर देता जन को !

दृष्टि ?—चेतना जो नव,
चुपके पैठ हृदय में
विकसित होती शनैः
नये युग अरुणोदय में !

भाव - पल्लवित - पुष्पित होकर
उर में स्वर्णिम चित् सौरभ भर
श्री शोभा मांसल करती वह
गत जीवन - वन पतझर !

इसीलिए,
चाहता प्रीति की शुभ्र पीठ बन
हृदय ज्योति का करो
देह - रज पर आवाहन !

इकत्तीस

कैसी किरणें बरस रही
जाने किस नभ से,
प्रिय - श्री पाटल का मुख
फालसई आभा से
दिखता परिवृत !
शुभ्र कुन्द कलियाँ
स्वर्णिम रेशमी दीप्ति से
लगती शोभित !

किस प्रेमी ने
प्यारी पत्नी के बिछोह में
प्रिय शोभा श्री
भू - पलकों पर करने अंकित
स्मृति-पाटल को जन्म दिया
स्वर्गिक मुख सुषमा से कर भूषित ?

फूलों की पंखड़ियों से रच
भ्रमर काव्य - सित,
वानस्पत्य जगत् कर
स्वर्ग मुकुट से मण्डित !

विश्व युद्ध को अर्पित
इसका शान्ति नाम
बरसाता उर में
शान्ति अपरिमित !

भय समझो,
ये किरणें
शुभ्र प्रेम की किरणें
बरस रहीं चेतना स्वर्ग से
जन-भू का मन वरने !

हृदय चेतने,
सूक्ष्म तुम्हारे अमृत स्पर्श से
हो उठता रज का रूपान्तर,
तृण तरुओं के जग से भी
स्वर्गीय दीप्तिमा पड़ती झर-झर !
—निर्मम रह सकता उसके प्रति
कब तक मानव अन्तर ?

शान्ति चन्द्रिके,
एक सांस्कृतिक सूर्य
अस्त होने को निश्चय,
तुम्हें, कलामयि, दे
निज उर सिंहासन सविनय !

अभी न उस पाटल ने
जन्म लिया जन-भू पर—
जिसकी स्वप्नों की पलकों पर
अमर प्रीति की पंखड़ियां खुल
अन्तः सुन्दर—

सुधे,
तुम्हारे रसैश्वर्य के
स्वर्ण दिगन्तर
खोल सकेंगी जन-मन में—
जग को उपकृत कर !

अन्तः शोभा का विस्फोट
श्रवण कर नि:स्वर
जाग उठेगा सोया
आत्मा का रस अम्बर !

तभी सृजन-उर्वर भू-रज पर
पूर्ण शान्ति लेगी सित जन्म
मूर्त कर तुमको—
नश्वरता ही में
अविनश्वर !

['पीस' नामक रोज से प्रेरित]

बत्तीस

कितनी दया द्रवित लगती तुम
मातृ प्रकृति बन,

मेरी त्रुटियाँ
उर में करती रहती धारण !
उन्हें शनैः कर स्नेह - निवारण !
दोषों में गिर
दोषों से फिर उठे प्राण मन,
दोषों ने ही किया
विमाता बन
मेरा ऋण लालन - पालन !
दुर्बलताओं से ही मैं
नित शक्ति खींच
बढ़ सका निरन्तर—
प्राण, डूबने दिया न तुमने
बन असीम सहृदयता - सागर !—
चिर कृतज्ञता से
बरबस ही
आँसू पड़ते झर झर !
क्या मैं शिशु से
कभी प्रौढ़ बन पाया ?—
स्मरण न किंचित् !
मा, तुमको करनी थी
कितनी सेवा अर्पित !—
पर, मैं फिर अब
वृद्ध बाल बन
तुम्हे पुकारा करता प्रतिक्षण !
ओ अनन्त यौवने,
तुम्हीं नव स्तन्य दान दे
मुझमें
नव मानव आत्मा का करती पोषण !
गाता मेरे शोणित में
वह स्वर्ग स्तन्य बह,
शोभा ज्वाला में
न्हाता रहता उर रह-रह !
जी करता,
मन का प्लावन
धरती पर छाकर,
अतल निमज्जित कर दे
मनुज क्षुद्रता दुस्तर,
युग युग का
किल्विष विषाद हर !
जन भू जीवन मंगल स्वप्नों से ही प्रेरित
अन्तरतम में
नया विश्व मैं करता निर्मित,—

दोष शुद्ध हो जहाँ न भले
मनुज का जीवन,
भाव शुद्ध हो
पर, मानव मन!

दोष प्रगति-सोपान शनैः
बन जाते सुखमय,
अनघ - स्वर्गमयि,
जो अन्तर तुममें रस-तन्मय!

तैंतीस

तुम्हें ज्ञात ही,
कभी न मन में आया
मैं हूँ मातृ-हीन,—
दारा सुत दुहिता
सखी प्रेमिका से भी वंचित!

रहा सदा उर भाव लीन—
मा, तुम्हीं ज्ञात अज्ञात रूप से
पूर्ति प्रेम की करती रही
हृदय में हो स्थित!

अब लगता
पत्नी सन्तति प्रणयिनी
सखी—सब मात्र
प्रीति के लघु स्फुलिंग भर!
तुम निःसीम प्रेम-पावक-घन,
जिसकी चिनगारियाँ भास्वर
सूर्य, शशि, उडुगण!—
दिया काम गुण
चिन्मय आभा!

सब अभाव भर दिये
रिक्त कवि उर के ढेर
तुमने, अतुले,
भाव मनोरमता में पूरित!
अमित प्रीति की बाहें घेरे
रही मुझे—अमर कर दुर्लभ!

जिसे स्पर्श मिल चुका
तुम्हारी अमृत प्रीति का
एक बार,
उसको मा,
छाया ही सा दीखा, संसार

संगता असार संसार—
सार जिसकी तुम निरुपम!—
स्वयं विलय हो जाता
अहं-रचित जग का भ्रम!
और प्यार?

वह बन प्रकाश मणि द्वार
खोलता नित अनन्त
शोभा दिगन्त
दृग सम्मुख,
दृष्टि स्वतः ही खुल
होती अन्तर्मुख!

कितनी शोभाओं मे तुम
चलती जन-भू पर!
कितने मीन नयन, किंशुक नासाएँ,
किसलय अधर, कपोल मुकुर-से
भाव मुग्ध रखते अन्तर—
शिशु हंस वक्ष, कृश कटि
मांसल अवयव-शोभा-संगति भर!

खुल पड़ता मन मंजूषा का वेष्टन,
हीरक मणि-सी हृदय मध्य स्थित
करती तुम अग-जग आलोकित,—
लगता,
तन-मन मात्र आवरण,
तुम्ही वास्तविक सत्य, स्वघे,
जिस पर जीवन अवलम्बित!

चौंतीस

पग-पग पर
मुझसे त्रुटि होती!
सूक्ष्म चेतना क्षेत्र,
स्थूल मति,
निज विवेक बल खोती!

ज्योति-स्पर्श उर, करता तन्मय,
देह-भाव-तम उपजाता भय,
पंगु बुद्धि,
संशय द्वाभा हत,
व्यथा-भार भ्रम ढोती!

मूल्यों का संकट युग-भीषण,
कौन करे जीवन निर्देशन—

आत्मा, मन या रज-तन—
बन्दी हृदय-चेतना रोती!

प्रिये, हृदय जब तुममें तन्मय
तन-मन आत्मा एक असंशय,
उर्वर जीवन रज में तुम नित
नव प्रकाश-कण बोती!

आत्मा के प्रतिनिधि स्त्री-नर सित
देह बोध मे रहें न सीमित,—
अनघ प्रीति में बाँध देह-मन
तुम रज कल्मष धोती!

भाव शुद्ध हो मनुज रज हृदय
ठहरा नव जीवन अरुणोदय,—
उदय हृदय में होती जब तुम
देह-भावना सोती!

राग चेतना का भव सागर
तुमुल तरंग मथित जन अन्तर,—
रजत-सीप उर-प्रगति,
स्वाति जल प्रीति,
हँसे चित् मोती!

पैंतीस

दृष्टि मुझे दी, प्रिये,
देखता हूँ मैं जग को!—
वक्र भुजग-से
युग भू जीवन
क्रम विकास मग को!

व्यक्ति न अब,
जन विविध शक्तियों के
प्रतिनिधि भर,
भूत-भविष्यत् में रण,
गुण्ठित स्वर्ण युगान्तर!

कैसा वितरण
विश्व शक्तियों का!—
जग की विधि!
उद्वेलित आमूल,
गरजता
क्रुद्ध भव-उदधि!

कृमियों-से रेंगते मनुज
पद-दलित प्राण-मन,

भौतिक तम में
बहिर्भ्रान्ति
सम्प्रति भू जीवन!

भोग लालसा मद विस्मृत
जीवात्मा का कण,
शासित करता
अन्तर को
आवेश- अचेतन!

कौन वनस्पति
पशुओं का जग
आज सँजोये?

मनुज प्रेत
जब स्वयं
मृत्यु निद्रा में सोये!

नहीं जानता,
अणु हुंकार
भरेगा युग मन

या तुम ला
जन भू जीवन में
आत्म सन्तुलन—

श्रेय प्रेय में
स्वर संगति भर
तम-भ्रम मोचन

प्राण, करोगी जन मंगल,
श्री सुख संवर्धन!

एक हाथ में
आणव ध्वंस,—
अपर कर में धर
नव चैतन्य सुधा घट,
स्मेरमुखी,
हँस निःस्वर—

तुम भंगुर तम का करती
तम ही से भंजन,—
नव प्रकाश का
फहराये
जग में जय केतन!

स्वप्न तरुणि हे,
देख रहा मैं,

उठती जन-भू,
झुकता अम्बर,
नव स्वप्नों के
पग से कम्पित
युग नर अन्तर !—
बाह्य ध्वंस पट में
अन्तर्मन करता सर्जन,
बदल रहे जन,
बदल रहा भू-मन,
भव जीवन !

छत्तीस

आज सभी कुछ जग में—
विद्या विभव विलास अपरिमित
सुख - सुविधा साधन बहु इच्छित,
शशि मंगल ग्रह पथ भी अर्जित—
मानव उर में
किन्तु शान्ति सन्तोष न किंचित् !
सुलभ सभी कुछ—
कहीं नहीं तुम
स्वल्प हृदय कोने में भी
मा, प्राण-प्रतिष्ठित !

आज तभी तो
दृष्टि हीन विज्ञान ज्ञान,
निष्प्राण, विरस, सौन्दर्य म्लान !—
मानव - कर अर्जित
स्वर्ग साधनों का मणिहार
भुजग बन विषधर
डँसता जग को
दर्प स्फीत—फुंकार मार !

जन मांगल्य न विश्व बोध में,
सांगिकता ही सत्य-शोध में,
हीन भावना, क्षीण प्रेरणा !—
ऐक्य संगठित यदि—
विरोध में !
तुम्ही नहीं जब,
विजय हर्ष क्षण
सकल पराजित
विफल क्रोध में !

विद्युद् दीपित बाह्य दिगन्त,
रुद्ध, तमस से आत्मा का पथ,—
हृदय ज्योति के बिना
मिले भी कैसे
जीवन-सागर इति-अथ !

हार गयी हत बुद्धि
फेन मय,
व्यथा अकथ,
युग जीवन विश्लथ !

बिना लवण के
षड् व्यंजन क्या ?
बिना अजरता
संजीवन क्या ?
बिना तुम्हारे
मर्त्य ही नहीं
प्राण, स्वर्ग का भी प्रांगण क्या !

सूर्य, तुम्हीं करुणा जग ज्योतित,
तुम्हीं चन्द्र हो शीत रश्मि स्मित,—
सृष्टि प्राण तन-मन जीवन की
तुम्हीं सृष्टि-स्वर-संगति जीवित !

निखिल सत्य की सत्य,
ज्योति की ज्योति,
हृदय में चिर अन्तर्हित !—
तुम्हीं अक्षर में नहीं प्रतिष्ठित,
सभी अक्षर में कहीं प्रतिष्ठित !

घट-घट में
गुरु प्रश्न हो रहा मौन गुंजरित,—
कौन अभाव मनुज में,
कहाँ सभ्यता खण्डित !
स्रोत रुद्ध कर
भरा रहेगा कहीं सरोवर ?
अमृत स्रोत तुम,
जड़ जग केवल मृत संचय भर !
पा नित सित चित् स्पर्श तुम्हारा
भव-शव जीवित,—
बहिर्भ्रान्ति जग
हृदय ज्योति वंचित
जीवन-मृत !

तुम्हें देखकर
अन्ध तिमिर बनता प्रकाशमय,
तुमसे रहित प्रकाश
तिमिर पर्याय,—न संशय !
बुद्धि प्राण तन - मन ही में
युग मानव सीमित,—
हृदय हीन,
आत्मा के स्वर से
निपट अपरिचित !

आत्मा नहीं प्रकाश साक्ष्य ही,
सक्रिय प्रीति अपरिमित,
सूक्ष्म सूत्र वह,
बुद्धि प्राण मन जिसमें गुम्फित !
वह प्रभु प्रतिनिधि हृदय ज्योति,
एकता मूर्ति सित,
प्राणारोही बुद्धि अशुभकर
अहं विभाजित !

जिस भू पर
सित पगध्वनि
अन्ध अहं-पद मर्दित,
वहाँ अमंगल
लोक-ध्वंस ही
सम्भव निश्चित !

अड़तीस

नाच, मन-मयूर नाच,
प्रलय-घटा छायी,

विद्युद् दीपित बाह्य विश्व-पथ,
रुद्ध तमस से आत्मा का रथ,—
हृदय ज्योति के बिना
मिले भी कैसे
जीवन-सागर इति-अथ !

हार गयी हत बुद्धि
फेन मथ,
व्यथा अकथ,
युग जीवन विश्लथ !

बिना लवण के
षड् व्यंजन क्या ?
बिना अजरता
संजीवन क्या ?
बिना तुम्हारे
मर्त्य ही नहीं
प्राण, स्वर्ग का भी प्रांगण क्या !

सूर्य नही करता जग ज्योतित,
नहीं चन्द्र ही शीत रश्मि स्मित,—
बुद्धि प्राण तन-मन जीवन की
तुम्ही सृष्टि-स्वर-संगति जीवित !

निखिल सत्य की सत्य,
ज्योति की ज्योति,
हृदय मे चिर अन्तर्हित !—
तुम्हीं जगत् में नही प्रतिष्ठित,
सभ्य जगत् में कही प्रतिष्ठित !

सैंतीस

जिस भू पर
पगध्वनि न तुम्हारी
हो प्रतिध्वनित,
विस्मय क्या,
वह आग्नेयों से
हो रण गर्जित !

यह भौतिक जग
मृद् घट भर जो कुम्भकार का,
घृणा पात्र वह बने,
बने या भुवन प्यार का ?—

घट-घट में
गुरु प्रश्न हो रहा मौन गुंजरित,—
कौन प्रभाव मनुज में,
कहाँ सभ्यता खण्डित !
स्रोत रुद्ध कर
भरा रहेगा कहीं सरोवर ?
अमृत स्रोत तुम,
जड़ जग केवल मृत संचय भर !
पा नित सित चित् स्पर्श तुम्हारा
भव-शव जीवित,—
बहिर्भ्रान्त जग
हृदय ज्योति वंचित
जीवन-मृत !
तुम्हें देखकर
अन्ध तिमिर बनता प्रकाशमय,
तुमसे रहित प्रकाश
तिमिर पर्याय,—न संशय !
बुद्धि प्राण तन - मन ही मे
युग मानव सीमित,—
हृदय हीन,
आत्मा के स्वर से
निपट अपरिचित !

आत्मा नहीं प्रकाश साक्ष्य ही,
सक्रिय प्रीति अपरिमित,
सूक्ष्म सूत्र वह,
बुद्धि प्राण मन जिसमें गुम्फित !
वह प्रभु प्रतिनिधि हृदय ज्योति,
एकता मूर्ति सित,
प्राणारोही बुद्धि अशुभकर
अहं विभाजित !

जिस भू पर
सित पगध्वनि
मन्थ अहं-पद मर्दित,
वहाँ अमंगल
लोक-ध्वंस ही
सम्भव निश्चित !

अड़तीस

नाच, मन-मयूर नाच,
प्रलय-घटा छायी,

विद्युत् असि क्रान्ति ज्योति
उर में लहराई !

तोड़ विश्व तमस पाश,—
जीर्ण शीर्ण हो विनाश,
प्राणों ने क्रुद्ध
युद्ध दुन्दुभी बजाई !

तन-मन में लगी आग,
जाग, रुद्ध शक्ति, जाग,
दौड़ रही भाव तप्त
रक्त में ललाई !

ऊर्ध्व दृष्टि खुले व्योम,
जगें सूर्य, जगें सोम,
हँसे रोम ज्योति-स्फीत
तम ले अँगड़ाई !

जीवन मुख हो प्रसन्न,
धान्य-धन्य जन विपन्न,
धरा-स्वर्ग मनुज - दाय,
प्रकृति की दुहाई !

सदसत् में हार जीत,
डर न जन्म-मृत्यु भीत,
ज्योति अन्धकार बीच
छिड़ी फिर लड़ाई !

प्रीति-स्पर्श पा ललाम
शून्य पुनः सृजन-काम,
लीलामयि का विलास—
तम प्रकाश भाई !

उन्तालीस

और उज्ज्वल, और
और भी ...
पंक तल में

नयन पलक तर्क प्रिय मुग्ध
ऊर्ध्व मन्थर मोर उन्मुख,
भव-निशा, तन्द्रिल हृदय में
प्रीति-मधुकर स्वर जगाओ !

रश्मि-कर से दीप्त प्रहर्षित
प्राण मन तुमको समर्पित,
धरा पंकज पर उतर
भू-स्वर्ग सिंहासन बनाओ !

सूर्य-उर में, प्रिये, तुम स्थित
चाँदनी - सी शील-कल्पित,
स्पर्श से कर मर्म पुलकित
नव विकास दिशा दिखाओ !

चालीस

कितनी सुन्दर हो तुम
शोभा के मन्दिर सी,
स्वप्नों के
सुकुमार मंजिर सी,
चम्पक फूलों के
तनु स्वर्णिम
गौर शिखर-सी !

—परिणत अब हो चुका
स्नेह में सुखमय
गाढ़ हमारा परिचय !

सोचा,
जब तुम इतनी सुन्दर,
कितना सुन्दर होगा
सुन्दरता का अन्तर !

मैंने
मुग्ध नयन डाले
नयनों के भीतर,
नील कमल उर में
प्रवेश ज्यों करते मधुकर !—

सोचा,
नील मुक्ति में उड़कर
मुक्त विहग-सी दृष्टि
स्वर्ग शोभा में हो लय—

चूम सकेगा
हृदय चेतना के प्रवाक्
आरोह अगोचर,
खोल
कल्पना के मराल-पर !

किन्तु तुम्हारी
भौंहों में बल पड़े,
दृगों से
फूटी जब चिनगारी,—
निरपराध मन
बोल उठा तब
बलिहारी !
बलिहारी !

किसलय पुट की
कुन्द मुकुल स्मिति से खिचकर
मुँह पास ले गया मन विस्मृत,
मधु माणिक घट से थी
फेनिल सुधा धार सित निःसृत—
पर,
लौह शलाका-से रक्तिम
द्रुत कँपे अधर,—
मुँह फेर लिया तुमने
मुझको कर विस्मित !

स्वर्णिम कदम्ब फूलों-से मृदु
उभरे उरोज छवि-शिखरों पर
जब मैंने मस्तक धरा सुघर,—
तुम ज्यों वन-पशु को देख त्रस्त
झट पीछे हट,
कुछ अस्तव्यस्त···
फिर मुझको जाते देख दूर
आश्वस्त हुई
मन से समस्त !

हाँ, सन्ध्या को
जब फूल-बेलि सी बाँहों में
मन क्षण-भर बँधने को मचला,
फुकार उठी तुम,
फूल हार वह
फणधर सर्प-पाश निकला !

सोचा मन ने हँस—
यही पुरुष की प्राण-सखी ?

जो तुमने लीला रच परखी !
त्वक् पिंजर भीतर से निरखो !
तन इसका शोभा का मन्दिर,—
क्यों अन्धकार का हृदय अजिर ?

बोला अलिप्त मन भाव-मग्न—
किन रज-मूल्यों से प्राण-चेतना
स्त्री की युग युग से कल्पित !
बलि पशु वह निश्चित
मात्र काम-वेदी को अर्पित !!

प्रीति-स्पर्श से निपट अपरिचित,
भाव-मूल्य के प्रति आशंकित,
केवल,
केवल काम-स्पर्श प्रति जागृत !!
भर आया अन्तर
करुणा से विमथित !

ओ शोभा-सर की मरालिओ,
तुम्हें सौंपता मानवता को
मैं,—सखीत्व के स्तर पर !
बलि-पशु मात्र न केलि-यज्ञ की
बनो मानवी भास्वर !

खोलो रुद्ध हृदय वातायन,
स्वर्ग किरण आयें भूपर छन !
सखा-सखी बन सकें प्राण-मन,
भाव-स्पर्श कर सके उर ग्रहण,—
जड़ निषेध का पाहन !
अन्तर हो चिद् वारि सरोवर
प्रीति-हंस का सित घर !

सुन्दर तन,
सुन्दर हो जीवन !
हृदय प्रीति का स्फटिक-मुकुर,
मन आत्मा का सित वाहन !
यह साधना धरा जीवन की
कवि करता आवाहन !

शुभ्र प्रेम ही मानव जीवन
हृदय पुष्प सित करो समर्पण—
ईश्वर करे धरा पर विचरण
भू कर्दम हो पावन !

तन न रहो तुम,
त्वच न रहो तुम,

शोभा के छिलके के भीतर
भावाऽमृत का हो रस-सागर!
फूल देह में

फले स्नेह-फल,
इसमें ही भू-मंगल!

इकतालीस

ये प्रणयी जन
छिपे कामना-कुंजों में घन
कौन रस-कथा कहते गोपन,
भाव व्यथा सहते मन ही मन!

देश काल से ऊपर उठकर
अपने ही पर निर्भर,
क्या ये अभिनव स्वर्ग-सृष्टि
रचते उर भीतर?—
स्वप्नों की धर नींव मनोहर!

स्यात् कभी आता कोई जन
ये चुप हो,
आँखों में बातें करते तत्क्षण!

फूल देखते अपलक-दृग मुख
मर्म कथा सुनने को उत्सुक,—
चिड़ियाँ पास फुदककर आतीं
चुक् चुक्,
इनका ध्यान बटातीं,
गूढ़ भेद कुछ समझ न पातीं!

जोड़ों में बँट ये प्रणयी जन
क्या बातें करते तन्मय मन?
काल,
उन्हें संचित कर प्रतिक्षण
मानव मन का गहन अध्ययन
करते यदि तुम,—
तो किस कारण?
क्या चुन चुन
नव यौवन उर के रस मरन्द कण
विधि नूतन
सौन्दर्य-सृष्टि गढ़ने को उन्मन?
मन्द मुसकुराते तुम!—

हिल अनुभूति-वृद्ध शिर
इंगित करता हो—
कुछ भी तो अभी नहीं स्थिर!

हाय, देखता मैं विषण्ण मन,
गोपन बातों में अब वह
न रहा आकर्षण!!
कहीं खो गया
मुग्ध क्षणों का भी सम्मोहन!

दैव, मर गयी पद-नत प्रेमा,—
आँख उठा कर
देख न पाती वह जन का मुख—
बन्धन दुष्कर!

भाव पंगु मन,
काट दिये किसने उसके पर?
अब न मुक्त उड़ सकता उर
छू स्वर्ग दिगन्तर!!

क्यों न प्रेम का रश्मि-स्पर्श
नव प्रणयी जन को
काल, उठा पाया
रस उर्वर आकाशों में?
जहाँ उच्च वायुएँ
प्रजागर रखतीं मन को?

क्यो न भावना-स्वर्गों की
सुषमा मे वेष्टित
इन्द्र धनुष प्रभ
स्वप्न-नीड-जग
करने निर्मित
नहीं दिखा उन्मेष कहीं
तृण मृद् वासों में,
आशान्वित करता जो
भू-तम दंशित जन को!

स्वप्न सम्पदा,
मुग्ध भाव ऐश्वर्य प्रहर्षित,
नव रस संवेदना,
सृजन प्रेरणा अपरिमित
किसका पा आघात
हो उठी छिन्न-भिन्न, खण्डित,
भू-लुण्ठित!

ग्रह, साम्प्रत विकास क्रम सीमा !
आँख मिचौनी खेल
दिव्य अन्तर-प्रकाश से
आँख मूँद लीं उसकी
रज-अँगुलियों ने धर,
झोंक देह की धूलि दृष्टि में
भू पर स्वर्ग-सृजन करने की
क्षमता ली हर !!

दृष्टि अन्ध, वह बन्दी अब
तन की कारा में,
लक्ष्य भ्रष्ट हो
बहता जग की
राग द्वेष पंकिल धारा में !

देह-मोह ने, काम द्रोह ने
निर्मित किया गगन-पंखी हित
स्वर्णिम पिंजर,
सदाचार की, नीति-भीति की
त्वच-तृण तीली
सँजो मनोहर !

प्राण अनुर्वर,
बाहर लोक लाज से मर-मर
भू विषाद के दाने चुगता
वह रस-कातर !

शासक से बन शासित, श्री-हत,
छाया-सा कम्पित वह पद-नत,
मुक्त तत्व से बद्ध वस्तु बन
लघु संसार जोड़ने में रत !

उच्च सत्य आरोहों से गिर
अवगुण्ठित मुख, लज्जा-नत सिर,
जीवन का करता कृतघ्न श्रम
बुन अपने बाहर-भीतर भ्रम—
भूल जगत्-जीवन-विकास-क्रम !

ओ चिर अन्तर्मुक्त,
कहाँ तक बँधे रहोगे
जड़ बन्धन में ?
वे स्वर्णिम ही सही गठन में !

क्या विद्रोह न शक्ति तुम्हारी ?
जिस पर ईश्वर भी बलिहारी !—
तोड़ो मोह शृंखला भारी

उठो, जगो, चित् शक्ति दुधारी ! —
विजय तुम्हारी !

प्रेम भले बन गया आज हो
मोह द्रोह तम, काम क्लेश भ्रम,
राग द्वेष, भय संशय,—

देखो,
नयी उषाएँ लातीं
नव जीवन अरुणोदय !

निज अजेय पंखों से फिर
स्वर्गिक उड़ान भर
रस क्षितिजों का
भाव विभव नव
उद्घाटित कर—

बरसाओ नर-नारी उर में
स्वर्गिक स्वप्नों का सम्मोहन
उपकृत करो धरा-रज प्रांगण,—

प्रीति मुक्त हो विचरे भू पर
सृजन स्वप्न रत हो जन अन्तर,—
देह न हो जड़ बन्धन !

बयालीस

माता-पिता न आज्ञा देते ?
मन ही मन भय-संशय सेते ?

कहते "तुम मृदु कली,
जगत् कटु काँटों का मग,
सोच समझकर
असि पथ पर
रखना होता पग !

"केन्द्र व्यक्ति ही,
विश्व भले हो
सत्य की परिधि,
अणु में ही ब्रह्माण्ड
देखना सम्भव,—
जो विधि !

"परम्परा की
स्वर्ण शृंखला से
जन शासित,

सत्य नहीं सब
जो कि आधुनिक
होता भासित !
"प्रेम ?
मूल्य देना होता,
उसको सामाजिक,
मर्यादा तट
लाँघे क्षण-भावुकता—
तो धिक् !"

तुम मुझसे पूछती ?—
रिक्त यह चर्वित चर्वण,
भाव-मुक्ति ही मुक्ति,
शेष रज-तन-तम बन्धन !

पिंजर बद्ध रहें स्त्री नर ?
यह भी क्या जीवन ?
पिंजर भी तन के तृण का !—
बन्दी आत्मा-मन !!

परम्परा ?
यह उसका
मध्य युगी रूपान्तर,
अतिक्रम कर
सीमा अतीत की
बढता नित नर !
मूल्य चेतना का करती
स्थितियाँ निर्धारित,
मानव का जीवन मन
जिनसे होता शासित !

भू जीवन स्थितियों का
करना नया संगठन,—
नया मूल्य-केन्द्रिक हो
सामाजिक जन-जीवन !

नयी लोक मर्यादा
इससे होगी विकसित,
देह-मूल्य में नहीं रहेगी
प्रेमा सीमित !

काम द्वेष ?
यह निम्न योनि की
पशु प्रवृत्ति भर,

इससे दग्ध रहेंगे
रस-प्रबुद्ध नारी नर
जन्म प्रेम ने अभी
लिया ही कहाँ धरा पर,
उसके हित
तप त्याग अपेक्षित,—
वह भू-ईश्वर !

घृणा द्वेष लांछन
उसके हित
सित स्वर्गिक वर,
तुच्छ देह मन धूलि
प्रेम पर करो निछावर !

मन्दिर हो तन
प्रेम दीप्त जो हो अभ्यन्तर,
स्वर्ग धरा पर विचरे,
सार्थक जीवन का घर !

निकलो कूप तमस से
जीवन प्रभु-प्रकाश-वर,
खुला स्वर्ग शिखरों से पर
आत्मा का अम्बर !

देह भीति खो,
मनुज प्रीति में बँध नारी-नर
श्री शोभा मंगल का
सौध उठा जन-भू पर—

बरसायेंगे भावों का
ऐश्वर्य अनश्वर,
हटा देह-तम-पटल
हृदय के द्वार खोलकर !

कूप बनेगा
सित प्रतीति रस विस्तृत-
सागर,—
ग्रन्थि-मुक्त,
सहृदय होंगे,
स्त्री पुरुष परस्पर !

तैंतालीस

आओ, आओ,
मृदु सुख मुकुलों-से मुसकाओ !
नव जीवन शिशुओ,

जन-भू रज
पद चिह्नित कर जाओ!

स्वप्नों के-से चरण चिह्न स्मित
भू उर शूल करेंगे कुसुमित,
धरती की
जड़ता को गति दे
देश काल में छाओ!

आओ, आओ,
नया हास बरसाओ!
निश्छल स्मिति का
स्वर्ग प्रकाश लुटाओ!

नव अधरों से रंग-किसलयित
जन प्रांगण पतझर हो मुकुलित,
स्वर्ण अंकुरित हो नव तन मन,—
धरा विषाद मिटाओ!

आओ, आओ,
कोकिल चातक के सँग गाओ!

आत्म नील
स्मित निर्मल चितवन,
कैसा लगता
प्रिय जग प्रतिक्षण?

लौट रही मेरी शैशव स्मृति—
था अग-जग का सद्यः परिचय
उर अवाक् करता था विस्मय!

तितली, जुगनू,
फूल, चाँद, उडु
मन में क्या कुछ भरते आशय!

चिड़ियों के स्वर, रंगों के पर—
सब कुछ कैसा लगता सुन्दर!
कितना सम्मोहन था भीतर,
कितना आकर्षण था बाहर!

बादल, इन्द्रधनुष, गिरि निर्झर,
इच्छाओं के मुक्त दिगन्तर—
कौन वस्तु थी वह दृग् गोचर
जो तत्क्षण न हृदय लेती हर!

आओ, आओ,
वही दृष्टि फिर लौटा लाओ!
जग को मन से नया बनाओ!

नहीं तुम्हारे योग्य अभी जग,—
बच्चो, क्रम विकास का यह मग !
जीर्ण रूढ़ियों का जड़ पंजर
बन्दी करे न तुम्हें,— दिखा डर !
इससे पहिले ही—रह तत्पर
लोहा लेते रहो निरन्तर !

शिशु-भविष्य के तुम्हीं हो पिता,
तरुण बनोगे, बाल्य क्षण बिता !—
नयी पीढ़ियों को निज यौवन
वृद्ध जगत् को करना अर्पण !—
वत्स, तुम्हारा ही तो शोणित
स्वर्ग-अग्नि-लौ से तप-दीपित !
मरणोन्मुख जग,—प्राण दान दो,
सित पौरुष को प्रथम स्थान दो !

त्याग करो जन मंगल के हित,—
नव भविष्य हो तुमसे उपकृत !
नयी पीढ़ियाँ अब जो आयें
स्वर्ग समान धरा को पायें !
शोभा चले धरा पर जीवित,
अन्तः सुख से हो उर दीपित !
सृजन शान्ति हो जग मे स्थापित,
मनुज प्रेम से जीवन शासित !

आओ, आओ,
जन अभिनन्दन पाओ !
तुम नव जीवन प्रतिनिधि
भू को उच्च उठाओ !

ओ अजेय,
चैतन्य स्फुलिंग,
धरा ही क्या,
तुम स्वर्ग लोक में भी
न समाओ !

चौवालीस

मुक्त प्रकृति के प्रांगण !
बहुत दिनों में मिले
तुम्हारे गौरव दर्शन !
बचपन में हिरना-सा चढ़
इन गिरि शिखरों पर
खेला हूँ,—प्रिय तलहटियों मे
लोट - पोट भर !

कूद उच्च शृंगों से
गाते-फेनिल निर्झर
मुझे बहा ले जाते,—
उर वीणा झंकृत कर !

उतर बादलों से गिरि-भू पर
इन्द्रधनुष स्मित
स्वर्ग धरा को
बाँहों में भरते सतरंजित !

ताली दे-दे कर
गिरि बालाएँ आनन्दित
फहरातीं निज
सुरंग चूनरें—विस्मय पुलकित !

मरकत छायाओं के वन
अहरह भर मर्मर
उद्वेलित रहते,
जलनिधि-से कम्पित थर्-थर्-

चलता कन्धों पर
किशोर कौतुकी समीरण
उछल सिंह सावक-सा
शिखर शिखर पर प्रतिक्षण !

ऊँची ढालों के नीचे
जल-स्रोत अगोचर
रेंगा करते साँपों से
फुफकार निरन्तर !

मन अवाक् रखतीं
चुप्पी साधे चट्टानें
खड़ी सामने निर्भय
चौड़ा सीना ताने !

शृंग लाँघने की
रहती थी भूख डगों को,
पैर पार करते
सर्पों-से जिह्वा मगों को !

देवदारु के हरे शिखर
रहते रोमांचित,
सतत सिसकते
चीडों के सूची वन मन्थित !

रंग पंख भाते
मनाल, डफिया—बहु हिम खग,

मन मे वसता
हिरन शशक–पशु पक्षी प्रिय जग !

ऊषा सन्ध्या से
विचित्र था मन का परिचय,
एक प्रेयसी सी थी,
इतर सखी - सी सहृदय !

एक लाज मे लिपटी
उर करती छवि-तन्मय,
साथ टहलती साँझ
मुझे घर छोड़,—सदाशय !

अमरों के ऐश्वर्य लोक-सा
था निःसंशय—
कौसानी का शुभ्र
स्वर्ग सिरमौर हिमालय !

आत्मा की शोभा गरिमा ही
मूर्त रूप धर
रोमांचित रखती—
अपलक स्वर्गिक विस्मय भर !

नील विहंगम की उडान-सा
नीरव अम्बर
मन को स्वप्निल पंखों की
छाया में लेकर—
मौन हिमालय की सन्निधि में
कर अन्तर्मुख
आत्मा का साक्षात्
कराता, उर कर उन्मुख !

इधर - उधर फिर अम्बर मे,
सागर भूतल में,
नीडो मे में छिपते खग,—
मैं प्रिय गिरि अंचल मे !

रमता मन वाङ्मय, संस्कृति
श्रुति दर्शन मग में—
पर वह तन्मय होता
प्रकृति, तुम्हारे जग में !

इन आरोहों पर बीते
कितने चिन्तन-क्षण,
कितनी गहरी छायाओं के
घिरे धूम-घन !

मूर्तों का ऐश्वर्य जीव जग को भी करता तन्मय, हर्षित,
गिरि शिखरों का नव प्रभात हरता मन सद्यः शोभा प्रहसित !

साँझ मुझे पर, अधिक सुहाती छायी निर्जन गिरि आँगन पर
स्वप्नों में सी डूबी तन्मय शनैः उतरती वह श्री सुन्दर !
स्वर्ण-नील गैरिक छाया में भाव-निमज्जित हो गिरि प्रान्तर
ध्यानावस्थित सा लगता—अपलक, निश्चल, अन्तर्मुख-भास्वर !

रजत-वारि दिन का उडेलकर रक्तिम ताम्र कलश - सा भास्कर
ज्योति-रिक्त अब, ऊब डूब सा - करता पश्चिम सागर तट पर !
प्रदक्षिणा करता पृथ्वी की प्रतिदिन उदय अस्त हो दिनकर,
तथ्य यही, विपरीत सत्य हो—जन मन बाह्य-बोध पर निर्भर !

गिरि ढालों पर ढलती छायाएँ, दिगन्त लम्बी काया बन,
भेड़ों की घण्टी बजती धूमिल तलहटियों से प्रतिक्षण छन !
बहिर्विभवमय अन्तः स्मित ऊषा—सक्रिय तन-मन, जीवन-क्षण,
अन्तर्दृष्टिमयी प्रौढा सन्ध्या, मन करता मौन समर्पण !

शनैः अस्त आदिम-तम में जग, उदित हुआ वह जिससे निश्चित,
ज्योति-छत्र - सा ऊपर अम्बर—अंचल छाया में शिशु निद्रित !
सायं प्रातः, प्राण, तुम्हारे ही श्री स्वर्णिम स्वर्गिक तोरण,
रजत काल करतल पर भव गति स्थिति लय नर्तन की
तुम कारण !

छियालीस

कैसे करूँ
धरा पर तुमको
प्राण - प्रतिष्ठित,
जहाँ प्रीति अभिशाप
काम सुख
बहुमुख स्वीकृत !

सखि, अरूप सुख स्पर्श
भाव-प्रतिमा बन जीवित
नव नव श्री शोभा से
मन को
रखता विस्मित !

अपने ही को छू
तुम हो उठती
रूपायित,
रहस हर्ष से प्राण
गूढ रति-स्मृति से
पुलकित !

स्वर्ग रश्मि हे,
चुना स्वयं ही
तुमने कर्दम प्रांगण,
फूलों के पग
शूलों के मग में
हँस करते विचरण!

अनघ-विद्ध रह
कल्मष द्रोणी
करती तुम नित पावन,
रोमांचित रज
चरण-स्पर्श से
बनती मरकत मणि घन!

प्रेम नाम की
प्रतिक्रिया ही
उपजाती अविदित भय,
सुधा गरल का,
गरल सुधा का
अब पर्याय, न संशय!

तामस मदिरा पी
युग-मन
करने को भू-जीवन क्षय,
दिव्य दृष्टि से
देख रहा जय
काल पुनः बन संजय!

जो कलंक-तम मोचक
उससे होता
जगत् कलंकित,
कैसे करूँ
धरा पर, श्रद्धे,
उर की ज्योति प्रतिष्ठित!

सैंतालीस

चाँदनी-सी देह
बाँहों में समेटे
सोचता मन भाव-कातर—
कौन सूक्ष्म सुगन्ध
करती प्राण तन्मय—
राग-कर से छू निरन्तर!

खुल रहे मन के दृगों में
स्वप्न पंखी
नयी शोभा के दिगन्तर,
धरा से उठ चरण मन के
लौट आते,
पार कर रस-मुक्त अम्बर !

प्राण,
कैसे मूर्त होती
धरा रज में
स्वर्ग सुषमा,
भाव रस प्रतिमा मनोहर !

किस अहंता दंश से
जाने प्रवंचित
भाव कुण्ठित, मोह मूर्छित
मूढ़ स्त्री-नर !

स्वाभिमान भले महत् हो,
वर्तमान विकास स्थिति में
कूप जल मण्डूक वत् ही
आत्म रति संकीर्ण अन्तर !—
प्रीति श्वासा सृष्टि की,—
सित भाव रस अर्पित हृदय ही
पार कर पाते
अनास्था उदधि दुस्तर !

ज्योति को घातक तमिस्र
तमिस्र को ही
मानता जग ज्योति भास्वर !—
मोह रज दुर्गन्ध पर ही
काम दग्ध
दरिद्र नर-नारी निछावर !

चाँदनी-सी
तुम हृदय में हो समाई,
स्वर्ग की सित गन्ध
बहती भाव-जग में
मुक्त झर - झर,

अमिट आस्था मुझे—
शनैः विकास क्रम मे
सूक्ष्म की होगी विजय
मां, स्थूल पर,
तुम मनुज को दोगी अभय,
दे ज्योति प्रीति प्रतीति का वर !

अड़तालीस

कैसे कहूँ ?
कथा गोपन !
सुन व्यथा जगत् को होगी !
जो अमूल्य मणि
उसे तुच्छ
जग के मूल्यों पर लोगी ?

बिना कहे ही
भाव-गन्ध, लो,
फैल गयी अग जग में,
सूक्ष्म सुरभि उड़
समा गयी
भू जीवन की रग-रग में !

तारे नहीं,
तरेर रहे
मुझको सौ-सौ भू-लोचन,
कहीं खोल दूँ
मैं न हृदय में
स्वर्ग-ज्योति वातायन !

और कहीं
सचमुच उचार दूँ
मुँह से ढाई अक्षर,
कोलाहल
मच जाय,—
लजाये अणु-विस्फोट भयंकर !

लोग नहीं
विश्वास करेंगे,—
सत् उठ गया मनों से,
काली घृणा
बरसती भू पर
संशय धूम घनों से !

हीरक नीलम स्रक्
चितकबरा
साँप बन गया भीषण,
मणि अंगार,
अमृत विष,—
कुण्ठित काम-अन्ध जन-भू मन !

मात्र काम
भावार्थ प्रेम का,
प्रहर ह्रास का निश्चय,
मोह निशा
बीतेगी !—
होगी हृदय ज्योति ही की जय !

मध्ययुगी
तम कूप वृत्ति यह,
इसमें मुझे न संशय,
प्रीति रश्मि को
विश्व संचरण बन
हरना जन-भू भय !

हृदय गुणों से
हीन व्यक्ति ही
भू विकास अवरोधक,
प्रीति ज्योति से
रिक्त काम तम
विश्व ह्रास का बोधक !

उद्वेलित हो भले
राग-यमुना का
सागर-संचय,
मन कालिय फण
पुनः नाधना
नव-युग को निःसंशय !

स्वप्न सखी,
हम मनुज हृदय को
प्रेम निवास बनायें,
जीवन दाहक
काम अग्नि से
सृजन मुक्ति जन पायें !

उनचास

आज खुल गये हृदय द्वार,
सखि, उमड़ा चित् ऐश्वर्य ज्वार !
एक अनिर्वचनीय
स्वप्न सौन्दर्य भुवन
हो उठा स्फटिक-क्षण मे साकार !

बदल गया हो जग का आनन,
हिम आरोहों पर फहराते
फालसई स्वर्णाभा केतन,
भू के धूलि-कणों में अँगड़ा
उगते माणिक-अंकुर चेतन !

गूंज उठी हों
स्मित मरकत घाटियाँ
हँसे नीरस जीवन-क्षण !
रुद्ध खुल पड़े हृदय-द्वार
हर उर का मोहित भार !

प्राणों की शोभा का
चम्पक-गौर वक्ष जो
मेरी दृष्टि
लुभाये रहता बरबस,
उस पर से
अब रूप-मोह का
सरक गया
सहसा अंचल खस,—

सूक्ष्म अनावृत सुषमा का
नव अन्तरिक्ष अब
उर की आँखों में उद्घाटित,
छिन्न-भिन्न
प्रेरणा समीरण से
जाने कब
मनोवाष्प सब हुए पराजित !

शुभ्र चेतना का मुक्ता-घट
झुक उडेलता हीरक-आभा,
प्राणों की घाटी में उतरी
भाव लाज मे लिपटी द्वाभा !—
खुलता आत्मा का प्रसार !

वधू, प्रेम की तन्मयते,
आनन्द तड़ित् चुम्बक तुम गोपन,
अमित तुम्हारा सित आकर्षण
खींच आत्म-पर बोध से परे
जिस अशोक
चेतना लोक में ले जाता मन—
मति न अघाती
पी उसके
चित्-रस संवेदन !

इसी बोध के
नव आस्थे,
ला प्रीति-स्पर्श क्षण
धरा पीठ पर
करो अवतरण !—
उपकृत हो संसार !

पचास

कैसे चित् शोभा
छायांकित करूँ
लोक दर्पण में ?—
श्री सुषमा की
तन्मय प्रतिमा
जन-भू जीवन मन में !

बने उरोज शिखर ही
अब युग-बोध के शिखर,
युग नितम्ब गोलार्ध,
योनि-आँगन ही
जीवन-अजिर—
लोक-मन दुस्तर !

बिखर गयी गत मनुज हृदय की
दैवी सम्पद् भास्वर,
नया हृदय हो रहा उदय,
नव प्रीति-स्वप्न स्पन्दन भर !

निखर रही दृग् सम्मुख तुम
सौन्दर्य शिखा - सी निःस्वर,
काम-शलभ छवि-दग्ध,
प्रीति लौ से दीपित अब अन्तर !

खुलते अक्षय सूक्ष्म चेतना भुवन
चकित अन्तर में,
देह-बोध-क्षण लीन
प्रीति रति के अकूल सागर में !

लोट रहा आनन्द स्वर्ण
सित श्री शोभा चरणों पर,
जी उठती भू-रज पद छूकर
हँस सुमनों में सुन्दर !
कैसे दिखे मनोहर [illegible]
शब्दों के दर्पण में ?—
भाव-ग्रहण के हित
[illegible] अनुभूति
[illegible] मन में !

इक्यावन

किसने कहा कलंकित
इन्द्रिय जीवन प्रांगण ?—
देह चेतना-पावक- ही की
जीवित सित कण !
स्वर्ग बिम्ब ही से उपजा
भू जीवन निश्चय,
रेणु-पात्र में भरा
वही पीयूष असंशय !

अब भी भू पर मँडराती
दिव सुषमा छाया,
स्वप्न-पंख उड़ती अज्ञात
मनोमय काया !
गन्ध प्रीति-सुख की
साँसों में बसती अक्षय,
आत्मा की सित सौरभ,—
अन्तर स्मृति-सुख तन्मय !

अब भी दे
मन्दार-लता - बाँहें आलिंगन
भाव यौवना
अप्सरियों-सी हरती तन-मन !
स्वर्गंगा-लहरों पर उठ गिर
स्वर्ण कलश स्मित
प्राण चेतना सरिता - जलकर
राग उच्छ्वसित—

राज मरालों-से
उड़ान भरते मानस में,
डुबा कल्पना को
अनिन्द्य श्री सुषमा रस में !

देव दनुज पशु
हुए मनुज मे पूर्ण समन्वित,
मानव इन्द्रिय-जीवन प्रिय,
संग ही इन्द्रियजित् !

स्वर्ग लते, कहता यह कौन
नहीं तुम भू पर ?
उतर प्रेरणा पंखों पर
पुलकित कर अन्तर
रज तन को छू करती तुम
रस-चेतन, पावन,

आहित कर चेतना गगन में
जड़ को तत्क्षण !

काम नहीं रज तन गुण—
स्वर्ग सृष्टि का कारण,
तुम उसको निज स्वर्ण योनि में
करती धारण !

सृजन-स्पर्श से जग उसके
जड़ बनते चेतन,
वह आत्मा का पावक
पावन जिससे मृद् तन !

भाव युवति हे,
तुम आत्मा की रस प्रकाश,
ह्लादिनी-तड़ित् घन,
पावक शक्ति,—निखरता जिसमें
तप मन कांचन !

जड़ चेतन से परे,
प्रेम-परिणीते,—शाश्वत
श्री सुषमा मंगलमयि,—
उर पद-पद्मों पर रत !

बावन

क्षुधा काम को
मानवीय गौरव दो भू पर,
रज कर्दम में,
कृमि - से डूबे रहें न स्त्री-नर !

ईश्वरीय संचरण प्रेम का
हो दिग् विस्तृत,
क्षुधा काम की पीठ
धरा हो रस मर्यादित !

कवि - उर मानव प्रीति स्वाति का
सित रस चातक,
लोक भावना की
विकास पद्धति का स्नातक !

हृत् प्रतीक स्त्री,
मनुज हृदय का वह आराधक !
आत्मा मन ही नहीं,
धरा जीवन का साधक !

भाव प्रिमाएँ कवि की
सब जन - भू की नारी,
कवि मन जीवन - शोभा-
मंगल का अधिकारी!

प्रेमा की सित रश्मि
संयमित करे लोक - मन,
लघु कुटुम्ब से महत्
मनुज जग का आकर्षण!

हँसते फूल, चहकते खग,
अलि भरते गुंजन,
सृजन काम, रस - तन्मय हो
स्त्री - नर उर - स्पन्दन!

स्वप्नों के शोणित से
मनः शिरा हों प्रेरित,
शोभा हो स्त्री, पुरुष प्रेम,
रज रोम प्रहर्षित!

भू पर विचरे
मानव - उर में बन्दी ईश्वर,
मुक्त प्रेम के पग धर
जन मन को संस्कृत कर!

क्षुधा काम भी रहें
कुटुम्बों में लघु सीमित,
स्वर्ग प्रीति से
मानवता का मुख हो दीपित!

भू जीवन हो
प्रीति चन्द्र चुम्बित
रस - सागर,
उन्नत शोभा ज्वार मथित,
अन्तर्मुख भास्वर!

मनुज - हृदय ही हो
मानव का भाव दीप्त घर,
अन्तर्वैभव में समृद्ध,
बहिरन्तर सुन्दर!

वधू, तुम्हें रचना भू - गृह
तन मन कर अर्पित,
भू अघ में सन कर ही
होगी तुम अकलंकित!

सित पवित्रता वह्नि
हृदय की ज्योति ग्रान्तरिक,
धिक् उनको,
जो उसको
त्वक् सीमित रखते,—धिक् !

तिरपन

तुम्हें पंक से उठा, प्रिये,
मन हृदय - स्वर्ग में
करता स्थापित !
कौन रश्मि
जाने उर को छू
दिव्य रूप करती उद्‌घाटित !

स्वार्थ - क्रूर स्वर्णिम जग पिंजर
बन्दी तुम, जीवन मन जर्जर,
पग पग पर
शंकित निज प्रति उर,
रूढ़ि रीति तम से
चिर त्रासित !
सरल धान की सी बाली तुम
स्वयमपि श्री शोभाशाली तुम,
निठुर क्षुधातुर वन्य धरा पर
भाव लता
भव झंझा ताड़ित !
पशु बल का भू पर संघर्षण,
संस्कृत हो नर—दूर अभी क्षण,
अन्धकार चलता धरती पर
जग जीवन
लगता अभिशापित !
देख रहा मैं, भू - निश्चेतन
भरता जो फूत्कार, उठा फन,
सुन वंशी ध्वनि अन्तरिक्ष में
सृजन नृत्य रत,
प्रणत, पराजित !
पौ फटने का पूर्व प्रहर यह
गहराता अन्तर - तम रह रह,
हृदय क्षितिज में उदित हो रही
तुम ऊषा सी
अप्रत्याशित !

काम दग्ध न रहेगा अन्तर
स्वर्ग प्रीति विचरेगी भू पर,
ईश्वर हो रस - मूर्ति सृष्टि में—
यह विकास क्रम में
निर्धारित !

तुम्हीं सूक्ष्म आत्मा जीवन की,
हृदय ज्योति श्रद्धा नत मन की,
भाव मुक्ति तुम,
भू पर जीवन मंगल स्वर्ग
करो रूपायित !

चौवन

तुम ईश्वर को भी
अतिक्रम कर आती,
मनुज सत्य बन
श्री शोभा मंगल बरसाती !

जग जननी तुम प्राण सखी बन
सँजो रही जन का घर आँगन,
अनघ विद्ध सित भाव - देह धर
भू रज को अपनाती !

नव जीवन की दे अभिलाषा
बदल दुःख - सुख की परिभाषा,
देह प्रीति पर
भाव प्रीति की
विजय ध्वजा फहराती !

दीपित कर रज अन्धकार क्षण
खोल हृदय मे रस वातायन,
राग रुद्ध
अन्तः क्षितिजों पर
नव प्रभात तुम लाती !

छिड़ा देह - मन में संघर्षण
भाव जगत में गहन राग-व्रण,
स्वर्ग प्रीति में
तन मन आत्मा के
तुम भेद डुबाती !

मृद् तन में सीमित न रहे मन,
नया मूल्य - केन्द्रिक हो जीवन
नर नारी को

भाव मुखरित में
बँधना तुम सिखलाती!

प्रीति गन्ध से वंचित अन्तर
राग द्वेष का जड़ खँडहर भर,
काम पंकमय
धरा नरक पर
सित रस स्वर्ग बसाती!

राग युद्ध छिड़ने को भू पर
भय संशय से अन्तर थर् थर्,
स्वर्ग रक्त से स्पन्दित
उर की
सूक्ष्म शिराएँ गातीं!

पचपन

सृजन व्यथा
जगती रहती!
तुम्हीं हृदय बन
विश्व वेदना दंशन
प्रतिक्षण सहती!
मनुज हृदय अवरुद्ध,
युगों से संघर्षण रत,
व्यक्त कर सके वह
आत्मा का स्वर्णिम अभिमत!
अन्तर्ज्वाला
भाव प्रवण कवि का उर दहती!

कैसे हो भू जीवन कुसुमित
विश्व सभ्यता संस्कृत विकसित,
जब शोभा मंगल प्रहर्ष का स्रोत
हृदय ही हो निरुद्ध—
चैतन्य ज्योति रस वंचित!—
कवि की रस-सित प्रज्ञा कहती!

ओ अदम्य, अविजेय शक्ति,
तुम भूमि-कम्पवत्
भाव जगत् कर मन्थित,
जीवन में होगी अभिव्यंजित,
भू विरोध कर प्रशमित!
गुह्य, प्रचण्ड, अबाध वेग से
तुम अन्तर में बहती!

भू जीवन प्रतिनिधि कवि - अन्तर,
तुम हृत् तन्त्री रस झंकृत कर
रचती नव चैतन्य - स्वर्ग
ढल स्वर संगति में महती !

देख रहा कल्पना दृष्टि से
अन्तर रस चैतन्य वृष्टि से
मनुज अहंता रचित सृष्टि की
रूढ़ि - ग्रन्थ बाधाएँ ढहती !

तुम विनाश के भीतर सर्जन
करती, भर रस - चेतन गर्जन,
जग के उलझे ताने बाने
फिर निज कर में गहती !

छप्पन

तुम इतनी हो निकट हृदय के
मूल तुम्हें जाता मन,
प्राण, इसी से राग द्वेष का
जीवन बनता प्रांगण !

चिद् दर्पण - सी तुम चिर उज्ज्वल
जिसमें अपना ही मुख
देख मनुज,
सहता भव सुख - दुख,—
प्रबल आत्म सम्मोहन !

श्लक्ष्ण सूक्ष्मता ही में अपनी
तुम खोयी-सी रहती,
व्याप्त चतुर्दिक्—
मात्र तुम्हीं सब,
जिसको मति जग कहती !

ओ अनाम सौरभ,
उर अनुभव करता
मौन उपस्थिति,
तुम्हें बाँध सकता न,
स्वयं बँध जाता,
परवश उर - स्थिति !

रति, अरूप सुषमा गरिमा से
भर जाता नत अन्तर—
गोचर शोभा से जिसका
संस्पर्श - प्रहर्ष गहनतर !

तुम्हीं हृदय स्पन्दन बन गाती
प्रति रस शोणित कण में,
सृजन चेतना बन
स्वप्नों का रूप संजोती मन में!

भावों की जिस स्वर्ण-श्रेणि पर
करता उर आरोहण
वे पग होते, प्राण, तुम्हारे,
रहस-श्रेणि भी गोपन!

तुम होतीं,
ब्रह्माण्ड बोध
हो उठता करामलकवत्,
तुम्हीं सत्य हो,
रूप-मुकुर भी,
वस्तु बिम्ब भी शत शत!

रमे,
निकट भी दूर,
दूर भी निकट,
अगोचर प्रतिक्षण,
गोचर प्रतिकण में तुम—
निश्चय अवचनीय,
सच्चिद् घन!

सत्तावन

ज्ञात मुझे
विद्वेष सिन्धु क्यों
जन-भू मानस में उद्वेलित!—
युग मन के
चैतन्य शिखर पर
कान्ति ज्योति तुम हुई अवतरित!

आन्दोलित भव ह्रास निशा तम
छाया उर में भय, संशय, भ्रम,
यह निश्चय नव जीवन उपक्रम—
अघटित होता घटित—
न जल्पित!

जग का जड़ अतीत मरणोन्मुख,
देख रहा कवि-उर अन्तर्मुख,—
राग द्वेष, आशा भय, सुख-दुख
प्रगति चिह्न,—
भू पथ पर अंकित!

पथराया गत जन-भू का मन
जिसके मृत प्रतीक द्वेषी जन,—
करता नव चैतन्य संक्रमण
एक वृत्त
संस्कृति का प्रवसित!

जिन्हें मिला, महिमे, प्रकाश-वर,
सृजन-स्वप्न-रत उनका अन्तर,—
सह विद्वेष घृणा तम के शर
जीवन मंगल प्रति
वे अर्पित!

काँटों ही का मुकुट पहन कर
स्वर्ग दूत आते जन-भू पर,
सिन्धु विश्व-संघर्षण का तर
भू जीवन को
करते उपकृत!

अब प्रकाश-तम-प्रतिनिधि भू-जन
युद्ध-क्षेत्र युग-मन का प्रांगण,
विकसित होता विश्व संचरण
विजय ज्योति की
तम पर निश्चित!

अट्ठावन

युग-नर के सम्मुख दारुण रण!
राग चेतना से रस प्रेरित
उद्वेलित जन भू उपचेतन!
उतर रही रस ज्योति धरा पर
नव स्वप्नों से उर्वर मन्तर,
मज्जित करता भू जीवन तट
नव श्री सुषमा का सित प्लावन!

वमन कर रहा भू-निश्चेतन
कटु कुण्ठा कर्दम तम प्रतिक्षण,
भय संशय से मर्दित भू-मन
क्रुद्ध उगलता विष पावक कण!

हृदय प्रकाश उधर रस भास्वर,
इधर देह रज नम का सागर,
काम-भीति में भाव-प्रीति में
छिड़ता अब भीषण संघर्षण!

नहीं पूर्णता प्राज्ञ कल्पना,
स्वर्ग स्वप्न भी रिक्त जल्पना,

प्रीति रश्मि को भाव-मूर्त हो
जन भू पथ पर करना विचरण !
कभी कूप तम में भय कुण्ठित
हृदय ज्योति रह सकती गुण्ठित ?
श्री शोभा सुख स्वर्ग बनेगा
निश्चय मृण्मय जन भू प्रांगण !
हिम गिरि ढालों-से सित निःस्वर
स्फाटिक भावों के चिद् अम्बर
जगते—इन्द्रधनुष स्मृति रंजित,
स्वप्न-मुग्ध कर मन के लोचन !
सूर्य मुखी ऊषाएँ हँसकर
भाव दीप्त करती उर के स्तर,
रसोन्मेष मंगल प्रहर्ष का
खुलता जीवन में वातायन !

उनसठ

अन्धकार का मुख पहचानें !
यह अनन्त-मुख शेष नाग
जो धरा स्वर्ग उर में फन ताने !
ज्ञात गूढ़ इसका आकर्षण
गढ़ता गोपन रस के बन्धन,
ढँकता चित् प्रकाश का आनन
अगणित इसके ठौर-ठिकाने !
निश्चेतन की गुह्य नीव पर
जीवन सौध खड़ा दिक् सुन्दर,
सिर पर स्वर्ण कलश रवि भास्वर
एक अभिन्न प्रभा तम जानें !
ज्योति-योनि तम, मुझे न संशय,
एक ब्रह्म दिन होने को लय,
हँसता नव जीवन अरुणोदय
लगी गुहा धीरे मुसकाने !
तम सोयी आभा निःसंशय
इसे जगाने का ले निर्णय—
सृजन कला का पायें परिचय
खोल सृष्टि के ताने-बाने !
ईर्ष्या, क्रोध कलह, मद मत्सर
अन्धकार के अधोमुखी स्तर—

जीवन मूल्यों का रत्नाकर
वह विकास को देता माने !

खोलो हे, तन-मन के बन्धन,
जग का परिचय पाने नूतन,
तुम प्रकाश-मुख ही का दर्पण
बिम्बित जिसमें विश्व अजाने !

भाव-प्रीति उपजाती, मा, भय,
तुम्हें समर्पित विजय पराजय,
निज प्रकाश में करो तमस लय
रस-भू पर अरुणोदय लाने !

साठ

मृत अतीत से
क्रान्त-दृष्टि मन,
तुम विद्रोह करो क्षण प्रतिक्षण !

गत जीवन का शव मत ढो तुम,
दया द्रवित अन्तर मत रो तुम,
क्या आशा उनसे
पथराये
जड़ अतीत के प्रतिनिधि जो जन !

आत्म सिद्धि हित प्रतिक्षण प्रेरित
नव संवेदन से उर वंचित,
हिम चट्टानों - से तिरते वे
अतल स्वार्थ मे डूबे गोपन !

अन्धकार के अन्तर निर्मम
वे विकीर्ण करते संशय भ्रम,
व्योम लता-से
छाये बरबस,
चूस प्राण मन रस संजीवन !

निम्न शक्तियो से संचालित
करते नित सत् ध्येय प्रताडित,
सावधान हे,
मनुज रूप मे
प्रेत धरा पर करते विचरण !

आओ, नव आस्था प्रति अर्पित
मनुज हृदय को करें संगठित,
ज्योति प्रहार

करें जड़ तम पर
भूमिकम्प फिर दौड़े भीषण !
नष्ट भ्रष्ट हो विकृत पुरातन,
जागे फिर निद्रित उपचेतन,
तम पर हो
विजयी प्रकाश - कण,
यह भावी मानवता का रण !
भाव क्रान्ति ही नव विकास पथ,
भरा सृजन से युग विनाश रथ,
ठुकराओ
तम के पर्वत को,
धरा हृदय में हो प्रकाश-व्रण !
मृत जन से सम्बन्ध न सम्भव
विचरो प्रीति-सेतु रच अभिनव,
रूपान्तर हो
जीवन मन का—
भव विकास का आया शुभ क्षण !

इकसठ

प्राण,
तुमको ही समर्पित
चेतना, मन, कर्म, वाणी,
भावनाएँ, कामनाएँ भी
हृदय की—
ध्यान के कृश सूत्र में
सित स्नेह गुम्फित
तुम्हें ही
सविनय
समर्पित !
रूप-श्री, सौन्दर्य-प्रतिमाएँ मनोहर
सतत जो करती रहीं
मन को विमोहित,—
नील मृग दृग, चल भृकुटि,
नासा सुघर,
सस्मित कपोल,
अधर प्रबाल,
मराल वक्ष,
पुलक-लता - सी बाँह कोमल—
तुम्हें करता हृदय
अन्तः स्थित
समर्पित !

मात्र प्रतिकृति ये अविकसित—
सार सत्य तुम्ही अनश्वर
सकल श्री शोभा प्रहर्ष
प्रकर्ष की सित—
तरुणि, तन्मय-भाव-गोचर,
तुम्हीं में लय
प्रणत अन्तर
मौन अनुभव-रत निरन्तर
देखता अब—
तुम्हीं हो सर्वस्व मेरी,
तर्क मन्थित बुद्धि
करती व्यर्थ देरी—
निखिल तन मन प्राण
जीवन साध,—एकत्रित
तुम्हें करता समर्पित !
स्पर्श पा चैतन्य का
अस्तित्व-रस-पुलकित
सृजन रत, मुक्त अन्तर !—
खुल रहे श्री-सूक्ष्म
शोभा के दिगन्तर
हृदय को आनन्द में कर
सिन्धु-मज्जित !
रिक्त केंचुल-सा जगत्
लगता असार विरस
तुम्हारे प्रेम से वंचित !
लौटता उर,
मा, तुम्हारी ओर,
जन-भू प्रीति मंगल का
अतन्द्रित स्वप्न
तुमको कर समर्पित !

पतझर

(एक भाव-क्रान्ति)

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९६९]

डॉ० रामविलास शर्मा को
सस्नेह

डॉ० रामविलास शर्मा को
सस्नेह

विज्ञापन

प्रस्तुत संग्रह में मेरी अनेक प्रकार की नवीनतम रचनाएँ संगृहीत हैं। अधिकतर रचनाएँ भाव-प्रधान तथा युग-बोध से प्रेरित हैं, कुछ विचार-प्रधान भी हैं, जिनमें मैंने आज के आत्म-कुण्ठित युग मे लाउड थिंकिंग करना आवश्यक समझा है।

संग्रह का नाम 'पतझर : एक भाव-क्रान्ति' भी युग-संघर्ष ही का द्योतक है। भाव-क्रान्ति मेरी दृष्टि में क्रान्तियों की क्रान्ति है। आज की विषमताओं तथा जाति-वर्गगत विभेदों का उन्मूलन करने के लिए मनुष्य को रोटी के संघर्ष के साथ जन-मन में घर किये विगत युगों के प्रेत-मूल्यों से भी लड़ना है। बाह्य क्रान्ति आन्तर क्रान्ति के बिना अधूरी तथा एकांगी ही रहेगी—ऐसा मेरा आज के विश्व-जीवन तथा मन के यत्किंचित् सम्पर्क में आने के कारण अनुमान है। मेरे विचार यदि तरुण-भावनाओं को अस्थियाँ प्रदान कर सकेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी।

इन मनःस्वप्नों को मैं डॉ० रामविलास शर्मा को समर्पित कर रहा हूँ—अब के प्रयाग में अनेक वर्षों के बाद उनसे मिलकर मुझे जो प्रसन्नता हुई उसकी सुखद स्मृति के रूप में!

राजपाल एण्ड सन्ज़ के स्वामी श्री विश्वनाथजी अब की गर्मियों में कुछ दिनों के लिए रानीखेत वेस्ट व्यू होटल में ठहरे थे, जहाँ इस संग्रह की अनेक कविताएँ लिखी गयी हैं। वही इस संग्रह को प्रकाशित कर रहे हैं, उनके सहयोग के लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

१८। बी ७, के० जी० मार्ग,
इलाहाबाद
११ अगस्त, १९६८

सुमित्रानंदन पंत

पवनपुत्र

पतझर आया,
जन के मन में छाया,
पतझर आया !

एक विश्व हो रहा विलय
नि:संशय,

काल - सर्प झाड़ता
जीर्ण केंचुल अब निर्भय !
पतझर आया,
क्रान्ति - दूत - सा भाया,
पतझर आया !

व्यक्ति ही नही
मेरे भीतर जग भी रहता,
एक समुद्र निरन्तर बहता,—
भाव - तरंगों में मन्थित हो
गरज - गरज कर कहता :
क्या सार्थकता नर जीवन की ?
भव-सागर या लघु जल कण की ?
क्या न डुबा सकता हूँ,
मैं निज कूल—
लाँघ सीमा
असीम बन्धन की ?
क्या सार्थकता जग - जीवन की ?

मैं सहता, उद्वेलन सहता,
भव - सागर से कहता :

तब तो तुम भी नहीं रहोगे
तट - मर्यादा जो न सहोगे,—
बाँधे प्रिया धरित्री तुमको
निज अंचल मे
थामे विधि करतल मे !
भीतर - भीतर ऊब - डूब कर
तुम अन्तर्मुख सदा बहोगे,
लाँघ पुलिन

वित् चन्द्रज्वार में
उड़ असीम की बाँह गहोगे!

सार्थकता है यही तुम्हारी,
लघु जल कण की,
भव-जीवन की!

तुम असीम के अंश,
अंश क्षण - बिन्दु तुम्हारा,
भूमा ही की सार्थकता में
सार्थक अग - जग सारा!...
सृष्टि मुक्ति की कारा!

पतझर आया,
गृह मग वन अकुलाया,—
कौन सँदेशा लाया?

अर्ध सत्य वह!—
शेष सत्य रे नव वसन्त क्रम,—
पूर्ण सत्य के अंश उभय,
मिट गया सिन्धु - भ्रम!

परिवर्तन विकास क्रम साधन,
परिवर्तन होता जिसमें
वह सत्य चिरन्तन!

पतझर आया,
भव - कानन में सहज समाया,—
पवनपुत्र वह, हनुमत्,
सृष्टि-साँस-सा छाया!

चन्द्रकला

चन्द्रकला को उदित देख नीलाभ गगन में
जाने कैसा होने लगता, मेरे मन में!
मुझे चाँद से अधिक चाँद की कला सुहाती
उस शोभा - अंकुर में विधि की कला समाती!

वह न भृकुटि, नख, असि ही,—मन की नाव मनोहर,
प्राणों के मोहित सागर तिर मुझे अनश्वर
शोभा के जग में पहुँचाती,—जहाँ निरन्तर
खुलते दृग सम्मुख अनिन्द्य आनन्द दिगन्तर!

ओ रहस्य - अंगुलि, इंगित पा मौन तुम्हारा
मुझे बुलाता - सा अकूल का नील किनारा!
परा - चेतना - लेखा - सी, नभ उर में अंकित
तुम्हें अमृतमयि, करता तन - मन सहज समर्पित!

सृष्टि कला तुम, स्वप्न तूलि से करती चित्रित
इन्द्रधनुष स्मित सप्त-लोक-श्रेणी सम्मोहित !

झर - झर पड़ते तारा - पद - चिह्नों - से अगणित
सूक्ष्म भाव - संवेदन रस - बोधों में बिम्बित !
खिची शुभ्र अनुराग रेख अम्बर मे भास्वर
तुम अनन्य शोभा मे उपकृत करती अन्तर !
प्रीतिपात्र - सी छलक हृदय भर देतीं निःस्वर,
ओ अनन्त स्मिति, तुम पर तन - मन प्राण निछावर !

नील कुसुम

नील फूल हरता मेरा मन !
वह क्या नयनों का प्रतीक ?—
स्मित दृष्टि गगन में जिसके
दृग खो जाते तत्क्षण
निर्निमेष बन ?

या वह नील प्रदीप ?
नींद को
प्रिय परियों को लाता जो
स्वप्नों से उन्मन ?
जो कुछ भी हो,
नील फूल
हरता मेरा मन !

ना, वह चितवन नहीं,
नील आलोक भी नहीं,—
वह असीम का आकर्षण,
अनन्त आमन्त्रण,
पलक ठगे - से रहते,
पाकर एक झलक भर—
क्षण में सुधि-बुधि खो
तन्मय हो उठता अन्तर !···

जगत् नहीं, मैं नहीं,
फूल भर रहता नि.स्वर !—
निखिल चेतना को संवृत कर !
ना, वह फूल नहीं,
वह फूल नहीं,—
तुम आती मूर्त रूप धर
सिमट फूल में—
उसे निमित्त बनाकर !

मुझे ज्ञात, मा,
मात्र तुम्ही हो,—
कुछ भी रहता नही
देह मन बुद्धि अहं जब
जग भी नहीं,—
तुम्ही तब रहती हो
चिद् भास्वर,
उदय हृदय में,
निर्भर !

प्रिये,
तुम्ही सम्पूर्ण बोध में
रहो निरन्तर,
रूप अगोचर
नील कुसुम बन सुन्दर
तन मन ले हर !

गिरि-विहगिनी

कितने रंगों के पंखों से हो तुम भूषित
ओ गिरि-विहगिनि, रश्मि-ज्वाल शोभा में वेष्टित,
रंग - कुबेर बनाया लगता तुमको विधि ने
सुरधनुओं की रत्न-तूलि से कर तन चित्रित !

वर्ण - चयन मे या तुमने ही कला-दृष्टिमयि,
वर्णों का वैभव अपनाया दीप्त चमत्कृत ?—
यह जो भी हो, ओ निर्जन तरुवन की वासिनि,
तुम मेरे उर को प्रिय छवि से करती मोहित !

कहते, रंग - छटाएँ भावो की प्रतीक भर,
तुम धनाढ्य हो उर की सम्पद् मे भी निश्चय,
नील हरित सित रक्त पीत धूमिल पाटल तन,—
नया कल्पना - लोक दृगों मे खुलता छविमय !

विहगिनि, एकाकी मैं, बैठा तरु - छाया मे,
देख रहा हूँ ग्रीवा - भंगि तुम्हारी सुन्दर,
चपल पंख फड़का तुम, कुदक-फुदक डालो पर,
अस्फुट स्वर भरती, सम्भव, मुझसे मन मे डर !

तुम विश्वास कही कर सकती मेरा, रंगिणि,
समुद उतर आती नीचे मेरी गोदी पर,
मैं कितना पुलकित होता तुमसे बातें कर,
तुम्हें मधुर पुचकार, अंक भर, ले आता घर !

दाने तुम्हे चुगाता, मेवे मीज - मीज कर,
पानी पी आश्वस्त, सहज कन्धे पर सिर धर,

जब तुम सो जाती, मैं तब तक बैठा रहता
मौन प्रतीक्षा में, प्रतिक्षण रक्षा हित तत्पर !

तुम्हें पींजड़े में क्या मैं वन्दिनी बनाता ?
तुम चाहे जब भी उडकर वन में जा सकतीं,—
कूक चहक जब तुम्हें बुलाता स्नेही सहचर
मधुर रंग संगिनियाँ बाट तुम्हारी तकती !

आत्म-लोप का मुक्त गीत गाती तुम तरु से
हर्ष ध्वनित लहरी में बँधता निखिल दिगन्तर,
प्रातः फिर तुम आती, मैं उठ करता स्वागत,
मौन स्नेह का हम करते उपभोग परस्पर !

कभी गोद ही पर बैठी तुम गाने लगती,
शब्दों से भी अधिक अर्थ - गर्भित होते स्वर,
ओ वन - शोभा की प्रतिनिधि, प्रिय रंग - अप्सरे,
बिना कुछ कहे, सहज खोल देते हम अन्तर !

उपचेतन के अवबोधों से परिचालित तुम
मन को करतीं सहज उडानों से नित हर्षित,
रोमिल ज्वाला के पंखो ने चित्रित कर नभ,
अंग - भंगिमा से कर सुरधनु - सेतु विनिर्मित !

तुम मनाल डफिया की वंशज, खग - कुल दीपक,
सूर्य - रश्मियों के रँग अंगो मे रुचि वितरित,—
जो भी हो,—निष्काम प्रेम पशु-पक्षी जग का
मनुज चेतना को अनजाने करता विकसित !

मूक प्रेम, यह, मुखर प्रीति से कही गहनतर,—
होता आदि निगूढ हर्ष का उर को अनुभव,
भाव प्रबोधिनि, कभी बधिक नर हो जब सस्कृत
गोदी मे उड़, तुम उसके सँग खेलो सम्भव !

भाव और वस्तु

चपल कपोत तडित् गति से द्रुत मँडरा सिर पर
मुझे घेरते धूपछाँह के पर फडका कर !
क्या जाने कहते मुझसे अस्पष्ट कण्ठ-स्वर
रोमिल तन की ऊष्म गन्ध नासा-पुट मे भर !

मुझे सदेह उड़ा ले जाते भाव-गगन में—
भाव-बोध की छायाएँ सात बरसा मन मे !
क्षण स्तम्भित, मैं उनसे कहता नव युग प्रेरित—
"भाव नही चाहिए, भाव जग को न अपेक्षित !
अब नव युग निर्माण चल रहा भू-प्रांगण में,
हमें प्राविधिक बोध चाहिए, पशु-बल तन में !

"नव यथार्थ का ज्ञान, सांख्यिकी, जन भू गणना,
हमें चाहिए नयी योजना, सफल मन्त्रणा!
हमें अन्न गृह वस्त्र जुटाने जनगण के हित,
प्रजा-तन्त्र संग नया यन्त्र-युग करना निर्मित!

"भावों से क्या होगा? वे हैं मनोवाष्प भर,
स्वप्न-नीड़वासी, नभचारी, सुरधनु के पर!"

"जग अभाव से पीड़ित ठीक तुम्हारा अनुभव,"
बोले वन के हारित, कानों में भर कलरव!
"भावों ही को तो भू-जीवन में कर मूर्तित
तुम्हें वस्तु-जग का वैभव करना संवर्धित!

निखिल योजना, यन्त्र तन्त्र विधि भाव मात्र हैं,—
भाव-शक्ति से शून्य लोकगण रिक्त पात्र हैं!
"भू-शिल्पी बनने को भावों का आराधन
तुम्हें चाहिए,—जीवन कृषिफल, भाव अमृत-घन!

"भाव-हीन जन प्राण-हीन, मन से जीवन-मृत,
जड प्रपंच यह, भाव-शक्ति की सृष्टि अपरिमित!
भाव-वस्तु नित शब्द-अर्थ-से युक्त परस्पर—"
पारावत उड़ गये, प्रभाव धरा-मन का हर!

आत्म-चेतन

लोग सोचते,
वृक्ष ऊर्ध्व करते आरोहण,
मुग्ध देखते नभ का आनन,
सूर्यमुखी पा दृष्टि,—
न भू जीवन के प्रति
रखते संवेदन!

नही जानते,
उनके कितने गहरे मूल
धरा जीवन मे,—
बिना गहन पैठे
कोई ऊपर उठ सकता?
जिसकी जड़ ही नही
कहाँ वह वृक्ष पनपता?

सच तो यह है,
ऊर्ध्व दृष्टि ही
गहरे धुसकर
सहज उतर सकती जन-मन में!

मैं जीवन में सोचता रहा,
खोजता रहा, खोजता रहा,

कभी ऊर्ध्वमुख, फिर अन्तर्मुख,
कभी बहिर्जग में भी बहा!

अब लगता,
मैं अपने ही को
खोजता रहा, व्यग्र निरन्तर,
मेरा ही बहुमुख प्रसार था
बाहर, भीतर, ऊपर!

मुझे आत्म-विस्मृत कर
तुमने इंगित किया—
तुम्हें खोजूं मैं
जड़ में, जग में,
वन मे, मग मे,
कटु कुरूप में
सुखद सुभग में!

चिन्तन-रत मन,—
बीता शैशव, बीता यौवन,
रुका नहीं मैं कहीं एक क्षण,—
बाहर भीतर जिया,
किया अविरत अन्वेषण!

सतत बोध-पथ में हो विकसित
होते रहे हृदय में तुम
संचित, संयोजित!—

आया ऐसा भी तब शुभ क्षण
बिला गया सब उर का चिन्तन,
छूट गयी विस्मृति सहसा
हो उठा आत्म-चेतन मन!

मैं ही फैला था अग-जग में,
मैं ही सिमट गया फिर
अन्त: केन्द्रित, स्थित बन!

अब अपनापन ही अपनापन,
मैं, तुम या जग
बिलग नहीं ये हुए एक क्षण,
सदा एक ही रहे प्राणपण!

ऊर्ध्व, गहन, व्यापक—
यह प्रज्ञा का त्रिकोण भर!

केन्द्र बिन्दु तुम
व्यक्त हो रहे
बाहर भीतर
नीचे ऊपर
स्वयं निरन्तर!

गिरि कोयल

विस्मय से अभिभूत, प्राण हो उठते पुलकित,
हर्ष प्ररोहित रोम, तुम्हारी ध्वनि सुन प्रेरित—
ओ गिरि कोकिल, हृदय फाड तुम गाती स्वर भर,
'काफल पाको, काफल पाको'—गुंजा दिगन्तर !

सचमुच, काफल नही बनैले खटमिट्ठे फल,
वे प्रतीक रस-गुह्य—जानता कवि अन्तस्तल !
भला नही तो कैसे शोभा के दिगन्त स्मित
खुल पडते उर में ध्वनि सुन आनन्द उच्छ्वसित !

कैसा गिरि-परिवेश जहाँ तुम रहती छिपकर,
नव वसन्त दिङ्मुकुलित वन ही निभृत रम्य घर ?
गन्ध मरन्द समीर व्यजन करती-सी प्रतिक्षण,—
वन मर्मर के क्षितिज गूढ करते सम्भापण ?

उषा नील ढालों पर लेटी हरती क्या मन ?
नीरव ज्योत्स्ना गाने का देती आमन्त्रण ?
रजत प्रसारों में उड़ती शोभा मे निःस्वर
स्तम्भित-सी सुनती वह क्या मर्मस्पृक् प्रिय स्वर ?

कितने रंगों के प्रिय पंख तुम्हारे सुन्दर ?
धूपछाँह रत्नच्छाया के रोमिल भास्वर !
कभी न देखा तुम्हें सुना-भर उन्मद गायन,
सूक्ष्म सृजन प्रेरणा स्रोत-सी तुम चिर गोपन !

तरुवन के नभ में अरूप पावक की-सी घन
उर ज्वाला से मुकुलित करती मधु के दिशि-क्षण !
प्राणों की सौन्दर्य भूमि मे पली असंशय
तुम जीवन आनन्द छन्द की प्रतिनिधि अक्षय !

यही सहज आनन्द प्रवाहित मुझमें प्रतिपल,
हम स्फुलिंग एक ही चेतना के कवि-कोयल !
इसीलिए करती तुम जन-मन को आकर्षित,
एक मर्म उल्लास विश्व में मौन समाहित !

जग में ऐसी स्थितियाँ भी जो उपजाती भ्रम,
राग द्वेष, रुज्, आधि व्याधि, व्यापक सुख-दुख क्रम !
मैं अपने को पाता उन सबसे सम्बन्धित
सत्य ज्योति, आनन्द प्रीति से जो सत्-प्रेरित !

विश्व-चेतना प्रमुख, व्यक्तिगत अहं गौण नित,
हमें चाहिए द्रष्टा स्रष्टा मू प्रति अर्पित !
सुन उन्मेषित गीत नही मन में अब संशय
भीतर ही आनन्द-स्रोत—जीवन हो तन्मय !

मानव सौन्दर्य

किस नव श्री सुषमा-प्रतिमा का
शिल्पी मुझे बनाने, कविते,
स्वप्न नीड़ तुम रचती गोपन मेरे मन में !
आत्म-मुक्त हो गातीं तुम अपलक उड़ान भर
हंस-पंख फैला असीम सौन्दर्य-गगन में !
कलात्मिका प्रेरणा सृष्टि तुम
अर्धदृश्य कमनीय कल्पना की काया मे,
कँपती भावों की रत्नस्मित शोभा अतुलित
मनोव्योम में लिपटी तनु सुरधनु छाया मे !

अन्तर्मन के अन्तरिक्ष मे मुझे उड़ातीं
चिदाकाश में खोजूँ मैं सौन्दर्य अपरिमित,—
रश्मिज्वाल चैतन्य द्रव्य से
सुन्दरता की भाव-मूर्ति नव करूँ विनिर्मित !

आत्मा के अति अतल अकूल सिन्धु में मज्जित
खोजूँ मैं आनन्द विभव अनिमेष समाधित,
रत्नाकर-सम्पद् की चिन्माणिक ज्वाला से
भाव-बोध को करूँ चेतना-अर्चि प्रदीपित !
विश्व चेतना क्षितिजो मे विचरूँ दिग् विस्तृत,
छायालोकों की वैचित्र्य विभा कर गुम्फित—
बुनूँ तुम्हारे लिए वसन जीवन-शोभा के
अभिनव मूल्यो के तानेबानो से भूषित !
तडित्-प्रकम्पित प्राणो के उन्मद मेघो सँग
भटका करता मैं सुरधनु आकांक्षा पावक से सतरंजित,
भावावेगों से, अनुभूति जनित सत्यों से
शोभा का अन्तर कर सकूँ भाव-लय झंकृत !
आध्यात्मिक स्रोतों का अक्षय अमृत पान कर
उतर अन्त मे आता मैं जन-प्राण धरा पर—
मनुज-हृदय ही था सौन्दर्य मुझे सर्वाधिक
भाता, जो नवनीत सत्य का चिर श्रेयस्कर !
मैं भू-जीवन का कवि, मानव-उर-शोभा से
गढता मूर्ति विराट् विश्व संस्कृति की प्रतिक्षण,—
संयोजित कर भाव-विभव वैचित्र्य तुम्हारा
बिम्बित हो जिसमें अनिन्द्य भावी का आनन !
प्रतिभे, निज जीवन मन के रस अनुभव क्षण मैं
प्रिय चरणों पर करता रहता प्रणत समर्पित,
तुम्ही सतत मेरे तुतले रचना-कौशल में
करती रहती मुझे नवोन्मेषों से प्रेरित !

तारा चिन्तन

कैसा विस्मयकर लगता
पर्वत प्रदेश का प्रिय तारापथ
कहीं न कोई जिसका इति अथ,—
निर्निमेष-दृग् फैला ऊपर
क्षौम-मसृण हो नील चँदोवा
कढ़ा मनोहर !

लिपटी-सी द्राक्षा लतिकाएँ
मधु रस प्लावित
घने नीलिमा के बाड़े मे विस्तृत—
अगणित ताराएँ
मधु छत्ते पर-सी पुंजित
करती दृष्टि चमत्कृत !

अन्धकार के झीने अवगुण्ठन से आवृत
करतीं वे मन को चिन्तन में मज्जित
क्या रहस्य दिग्व्याप्त,
गुह्य घन अन्धकार का
प्रश्न पूछती हों अपने से विस्मित !

ऐसा नहीं कि
तत्त्व-बोध की सूर्य-ज्योति में
उर को कर अवगाहित,
तम की सत्ता को
अभाव की सत्ता बतला,
कह मिथ्या, अज्ञान जनित भ्रम,—
करती पूर्ण उपेक्षित !

क्या उपयोग तमस् का
भू-जीवन रचना में ?
निज सहस्र नेत्रों से झाँक हृदय में
तारा
करतीं मानस-मन्थन—
कौन ज्योति-तम से भी परे,
जगत् का जो
अन्तर-पथ से करती संचालन ?

अपरिमेय उस सृजन-शक्ति के
ज्योति तमस् निःसंशय ही
दायें बायें कर,—
समाधान सम्भव न
एक को सत्य
दूसरे को मिथ्या बतलाकर !

मात्र ज्योति से—
द्रष्टा भर जो—
यह विराट् ब्रह्माण्ड न सम्भव सर्जित,—
उदित ग्रस्त होते रवि-शशि,
विस्तृत तारापथ
चिर असीम स्वर-लय संगति में गुम्फित !

षड् ऋतुएँ करतीं नर्तन,
सौन्दर्य मधुरिमा
प्रीति प्रहर्ष धरा पर करते विचरण,
स्वर्ग-मर्त्य को
इन्द्रधनुष स्मित स्वप्न-सेतु में
सदा बाँधता ही रहता मानव मन !

चित् प्रकाश से भी रे
जड़ तम अति रहस्यमय,
बोध-दृष्टि से
तम ही का अन्वेषण सार्थक निश्चय !

मानवता का सौध
धरा पर कर निर्मित
चरितार्थ हमें यदि करना
जन-भू जीवन !

जाग्रत् तारागण
आवरण उठा तम-मुख से
इंगित करती हों ज्यों सत्य प्रयोजन,—
बोध प्राप्त करने के संग
यदि रहना जगती में सुख से
तो ज्योति तमस् का
भू-जीवन में करें सांग संयोजन !

ज्योति तमस् के,
जड़ चेतन के भेद मिटें
जन भू मंगल हित
बँधें उभय ही
भर प्रगाढ़ आलिंगन !

सत्य परे नित ज्योति-तमस् से
प्रीति पाश मे बाँधे वह जड़ चेतन !

एकांगी भौतिकता
आध्यात्मिकता दोनों,—
ज्योति-कर लिखित
अर्ध रात्रि के नीरव तम में
ध्यान-मौन नभ में
तारापथ दर्शन !

याथातथ्य

ओ ऊपर के सत्य, अधूरे हो तुम निश्चित,
भू का सत्य करेगा तुमको पूरा विकसित!
तुम अरूप, मांसल अंगों में होगे मूर्तित,
रज-स्पर्शों से उर-तन्त्री होगी रस-झंकृत!

कालहीन तुम, एक रूप, ऊपर निष्क्रिय स्थित,
क्षण के पग धर तुम इतिहास बनोगे जीवित!
प्राणों की आकांक्षा तुममें गहराई भर
सुख-दुख वेगों से पुलकित कर देगी अन्तर!

भव चिन्तन की बोध-रश्मि से हो उद्दीपित
पाओगे चित् नभ को तुम श्यामल सुरधनु स्मित!
मनुज हृदय के प्रेम स्रोत में कर अवगाहन
तुम स्वीकार करोगे मर्त्य दुःख-सुख बन्धन!

सीमा के भीतर असीम बनकर निःसंशय
सार्थक होगा देश काल का जीवन सुखमय!
जन-भू के प्रांगण में तुम होकर संस्थापित
भव विकास-क्रम में होगे युग-युग संवर्धित!

नित नव परिचय पा निज उर होगा सुख-विस्मित,
शुद्ध चेतना होगी श्री सुषमा से मण्डित!
तुम एकाकी रहते थे नभ अन्तस्तल में—
भू ने तुमको बाँध लिया निज रज-अंचल में!

आओ, भू पर नीड़ बसाओ, सिमटा निज पर,
ओ असंग, सेओ स्व-डिम्ब, नव-नव स्व-रूप धर!
भाव-बोध पंखों में उड़, पा जग का परिचय,
कवि के सँग, भू-जीवन, रचना में हो तन्मय!

गीत दूत

खग रह-रह तरु वन में गाता!
मुक्त उल्लसित दूत प्रकृति का
मेरे मन प्राणों को भाता!

छिपा गहन गिरि-वन के भीतर
परिचित-से लगते उसके स्वर,—
ऐसा ही तो मेरा अन्तर,—
निभृत फूट पड़ती स्वर लहरी
गोपन हम दोनों मे नाता!

धूपछाँह रहते कानन में
आँधी पानी आते क्षण में,—

दाना चुगने को निर्जन में
खटना पड़ता,—भाव-मत्त खग
उर-प्रहर्ष भू पर बरसाता !

विटप क्रोड़ में नीड़ बसाकर
डिम्बों को सेता सुख-निःस्वर,
चुन चुन कन, शावक मुँह में भर,
शिशु-खग को उकसा
अनन्त उर में उड़ान भरना सिखलाता !

यदि केवल लेना ही जग में,
देना तनिक न जन-भू मग में,
स्वार्थ-समर ही तब पग - पग में,—
अपने को अतिक्रम कर जीना
नर वरेण्य को सदा सुहाता !

यदि न सुकृत ही शेष धरा पर
तब फिर कहाँ जगत् में ईश्वर ?
निज हित में रत सकल चराचर—
औरों के हित भी रहता जो
वही मुक्ति निज-पर से पाता !

जीवन में आते संकट क्षण,
राग द्वेष करते उर में व्रण,
दु:स्मृति से भर आते लोचन,—
पर जब ज्वार हृदय में उठता
सुख - दुख कूल बहा ले जाता !
खग रह-रह तरु-वन में गाता !

कवि कोकिल

जन्मजात कवि तुम निसर्ग प्रिय, अयि गिरि कोयल,
गाती हो स्वच्छन्द—हृदय तन्मय उड़ेलकर,
स्वर-मोहित-सी लगती घाटी, दिशि रोमांचित,
श्रवण उठा सुनते वन-पशु खोहों में निःस्वर !

प्रतिध्वनित होती स्वर-लहरी गिरि शिखरों से,
भू विराट्-वीणा - सी बज उठती स्वर-झंकृत,
झूम-झूम नाचते मुग्ध तरु-लता ताल पर,
चीड़, बाँज, वन देवदारु, सिर हिला अन्तर्द्रित !

सारा वन-प्रान्तर ही हो उठता आह्लादित,
जड़-निद्रा तज, जग उठते विस्मय-हत पर्वत,
नव प्रभात-छवि-स्नात, मर्म-ध्वनि से उन्मेषित
प्रकृति चेतना लगती नव शोभा में जाग्रत् !

विजन क्रोड़ में जन्म, पली तुम, पिक, वन परभृत,
पर अन्तःसंस्कार भला कब होते विस्मृत ?
जाति विविधता संग विशिष्टता भी संरक्षित,
विजय कूक भर प्रथम, उड़ी तुम नभ में विस्तृत !

जिन द्रव्यों से विविध वस्तुएँ वनीं विश्व की
उनसे पृथक्—विशिष्ट द्रव्य की हो तुम निश्चित,
कहीं गहन, उन्नत, व्यापक, ये उर-पावक स्वर—
नहीं भला क्या होता अग-जग गीति-समाधित !

विहग और भी चहका करते गिरि प्रदेश में,—
आभिजात्य जो गरिमा मुग्ध तुम्हारे स्वर में,—
उर-मधुरिमा—नहीं सम्भव अन्यत्र कहीं वह,
झंकृत हो उठती सुर-वीणा-सी अन्तर में !

कोकिल, क्या कवि कर्म ? वहिर्मुखता में खोये
जीवन को अन्तर-स्वर-लय में करना केन्द्रित,
मनुज-हृदय फिर छेड़ सके धुन अन्तःप्रेरित,
जिसमें जग के भेद-भाव हो जायँ निमज्जित !

देख रहा, तरु-जग, वन-मृग, गिरि-श्रृंग, गगन भी
आज एक सर्वात्म-भावना में - से छन्दित,
छूता चेतनता की सूर्य-गहनताओं को
गीत तुम्हारा, सृष्टि सत्य मुख कर उद्घाटित !

इस स्वर्गिक आह्लाद, अमर आलोक-स्पर्श को
नव जन-भू जीवन में होना श्री-संयोजित,
मूर्त मानुपी-सत्य न वह जब तक बन जाये—
भू-रत हृदय नहीं उसको कर सकता स्वीकृत !

ओ कवि कोयल, सृजन चेतना जग-जीवन की
कलात्मिका, अग जग रहस्य-द्रष्टा भी निश्चित,
ज्ञात उसे, सदसत्, आलोक-तमस् को कैसे
सृष्टि-पूर्णता में करना सम्पूर्ण नियोजित !

श्री शोभा आनन्द भावना से प्रेरित हो
शकुनि, गीत-कवि बनना सिद्धि महत् निःसंशय,
पर, जो स्रोत निखिल ऐश्वर्यों की त्रिभुवन में
उसमें रहना चाहूँगा मैं अन्तस्तन्मय !

विश्व विवर्तन

कैसी पद-चापें सुनता मैं अस्फुट, निःस्वर,
कौन न जाने चलता जन-मन की धरती पर !
तारे भी कुछ गोपन-सा करते सम्भापण,
रोमांचित-सा फिरता उन्मद गन्ध समीरण !

भूधर-पग धर चलता दुर्जय विश्व विवर्तन,—
प्राणों के उपचेतन—सागर में उद्वेलन !
स्वप्न-प्ररोहित नव शोभा से जन-भू प्रांगण,
आशाऽऽकांक्षा से अपलक जनगण के लोचन !

मौन प्रतीक्षा में रत आज युवक-युवतीजन—
नव यौवन को देता युग जन-भू का शासन !
उनको ही नव युग जीवन करना संयोजित
निज इच्छाओं के अनुरूप उसे कर निर्मित !

जीर्ण-शीर्ण कर ध्वस्त, भेद गत युग के मज्जित,
नयी एकता करनी मानव जग में स्थापित !
विश्व सभ्यता का मुख करना नव रुचि संस्कृत,
भू-जीवन के प्रति कर तन-मन पूर्ण समर्पित !

भाव-प्रवण मेरा अन्तर करता आवाहन,
आओ हे नव मानव, करो धरा पर विचरण !
कर्म प्रेरणा के अंचल में बाँधो उर्वर
जीवन का आनन्द,—धरा मुख हो दिक्-सुन्दर !

नये रक्त से करो सभ्यता का संचालन,
समतापूर्वक कर सुख-सुविधाओं का वितरण !
नया मूल्य मानव आत्मा को देना निश्चय,
जन-भू युवको, आस्थावान् बनो, दृढ़, निर्भय !

गीत प्रेरणा

मेरा मन गाने को करता, नहीं जानता क्या गायेगा,
कौन भाव अन्तरतम में जग मेरे प्राणों में छायेगा !
पौ फटने पर निभृत क्षितिज ज्यों हो उठता स्वर्णाभा मण्डित,
वैसे ही उर बोध-विद्रवित हो उठता निःस्वर उन्मेषित !

गोपन स्वर-संगति में जाने उर-तन्त्री कैसे बँध जाती,
सरसी में लहरी-सी कँप झंकार स्वतः ही ज्यों उठ आती !
गाना मेरे एकाकी प्राणों के जीवन का मधु-स्पन्दन,
वे अपना प्रच्छन्न प्रहर्ष प्रकट करते गा-गाकर प्रतिक्षण !

मेरी आकांक्षा का पावक गाने ही से होता शीतल,
वह अतृप्त रह मुझे तपाता, अन्तर को रखता रस विह्वल !
भू-संघर्षण भी मन में छन गीतों में होता प्रतिध्वनित,
झंझा के झोंके करते जब हृदय-सिन्धु को निर्मम मन्थित !

कहीं खड़ा चैतन्य अडिग पर्वत-सा, देता मुझे प्रबोधन,
युग विवर्त के मुख से सहसा उठ जाता क्षण-भर को गुण्ठन !
गाने का महत्व मेरे हित जाग्रत् रखता मुझको मन से,
गुह्य सूत्र में बाँध प्राण, कर देता युक्त जगत् जीवन से !

कभी सूत्र बन सूक्ष्म, सूक्ष्मतर अन्तर को कर देता तन्मय,
जग जीवन से परे चेतना कोई उर को छूती निश्चय!
अवचनीय रस-गीत-बोध मेरे मानस को करता प्रेरित,
तब मैं नहीं, और ही कोई होता स्वर्गिक गायक अविदित!

वय: प्राप्त अंगों में फिर से बहने लगता अन्तर्यौवन,
भावी मानव चिद् वैभव का बनता चेतस् तद्गत दर्पण!
सृजन-नृत्य करते प्राणों में श्री शोभा आनन्द चिरन्तन,
अपने को अतिक्रम कर गाता मन नव युग-जीवन के गायन!

भाव शक्ति

मेघों को जोता मैंने धूमिल क्षितिजों पर,
स्वप्न बीज बो, अश्रु वारि से सींचा झर-झर!
इन्द्रधनुष उग आये उनमें जब दिग्-विस्तृत,
कहा जनों से—सेतु रचे मैंने सतरंजित!

चाहो, पार करो इनसे दुस्तर भव सागर,
मुझको पागल समझ, विहँस, मुख फेर चले नर!
मैंने गहरा जोता अबके, पावक बोया,
प्राणों का रस घोल, उन्हें जी खोल भिगोया!

कडक उठे जब शक्ति-मत्त बादल भर गर्जन,
चौंके लोग, बदलता देख दिशा भ्रू आनन!
किया घनों ने निज को जब दिगन्त विज्ञापित
ध्यान जनों का गया—किया नभ ने क्या घोषित!

फिर भी आस्थाहीन हृदय मन रहे सशंकित,
धैर्य धनों का डिगा, गगन से विद्युत् दर्पित
वज्रपात द्रुत हुआ,—धरा डोली, गिरि स्तम्भित!

अब सचेत, लोगों ने सोचा मन में खा भय,
उमड़ घुमड़ने वाले वाष्पों में भी निश्चय
महत् शक्ति असि छिपी,—ध्वस्त कर सकती क्षण में
जब चाहे, तरु वन पर्वत, जन भू को, रण में!

बृहद् भावना भूमि मनुज ने की जब स्वीकृत
बोध-शिखर से टकराये घन, मन में हर्षित!
उठे दमित उपचेतन खोहों से जग प्रतिपल,
छुआ चेतना आरोहों को शान्त समुज्ज्वल—

द्रवित क्रुद्ध-उर, बरसे धरती पर धाराधर
जन-भू को कर शस्यश्यामला, जीवन-उर्वर!
मुक्ता-लडियों से अब जन-उर अम्बर शोभित,
भाव-विभव से जन भू का जीवन सम्पोषित!

बुद्धि मात्र ऋण-पथ दर्शक—भावना शक्ति-जव,
उच्च चेतना ही से भव-रूपान्तर सम्भव!

सोपान

क्या मेरा कर्तव्य समापन ?
नयी पीढ़ियों को कर दूँ
कवि-कर्म समर्पण ?

इसमें मति-भ्रम निश्चय !
मेरा कार्य सदा मेरा ही,
मुझे न इसमें संशय,
नयी पीढ़ियाँ
इसे न कर पायेंगी—
तनिक न विस्मय !

उनके सम्मुख खुला क्षितिज नव करता उन्हें निमन्त्रित,
वे स्वीकार करें युग-आग्रह, हों जन से अभिनन्दित !

जग विकास-क्रम में रे अविरत,—
उस विकास का एक चरण मैं,
एक-चरण वे निश्चित,
अपने ही युग की गतिविधि से
हो सकते हम प्रेरित—
जिसको निज कृति में कर अंकित,
सत्य-रूप ही को करते हम बिम्बित !

व्यक्ति विश्व-जीवन
अनादि से रहे परस्पर निर्भर,
जीवन सत्य अखण्ड,
पूर्ण वह प्रति पग पर,
प्रति क्षण पर !

मैं अपने युग का प्रतिनिधि हूँ जग-जीवन प्रति अर्पित,
काल-भोग्य पीढ़ियाँ मुझे कर सकतीं रंच न खण्डित !

मैं सोपान अनन्त श्रेणि का,
अपने कन्धों पर धर
पार पीढ़ियों को पहुँचाता—
काल-बोध अति दुस्तर !

विज्ञान और कविता

कभी सोचता, इस विराट् वैज्ञानिक युग में
कवि की हृतन्त्री का क्या उपयोग रह गया !
जहाँ आज सिद्धों ही के-से चमत्कार नित
वैज्ञानिक दिखला कर बुद्धि चमत्कृत करते !

आज रेडियो, फ़ोन, दूरदर्शन के अचरज
सब बासी पड़ गये,—गरुड़-से वायुयान भी!
विकसित हो यान्त्रिकी असम्भव को भी सम्भव
कर सकती, अब बदल असम्भव की परिभाषा!

अब विद्युत् मस्तिष्क हो चुके पैदा भू पर
कम्प्यूटर,—सब कार्य कर सकेंगे मनुजों का!
विश्व संवहन के साधन बन वे भविष्य में
भेजेंगे सन्देश, दिशाओं से बातें कर!
दूरभाष का भी संवाद तुरन्त ग्रहण कर
उसे आपको सूचित कर देंगे, आने पर,
और अनेक जटिल कार्यों को कुशल संगणक
क्षण में कर देंगे,—यान्त्रिक-मस्तिष्क मनुज के!

यही नहीं, प्लास्टिक युग भी अब ग़ज़ब ढा रहा!
कुछ दैनिक वस्तुएँ, खिलौने ही प्लास्टिक के
अब न आपका मन मोहेंगे,—बहुत शीघ्र ही
प्लास्टिक के घर भी शोभा देंगे पृथ्वी पर!
बृहत्, नींव से छत तक भवन खड़े प्लास्टिक के
सभी लोक सुख-सुविधाओं की पूर्ति करेंगे,—
शीत ग्रीष्म वर्षा—ऋतु-धर्मों प्रति अनुकूलित!

सिन्धु नील से संचित कर द्रुत तड़ित् शक्ति जब
बदल रूप ही देंगे जीवन का वैज्ञानिक!
चन्द्रलोक मे पहुँच, शक्ति का उत्पादन कर,
वितरित उसे करेंगे जन-भू के मंगल हित!

अब समुद्रजल-तल पर सप्ताहान्त बिताने
आप सहज ही जा सकते, सब खाने-पीने,
लिखने-पढ़ने की सुविधा पा अतल गर्भ में!
अभी जैव-विज्ञान नवीन प्रयोगों से निज
नयी जीव जातियाँ बनाने में भी रत है:
भ्रूणावस्था के अणु को विद्युत्-गर्भित कर
महाशक्तिशाली, मस्तिष्क रहित, दैत्यों को
स्थूल-कर्म सम्पादन के हित वह गढ़ सकता!
वानस्पत्य जगत् में तो प्रतिदिन ही अद्भुत
अभिनव आविष्कार विविध होते रहते हैं!

और शान्ति युग कामी जन-भू रचना के हित
जब प्रयुक्त होगी अणु-शक्ति,—धरा-जीवन का
मुख ही तब पहचान न पायेगा युग मानव!
नये-नये परिवेशों, अभ्यासों में ढलकर
हृदय प्राण मन सभी बदल जायेंगे जन के!
बहिर्विश्व रचना से यन्त्र-सदृश चालित हो
बहिर्भूत मानव का मन सब विगत युगों के

टपक रही गिरि-शिखरों से झर,
लोट रही घाटी में
लिपटी धूप छाँह में निःस्वर !
अनिल-स्पर्श से पुलकित तृण दल,
बहती सीमाहीन
श्लक्ष्ण संगीत स्रोत-सी
अहरह वन-भू मर्मर !
फूलों की ज्वालाएँ
आँखें करती शीतल,
मुकुल-अधर-मधु पीते
गुंजन भर मधुकर दल !
तितली उडतीं,
दूर, कहीं पल्लव-छाया में
रुक-रुक गाती वन-प्रिय कोयल !
देवदारु के ऊर्ध्व शृंग
लगते जिज्ञासा - मन्थित,
नीचे फूलों की घाटी
प्रतिपग दृग करती मोहित !
लेटी नीली छायाएँ
कृश रवि किरणों में गुम्फित,
दुरारोह भातीं ढालें,
निश्चल तरंग-सी स्तम्भित !
स्वर्ण-भाल गिरि सर्वप्रथम
करते ऊषा अभिनन्दन,
साँझ यहीं सोती छिप,
निर्जन में कर सन्ध्यावन्दन !
अपलक तारापथ शशिमुख का
बनता लेखा - दर्पण,
यहीं शैल-कन्धों पर सोया
जगता गन्ध - समीरण !
सद्यःस्फुट सौन्दर्य राशि
सम्मोहन भरती मन में,
कितना विस्मयकर वैचित्र्य
भरा पर्वत-जीवन में !
खग चखते फल,
कुतर रहीं गिलहरियाँ कोंपल,
वन-पशु सब लगते प्रसन्न
परिचित मरकत आँगन में !
स्वाभाविक,
यदि मुझे याद आता
ईश्वर इस क्षण में !

जड़ जग इतना सुन्दर जब
चेतन जग में क्या कारण
रहता अहरह जो
विपण्ण जीवन मन का संघर्षण ?
मनुज प्रकृति का करना फिर
नव विश्लेषण, संश्लेषण,—
ईश्वर का प्रतिनिधि नर,
अभिशापित हो उसका जीवन ?
लगता, अपनी क्षुद्र अहंता ही में
सीमित, केन्द्रित,
छिन्न हो गया विश्व चेतना से
मानव मन निश्चित !

सूख गया आनन्द स्रोत
वन जीवन जिससे प्रेरित,
बहिर्भ्रान्त मानव को फिर
होना अन्तःसंयोजित !

सरिता

बहती जाओ, बहती, फेनिल जीवन - धारा,
बन्धन नहीं, विमुक्ति तुम्हारे लिए किनारा !
तुम गिरि के पाषाण हृदय से फूटी निर्भय,
यह अपने ही में रहस्य सरिते, निःसंशय !

अब तक तुम गिरि के अन्तर ही में थीं संचित,—
गति विहीन, बन्दिनी सही,—पर थीं संरक्षित !
अब स्वतन्त्रता का तुम प्रतिक्षण मूल्य चुकाओ,
उठो, गिरो, गरजो, पर आगे बढ़ती जाओ !

गति - विधि स्वयं सँभालो, घूमो, मुड़ो निरन्तर,
जैसी भूमि मिले, पथ बदलो, मत खो अवसर !
यह कैशोर्य तुम्हारा, उछलो, कूदो, गाओ,
फूलों संग हँस खेलो, कूलों में बिलमाओ !

नव जल भार समेट पीन छवि अंगों में भर
युवती बन तुम भेंटोगी कुंजों को निःस्वर !
धूपछाँह की बीथी में विचरोगी निर्जन,
सम्भव, विस्मय वहाँ प्रतीक्षा - रत हो गोपन !

नहीं जानता कोई विधि को कब क्या स्वीकृत,
उसकी देन अपार घटित हो सकता अघटित !
राजमराल मिथुन जल में तिरने आ जायें,
पंख खोल, चंचल लहरों को गले लगायें !

उनकी प्रिय गति, ग्रीवाभंगी तुमको भाये,
चन्द्रलोक की शोभा उतर धरा पर आये!
शनैः प्रौढ़ तुम समतल पर विचरोगी विस्तृत,
ताराओं की छाँह हार - सी उर में शोभित!

शान्त वेग, गति भी न रहेगी अब ऋजु - कुंचित
उच्च कगार बहेंगे जल मे दुहरे बिम्बित!
सूर्य चन्द्र भी प्यास बुझाने उतरेंगे नित
ज्वाला की जिह्वाएँ जल में डाल प्रलम्बित!

पार लगाओगी तुम कितनी नाव निरन्तर,
सहृदयता का यही धर्म, गिरिबाले दुस्तर!
अभी देखना मत सागर संगम के सपने,
हमें नियति को वश में रखना होता अपने!

बहने ही में भव - गति, संघर्षण ही जीवन,
सिन्धु - शान्ति निर्मम जीवन - गति - इति की दर्पण!

गाओ, बहती जाओ, हँसमुख जीवन - धारा,
गाने ही का हम दोनों को रहे सहारा!

मुक्ति और ऐक्य

व्यक्ति - मुक्ति, सामूहिक - ऐक्य न जब तक
संयोजित होंगे जन - भू - जीवन में—
शान्ति न सम्भव, विश्व विकास दुराशा,
संघर्षण में बीतेंगे जीवन - क्षण!
व्यक्ति - मुक्ति उच्छृंखलता के स्तर पर
अभिव्यक्ति पाती अब,—सामूहिकता
यान्त्रिकता का बन पर्याय, मनुज को
बहिर्भ्रान्त जग के मरु में भटकाती!

हृदय शून्य नर आत्मा से भी वंचित,
यन्त्र मात्र बन रहा जगत् जीवन का;
आत्मा का गुण मुक्ति,—जगत् जीवन हित
सामाजिक एकता परम आवश्यक!
निश्चित, विकसित होगा जब भू - जीवन
आत्म - ऐक्य में बँधे निखिल नारी नर
जीवन - मुक्त विचर पायेंगे भू पर;—
मुक्ति - ऐक्य सम्पृक्त लहर - सागर - से!
जीवन - गुण आत्मा में, आत्मा का गुण
जीवन मे तब परिणत होगा अविकृत!

भाव - शून्य उर वस्तु - जगत् में खोया
घातक नर हित; वस्तु - जगत् - सुख वंचित

मात्र भावना केन्द्रित जन अन्तर भी
पातक जन - भू जीवन के श्रेयस् हित!
भाव - वस्तु में सामंजस्य परस्पर
सतत अपेक्षित : भव विकास - गति - क्रम में
बहिरन्तर सित संयोजन हो स्थापित,—
मनुज प्रेम से प्रेरित हो, प्रभु आश्रित!

आत्म प्रतारण

मैंने सुना घनों को भरते तड़ित् - दम्भ दिग् - गर्जन,
देखा, फेन - श्वसित सहस्र फन सागर का उद्वेलन!
देखे, ऊर्ध्व भयावह आरोहों के दुर्गम भूधर,
गहरी दरियों में सोया घन अन्धकार दृग-दुस्तर!

अति निर्दय वैधव्य चीरता नव मुग्धा उर कातर,
सुत-बिछोह में शोक-पीत जननी को मूर्छित निःस्वर!
क्रोध - अन्ध नर कैसे लेता, निज प्रतिशोध भयंकर,
आत्म - ग्लानि की खर तुषाग्नि में कैसे जलता अन्तर!

देखा मैंने देशप्रेमियों का उत्सर्ग अलौकिक,
रक्त कणों की माणिक ज्वाला करती दीप्त चतुर्दिक्!
देखे मैंने पागल प्रेमी करते प्राण निछावर,
दग्ध-हृदय, उद्‌भ्रान्त चित्त, आँखों में सावन की झर!

भूखों के नंगे कंकाल विचरते निर्मम जग में—
अनाचार अन्याय दिखा भू - जीवन में पग-पग में!
इन सबमें सौन्दर्य मुझे मिल सका कहीं कुछ गोपन,—
यदि कुरूप कुछ लगा—सभ्य मानव का आत्म-प्रतारण!

गुह्य आवरण डाले मन में आत्म - तृप्त फिरता नर,
प्रकृत मृत्यु सुन्दर—पर जीवित आत्म-मृत्यु दारुणतर!

उन्नयन

मन को जो होते रहस्यमय अनुभव
अभिव्यक्त करना क्या सम्भव उनको?
वे भावी मानव जीवन वैभव के
दर्पण,—जिसमें बिम्बित आत्मा का मुख!
समदिग् जीवन बहिर्मुखी सामूहिक:
ऊर्ध्व संचरण आन्तर - गुण का द्योतक:
ऊर्ध्व मनुज गुण को समदिग् जीवन में
अभिव्यक्ति पाना,— व्यापक दिङ् मूर्तित!
कभी प्राण जग, छू अन्त.शिखरों को
हो उठते शत सुरधनु आभा दीपित,

मात्र उसे कल्पना समझ कवि मन की
हृदय नहीं अब अस्वीकृत कर पाता!
तब मैं युग की वास्तवता में मन के
ऊर्ध्व-गमन के कारण खोजा करता,—
निश्चय, मानव-जीवन क्षर भौतिकता
यान्त्रिकता के पाटों से अब मर्दित!

भौतिकता की नींव डाल दिग् विस्तृत
संस्कृति का प्रासाद उठाना जन को
स्वर्ग विचुम्बी!—जहाँ मनुज की आत्मा
निर्भय, मुक्त निवास कर सके सुख से!
ऐसा न हो कि भौतिकता की रज में
मनुज हृदय दबकर पत्थर बन जाये,—
मानवीय भव-सत्य निखिल निःसंशय;
सभी ज्ञान-विज्ञान मनुज श्रेयस् हित
अथक खोज में रत, निष्ठा-आस्था-युत
बहिरन्तर भुवनों में पैठ गहनतर!

दोनों ही लोकों को संयोजित कर
जन सम्भव, भू-लोक रच सकें, जिसमें
शिव से शिवतर, सुन्दर से सुन्दरतर
जग जीवन ऐश्वर्य हो सके कुसुमित!
मनुज, सत्य से महत् सत्य के प्रति नित
बढ़कर, सुख-दुख, जड़-चेतन द्वन्द्वों को
सहज समन्वित कर, विकास-क्रम का पथ
निर्विरोध कर सके—सृजन-सुख में लय!

इसीलिए, सम्भव, मेरा कवि-अन्तर
भावी वैभव-शिखरों से टकराता!

शिवोऽहम्

मैं था अतिथि मित्र के घर तब, और मित्र थे
सुख वैभव सम्पन्न! रात-दिन चहल-पहल
रहती थी घर में: पत्नी से, बच्चों से
भरा-पुरा गृह,—उत्सव होते रहते प्रायः!
वहाँ एक कमरे मे दुबका बैठा रहता
एक किशोर अकेला: ग्यारह बारह की हो
उम्र: देख कर मुझे टहलता आँगन में
वह खिड़की से झुककर प्रणाम करता था प्रतिदिन!
मैंने उससे पूछा, तुम यों बैठ अकेले
कमरे में क्या करते रहते? क्यो न और
बच्चों संग खेला कूदा ...? वह सकुचाकर
बोला, मैं जपता ... शिवोऽहम्!

समझ गया मैं ! उसकी सौतेली माँ थी,
जो क्रोध-भरी नागिन-सी फुफकारा करती थी !
कटा-कटा अनुभव करता वह : और मित्र भी,
पत्नी की मुट्ठी में, ताने कसते रहते !
उसे मूर्ख कह, बात बात में हँसी उड़ाते !
(मैं क्या करता ? दशरथ ने भी स्वयं राम को
वन भेजा जब, कुटिल विमाता के कहने पर !
ये तो साधारण जन थे, इनका अनजाने
क्रूर काम के वश में होना स्वाभाविक था !)
बच्चे भी अवसर पाकर, भाई की पूजा
करते रहते—कभी लात से, घूँसों से भी !
वह हक्का बक्का, तंग कोठरी में चुपके से
छिपकर मन्त्र साधता रहता ! सम्भव, उसके
पण्डित जी परिचित थे उस दयनीय दशा से !
तभी उन्होंने मन्त्र उसे था दिया—शिवोऽहम् !
और बताया था, बेटा, शिव हो तुम ! तुमको
अच्छा बनना है ! तुम मन में दुखी न होना,
अशिव न बनना !

उस किशोर के मन में गुरु के
वचन बैठ थे गये ! और यह अच्छा भी था !
वह कुण्ठाओं से पीड़ित होने के बदले
आत्म-नम्र बन, सबकी आज्ञा पालन करता !
मैं उसको उपहार भेजता रहा बराबर,—
लिखता रहा—तटस्थ रहो सम्प्रति निज स्थिति से !
घर का कलह किसी को नहीं सहायक होता !
तुम भावी जग के प्रतिनिधि हो ! पढ-लिखकर तुम
भू-विकास ध्वज-वाहक होगे ! निज कष्टों से
सीख ग्रहण कर, तुम भू प्रति करुणार्द्र हृदय
होना ! वह दिन दिन प्रगति कर रहा है ! भविष्य में
वह निश्चय, जन-भू-जीवन अभिभावक होगा !

प्रेम

अभी प्यार के योग्य नहीं बन पायी धरती !
तुम्हें प्यार दूँ भी तो ऐसी नहीं मन.स्थिति !
आधे मन का प्यार प्यार कहला सकता क्या ?
भय-संशय से घिरा अभी सित केन्द्र प्रीति का,
श्री संस्कृत हो पाया नहीं अविकसित नर-उर,—
निन्दा-कुत्सा सौतेले भाई बहिनों से
स्थायी रहने देते नहीं प्यार की सम्पद् !

सम्भवतः, आर्थिक-बौद्धिक विकास के पर ही
हृदय-कमल की ओर ध्यान जाये मानव का;—
विकसित हो पायेगा तब स्वर्णिम सहस्रदल,
और हृदय की अमृत वृष्टि में अवगाहन कर
पावन हो पाएँगे तन-मन प्राण—धरा-रज !

तब सम्भव, अंगों की स्वर्गिक पवित्रता से
आकांक्षा की सौरभ उमड़ेगी दिङ् मादन,—
प्राणों के ज्योत्स्नातप में, शोभा-विस्मित नर
प्यार कर सकेगा अरूप-मन्दिर स्त्री-तन को !
तब रति-चेष्टा भी जीवन-पावन पूजन बन
सहज प्रेरणा देगी आध्यात्मिक विकास को !

मनुज हृदय उन्मुक्त, अभय, संशय-भय विरहित
तन्मय हो पायेगा शोभा की समाधि में,—
तन मन प्राण बुद्धि आत्मा के ऐक्य में बँधा !
सौम्य सृजन-आनन्द करेगा प्रेरित उर को,
आत्मा का प्रतिनिधि नर अकलुष हो पायेगा;
काम प्रेम बन जायेगा : सुन्दरता अक्षत,
शील-सुभग विचरेगी भू-प्रांगण में प्रतिपग !—
यह भविष्य का सत्य—स्वप्न भी कवि के उर का !

अज्ञेय

व्यक्ति अगम अज्ञेय
न इसमें संशय किंचित्,
वह समाधि जीवित
कितने कृत्यों की अविदित !

किन भावों, स्वप्नों,
आकांक्षाओं से अगणित—
स्मृत विस्मृत—
वह होता रहा अजाने
जीवन-पथ पर प्रेरित—
नहीं जानता कोई उसके
अन्तर का रहस्य चिर गोपन,
क्या बीती उस पर प्रतिक्षण,
किन घटनाओं से
आन्दोलित नित रहा
त्रस्त उसका मन !

किसे बताये वह
निज सुख-दुख के संवेदन,
रहा उच्छ्वसित जिनसे
उसके उर का स्पन्दन !

कैसी दुर्निवार अभिलाषा,
दुर्जय आशा
घोर निराशा
करती रही हृदय का निर्मम मन्थन—
प्राणों में भर क्रन्दन !
सहे मर्म ने गुह्य प्रीति-व्रण,
तीव्र घृणा के दंशन,
विजय पराजय
भय संशय का
रण क्षेत्र ही रहा
क्षुब्ध भव जीवन !
हिम-पर्वत-सा व्यक्ति
गहन उपचेतन सागर में अन्तर्हित,
अल्प ऊपरी जीवन ही से
प्रिय जन उसके परिचित !
वह वैभव सम्पन्न,—
जगत् अब देता उसको आदर,
नहीं जानता कोई
कैसे ओढ़ी उसने चादर !
किन्तु व्यर्थ जिज्ञासा—
गत से महत् अनागत निश्चय,
वही सत्य
जैसा भविष्य में नर बनता निःसंशय !

आत्मनस्तु कामाय

औद्योगिक जीवन ने
निश्चय ही मानव मन
बहिर्भ्रान्त कर दिया !
चक्र बन जगत् यन्त्र का
भ्रमित आज नर !
भूल गया वह—
मनुज-जगत् का स्रष्टा
वह ही !
निखिल सृष्टि के अन्तरतम
चैतन्य सूत्र से सित संयुक्त,—
विधाता भी
जग के भविष्य का !

देह क्षुधाओं से पीड़ित वह
जन समाज की सेवा में रत,
आवश्यकताओं के जग का

भारवाह भर
बना अविकसित भू-भागों में !
किन्तु जहाँ
बाहर की आवश्यकताओं की
पूर्ति हो चुकी—
जो सम्पन्न देश कहलाते,
वहाँ आन्तरिक क्षुधा जग रही
तृप्त मनुज में !
बुद्धि-धूम उड़ता मन में,—
वह अनुभव करता
मात्र श्रमिक,
जन-भू-सेवक ही नही मनुज !
वह इससे कहीं
महान् सत्य है !…
अपना स्वामी,
भू-जीवन का भी स्वामी !…

वह खोज रहा अब
जग-जीवन का गूढ़ प्रयोजन,
निज आत्मा का सित रहस्य !

अब मात्र कर्म-रत रहना
उसको इष्ट नहीं है :
निज जीवन का ध्येय समझना
अभिप्रेत है !
आध्यात्मिक जिज्ञासा उठती
उसके उर में !
रोटी के हित अब न उसे
संघर्षण करना !

शास्त्रों, धर्मों की प्रतिध्वनियाँ
कही दूर गूँजा करती
धूमिल अन्तर में !
वे क्या कहते ?—
उसे जानने की अभिलाषा
उठती मन में !
क्या उन सबका
नये रूप से संयोजन
सम्भव इस युग मे ?—
जो बासी, पथराये
अन्तः सत्यों के
मनगढ टुकडे हैं ?

जब तक औद्योगिक यान्त्रिक
जग के निर्मम शोषण से

मुक्त न होगा नर का
वहिर्भ्रान्त मन,—
कोई आशा नहीं,
मूल्य वह आँक सकेगा
अपना या जग के जीवन का!

आज बाह्य जीवन ही नहीं
यन्त्र से शासित,
मानव का अन्तर्जीवन भी
दमित, नियन्त्रित
जड यन्त्रों के दुष्प्रभाव से!

चिन्तन मनन,
हृदय संवेदन,
भाव, स्वप्न, अभिरुचि भी जन की
ढलती जाती
बहिर्भूत यान्त्रिक ढाँचे मे!—
कवि का काव्योन्मेष,
कला का छायांकन भी!

अतः उसे अब
क्षीण (सूक्ष्म)
आत्मा के स्वर को
सुनने और समझने के हित
निज अन्तर से सम्भाषण कर,
तन्मय होना
उस विराट् औद्भौम सत्य मे,
जो उसकी
अन्तर्मुख हृत्तन्त्री में झंकृत!

वही विश्व संस्कृति का
नव आधार बनेगा!—
अतिक्रम कर
जड यन्त्र-सभ्यता संघर्षण, नर
आत्म मुक्ति के
सौम्य सृजन आनन्द मे निरत
बाह्य जगत्
अन्त. शोभा मे ढाल सकेगा!—
देह-सत्य-मूषक पर
आरोही गणपति-सा!
आत्मानं वा अरे मैत्रेयि...

हृदय सत्य

अनघ-हृदय मन्दिर होगा भावी मानव का,
उसे हृदय ही के प्रकाश में होना केन्द्रित,

वही प्रेम-देवालय, अतिक्रम तर्क जाल कर
मानवता की प्रतिभा उर में करनी स्थापित !

ईश्वर भावी अभिव्यक्ति पायेगा उसमें,
निखिल देव, भव विधि विधान होंगे उर में लय,
बहिरन्तर की श्री-सुषमा, आनन्द ज्योति से
मण्डित होंगे प्रभु, अरूप से बन स्वरूपमय !

भाव-भूमि से भावातीत रह शिखरों तक
होगा ईश्वर का प्रसार चेतना गगन में,
हृदय कमल पर प्रीति चरण धर, प्राणशक्ति का
रूपान्तर कर, विकसित होगा जीवन मन में !

राग द्वेष, भय संशय, इन्द्रिय-तृष्णा का तम,
विषय-धूम अन्तःकिरणों से होंगे दीपित,
निखिल विरोधों से विमुक्त जीवन-विकास-क्रम
शिव से शिवतर पथ पर होगा, स्वतः सन्तुलित !

आत्म-ऐक्य जब विश्व-ऐक्य में होगा परिणत
सृजन शान्ति तब विचर सकेगी भू पर जीवित,
हृदय केन्द्र ही में स्थित होकर मनुज चेतना
बौद्धिक-भेदों को कर पायेगी संयोजित !

अति यान्त्रिकता से भू-नर की आत्मा मर्दित,
हृदय-सत्य का अब अनिवार्य गहन आराधन,
बहिर्मुख मानव मन जिससे हो अन्तर्मुख,
आत्म नियन्त्रित हो जन-भू-जीवन संघर्षण !

जागा वृत्र

नत मस्तक मैं पश्चिम की प्रतिभा के सम्मुख !—
थाह रहस्य निगूढ़ प्राकृतिक जग के जिसने
क्रूर गाँठ दी खोल अचेतन भूत-तत्त्व की !—
हृदय-ग्रन्थि खोली थी जैसे कभी पुरातन
भारत के द्रष्टा ऋषियों ने; ये पश्चिम के
वैज्ञानिक भी महामहिम सप्तर्षि-लोक के
ज्योतिर्मय नक्षत्र पुंज हैं ! अव्याख्येय
बाहरी विश्व का विश्लेषण कर सूक्ष्म, जिन्होंने
दृष्टि-अन्ध जड का आनन कर दीप्त, अगुण्ठित,
उद्घाटित कर दिये भेद पार्थिव-विधान के !
अणु विभक्त कर, सौंप मनुज को मूल शक्ति दी,
जिससे कल्पित, कूट-संघटित स्थूल वस्तु-जग !—
शुद्ध शक्ति ही जड पदार्थ,—यह निर्विवाद अब !
भूत-दैत्य की जाड्य शृंखला छिन्न हुई, लो,—
जागा वृत्र, सपंख पुनः पर्वताकार जड !

आज मनुज को अणु-दानव की शक्ति से महत्
मनुष्यत्व की शक्ति चाहिए—जीवन-सक्षम :
वश में रख जो मत्त-दैत्य को, भू-रचना में
शान्ति-नियोजित उसे कर सके, जन मंगल हित !—
भौतिक आध्यात्मिक तत्त्वों को संयोजित कर !

भविष्योन्मुख

मुझे प्यार का छिलका भर देकर, कहती तुम
इतने से सन्तोष करूँ मैं !—मुझको स्वीकृत।
डरता मैं भी, कहीं मुझे शोभा-छाया में
लिपटाकर तुम, छीन नहीं लो मुझको मेरी
प्राणों की कल्पना-सखी से,—जिसके साथ
बिताये मैंने जीवन-यौवन, जिसमें मूर्तित
भावी स्त्री,—जो करती वास हृदय में मेरे !—
स्नेह प्राण, अपलक देखा करती मानव मुख,
खेला करती मन में, तन्मय निश्छल शिशु-सी,
भुला देह की सुधि-बुधि,—श्री साकार भावना !

तुम सद्भाव मुझे देती हो सहृदयतावश,
आदर करता हूँ मैं उसका !—ध्यान मोड़ निज,
मुग्ध देखता,—भावी की भावी की भावी
पीढ़ी मेरे मनोदृगों के सम्मुख अद्भुत
शोभा में अवतरित हो रही मौन अगोचर !
रूपान्तर हो गया वाह्य जग का हो सहसा,
और समापन अन्न - वस्त्र गृह का संघर्षण !
बदल गये सम्बन्ध परिस्थितियों से जन के,
नया विश्व-संगठन जन्म ले चुका कभी का—
शिक्षित, संस्कृत, सौम्य, सभ्य मानवता भू पर
विचरण करती आत्म-मुक्त, निर्भीक-चित्त अब !—

भू-प्रांगण हो उठा स्वच्छ, सुन्दर, दिक् कुसुमित,
बदल गया आमूल मनुज-जीवन निःसंशय,
देवों-से लगते मानव-शिशु शुचि-रुचि दीपित !
कौन कहेगा इन्हें मनुज ही के वंशज ये !
आँखों को विश्वास न होता, उन्हें चीन्हना
सम्भव क्या अब ? तारापथ ही जन-धरणी पर
स्वयं उतर आया हो मनुज मुखों में मण्डित !
नव प्रकाश में उन्मेषित-से मनोयन्त्र अब,
भाव-बोध, चिन्तना, मूल्य, आदर्श, वृत्तियाँ
स्वर्णप्रभ हो उठे चेतना के स्पर्शों से !

जल से अधिक पवन की सन्तानें लगते जन—
हर्षोत्फुल्ल, विषाद-भार से मुक्त, मुक्त मन,

भाव-पंख प्रेरित, अन्तर्मुख, आत्म-सन्तुलित !
एक सूक्ष्म सौन्दर्य-सुरभि-सी व्याप्त चतुर्दिक् !
शोणित में आनन्द प्रवाहित, हृत्स्पन्दन में
झंकृत सुर-संगीत स्वस्थ,—रस तन्मय मानव
सृजन में निरत !

प्रेम प्रतिष्ठित मनुज-धरा पर,
प्रेम प्रतिष्ठित मनुज लोक में—संशय भय से,
तम-भ्रम से उर रहित,—बँधे जन ऐक्य-मुक्ति में !
देह प्राण मन आत्मा संयोजित समग्र हो
स्वर्गिक पवित्रता का अनुभव करते भू पर !

नव शोणित

यदि अशान्त उच्छृंखल जन-भू का यौवन अब,
इसमें उसका दोष नहीं है ! इसका कारण
उनमें है जो ह्रासोन्मुख गत संस्थाओं के
प्रतिनिधि बनकर, शासन करते नव यौवन पर !
दृष्टि नहीं जिनमे,—भविष्य को दिशा नहीं जो
दे सकते ! संयोगवशात् शासक बन बैठे
मनुज नियति के !

वे जिस अर्थहीन जीवन के
मृत प्रवाह को ढोते आये है, अब उसको
तरुणों पर भी लाद रहे, निज सुख-सुविधा हित !
कौन शासकों के अतिरिक्त सुखी भारत में ?

युग-युग की जड रूढि-रीतियों से संचालित,
रिक्त विचारो, आदर्शों की धूल झोंकते
वे भावी स्वप्नों से अपलक नवयुवकों की
दीप्त चमत्कृत आँखों मे ! उनको छलते हैं
बाह्य प्रदर्शन से सत्ता के ! जो भीतर से
कब की है खोखली हो चुकी मनुज-सत्य से !

नष्ट-भ्रष्ट कर लें गत प्रेतों की प्रतिमाएँ,—
या फिर उनमें नयी साँस भर, नव आत्मा भर,
मानवीय है उन्हें बनाना,—(जो अति दुष्कर !)
वे भविष्य के जन-मन सिंहासन पर फिर से
समासीन हो सकें, महत् चैतन्य ज्योति से
नव्य प्रतिष्ठा, नव युग गरिमा प्राप्त कर सकें !

हृदय-सत्य से, सृजन प्रेरणा मे वंचित,
गत परम्पराएँ जीवन-संचालन करने मे
अक्षम अब ! वे बालू के कण-सी चुभती हैं

मन की सूक्ष्म शिराओं में,—उर-शोणित-गति को
भाव-रुद्ध कर, उद्वेलित कर भू-यौवन को!
अतः उन्हें दीक्षा ले नव यौवन-पावक से
अपने को अनिवार्य बदलना,—या नव शोणित
छिन्न-भिन्न कर निखिल शृंखलाओं को निर्मम,
मुक्त करेगा जन-भविष्य-पथ! नव गौरव से
मण्डित मानव नयी दिशा की ओर बढ़ेगा,
भव विकास क्रम का प्रकाश-केतन वाहक बन!

यह सच है, अधिकाश तरुण अब दिशा भ्रान्त हो
बहक गये हैं, राजनीतिकों के कर-कन्दुक
बन कर! भावुक प्रतिक्रियाओ, कुण्ठाओं से
पीड़ित वे, लक्ष्य-च्युत युग को गति देने के
बदले, जनश्रम अर्जित सम्पद नष्ट-भ्रष्ट कर,
कुत्सित, ढीठ हर्ष का अनुभव करते मन मे!—
अनुशासित करना इनको दृढ वज्र-पाणि बन!

सृजन प्रक्रिया

पीला पतझर
मन को भाता!
वह अपने ही रीतेपन में,
सूनेपन में
मुझे सुहाता।
प्रिय बिछोह का यह सूनापन,
स्मृतियों से
भर-भर आता मन!—
पूर्ण समर्पण का पागलपन,
मन ही मन यह
नीरव स्वर में
मर्मर भर कुछ गाता!

सृजनशील मन का सूनापन,
शून्य, सृजन ही का निःस्वर क्षण
किन अनाम रंगों गन्धों—
स्पर्शों से
जाने उर भर आता!
पमित प्रीति से भरा शून्य यह,
विद्युत् स्पर्श
हृदय को दुःसह,—
सृजन प्रक्रिया का अथाह
जीवन सागर
भीतर लहराता!

कोंपल नहीं,
प्रीति-भ्रू के व्रण,
छिपा अगोचर
धन्वी चेतन,—
महामरण का उर-मन्थन कर
चिर अजेय
जीवन इठलाता !

भरत-नाट्यम्

भरत - नाट्य देखा कल संस्कृति मंच पर यहाँ,
दोनों ही नर्तकियाँ नृत्य - कला कुशला थीं !
लगता था, विद्युत् ही जैसे रंग बिरंगे
सुभग क्षौम - वसनों की आभा में परिधानित
नृत्य निरत हो,—क्षिप्र अंग भंगिमा चमत्कृत
मुक्त शैव - उल्लास चतुर्दिक् थी बखेरती !
चन्द्र - चकित चंचल लहरों - सा कर - पद चालन
शोभा - मरीचियों की छाया करता वितरित,—
लीन हो गया रस तन्मय उर नाट्य सृष्टि में !

नत मस्तक हूँ मैं दक्षिण भारत के सम्मुख,
वह महान् है ! कलाभिरुचि रखता है अद्भुत !
अतल जलधि का - सा तारल्य हिलोरें लेता
उसकी प्रिय संगीत - मुग्धकर स्वर लहरी में,—
कम्पित श्रुति - मूर्च्छना हृदय को करतीं तन्मय !
मौलिक शुद्ध कला - रुचि उसकी, मध्ययुगीन
प्रभावों से जो निपट अछूती—भारतीय
अपने आध्यात्मिक श्री सौष्ठव में मण्डित उज्ज्वल !

वैसे सारा देश अलौकिक कला विभव में
अति धनाढ्य है ! लोकगीत नृत्यों में भी
वैचित्र्य है विपुल ! पर दक्षिण की महत् कलाकृति
जन - मन को करती अभिभूत ! निसर्ग शक्ति ही
कथाकली के नाट्यमंच पर स्वत: अवतरित
अन्तर को भूधर - पग धर करती आन्दोलित !

मैं प्रेमी हूँ दक्षिण - भू का : सरल प्रकृति नर
दैनिक रहन - सहन में भी वे भारतीय हैं !
मुझे बड़ी आशा है उनसे : भारतीय
संस्कृति को उनकी देन अतुल होगी भविष्य में !—
भारत के जीवन को वे निज कला - प्राण
उर की रुचि, पटु कर-कौशल, श्रम के प्रति निष्ठा से
बहिरन्तर सम्पन्न बनायेंगे : मंगलमय
दृढ़ जीवन - एका में बाँध निखिल धरणी को !

गर्व करेगी जन-भू उन पर : मैं अभिनन्दन
करता दक्षिण भारत के उज्ज्वल भविष्य का—
जो भारत ही का भविष्य होगा निःसंशय !

सत्य दृष्टि

ऐसा नहीं कि
मैं कीचड़ को नहीं जानता,
उसकी सत्ता नहीं मानता,—
या किल्विष में नहीं सना हूँ
मैं विशिष्ट ही व्यक्ति बना हूँ !
ऐसा नहीं !—

गले-गले तक मैं
कीचड़-जग में डूबा हूँ
उससे मन ही मन ऊबा हूँ !

कर्दम-पलने ही में
मैंने आँखें खोली,
एक तरह से
हम हमजोली !

कर्दम आँगन ही में पला,
उसी में धीरे साँस खींच
मैं ढला !

इसीलिए पंकज कहलाता,
और अटूट हमारा नाता !

पर, मैंने
निज दृष्टि
ऊर्ध्वमुख रक्खी निश्चय
सूरज का मुख चीन्हा निर्भय !
जगा, तपा मैं,
बना अनामय !

अग्नि शिखा मैं,
उठा पंक से,
तिमिर अंक से—
मा का आँचल
श्री सुषमा गरिमा से भरते
जड़-भू को स्वर्गोन्मुख करते
चित् प्रकाश भी भरते !

धरा-स्वर्ग का अग्रदूत है,
कर्दम ही का मार्ग दूत है !

नवम्बर [illegible]

नहीं वास्तविकता यह,—
या जीवन यथार्थ यह—
कीचड़ ही कीचड़ है
भू-जीवन का प्रांगण,
कृमियों से संकुल मन !

सत्य-दृष्टि यह
कीचड़ को अतिक्रम कर अनुक्षण
जन धरणी को करना
सूर्योन्मुखी उन्नयन !

ज्योति - स्पर्श से अन्तर्दीपित
कर्दम मानस में अन्तर्हित
चित् सौन्दर्य सरोरुह करना
उसको उर-पलकों पर विकसित !
स्वर्ग मर्त्य एक ही
सत्य - मुद्रा के
मुख नित !

नया वृत्त

चिन्मय दर्पण निराकार निर्गुण तुम निश्चय,
नव युग आनन निज अन्तर में करती बिम्बित,
जो कि तुम्हारी अमर उपस्थिति से अभिप्रेरित
दिशा - काल में होता नव वैभव में विकसित !

नया सगुण, नव श्री शोभा आनन्द बिम्ब बन,
जग जीवन मे अभिव्यक्ति पाता अब प्रतिक्षण,
धन्य प्राज्ञजन, सार्थक उनका अर्पित जीवन,—
जिनके उर में खुला रश्मि - दीपित वातायन !

नया सांस्कृतिक वृत्त उदित हो रहा शनैः अब
संघर्षण - पलने में लेता जन्म नया नर,
पास आ रहे जन, अतीत - सीमा अतिक्रम कर,
धूल धुन्ध, संशय भय से आच्छादित अम्बर !

नये मूल्य को अब मानव-आत्मा की भू पर
नव जीवन-गरिमा में होना प्राण प्ररोहित,
पूर्ण क्रान्तियों की यह क्रान्ति : मनुज बहिरन्तर
होता रूपान्तरित,—प्राण-मन करते घोषित !

उतर रही ऊषा-सी तुम,—उर करता अनुभव,
अन्तर्मन के अन्तरिक्ष लगते आलोकित,
बैठा कुण्डल मार निशा का घनीभूत तम
जड़ अतीत प्रहरी - सा जग को करने दंशित !

संघर्षण अनिवार्य, और सम्भव, युग-रण भी,
पथराया चैतन्य नष्ट होगा निःसंशय,
काले मेघों के पंखों में स्वर्ण-रेख भर
मुसकाता घन अन्धकार में नव अरुणोदय !

सम्पृक्ति

प्रिय बिछोह का शून्य लीलता मुझको अनुक्षण,—
मैं निज तन-मन-प्राण उसे कर चुका समर्पण !

घोर शून्य-नभ प्रीति हृदय में हुई अवतरित,
जिसके रस-स्पर्शों से अब जीवन संरक्षित !

श्री शोभा सुख में असीम लिपटा तन्मय मन
युग-स्वप्नों के पग धर भू पर करता विचरण !

निश्चय, पुरुष प्रकृति ही से सम्पृक्त निरन्तर,
खोज पुरुष की व्यर्थ प्रकृति से उसे विलग कर !

वह दर्पण-भर, प्रकृति अनन्त विभव छवि मण्डित,
पुरुष स्थाणु,
जड़ पतझर वन,
यदि मातृ प्रकृति वैभव से वंचित !

ऋत पतझर

देह-यष्टि में
अब रोमांच नहीं ही होता,
मनोलता में उगते
शोभा-विस्मय अंकुर
नित नव संवेदन हित आतुर !

पहिले मेरा मन भी तन था,
अब तन भी
हो गया दीप्त मन,
उच्च साध्य हित साधन !

देख रहा मैं स्पष्ट
सत्य मैं ही हूँ,
मृद् तन मोह आवरण,—
घेरे था मन को
इच्छाओं का जड़ वेष्टन !

आलोकित मेरे प्रकाश से
अब प्राणों का जीवन,—
मिटा काम-सम्मोहन !

अब न अनास्था, संशय, भय
कटु राग-द्वेष का कारण !

पतझर यह,
दुर्धर ऋत पतझर,
घुमड़ रहे झंझा अन्धड़
जन-मन क्षितिजों पर,
कड़क रही विद्युत्
कँपता युग अम्बर थर्-थर् !

अब विनष्ट होने को
जड़ सभ्यता असंशय,
अन्ध-प्राण भू-आवेशों से निर्दय !

निखर रहा भूमा-प्रागण में
नव अरुणोदय,
ध्वस्त प्राण-तम,
ध्वस्त सम्य-भ्रम,
जग जीवन
स्वर्णिम विकास गति क्रम में निश्चय !

मेरा तन - मन में,
जीवन-मन
युग-आत्मा में तन्मय !

गीत भ्रमर

भ्रमर, कौन तुम गाते मन में भर निःस्वर मधु गुंजन,
हँस उठते जग रोम, हर्ष-झंकृत होते जीवन-क्षण !
कौन चेतना क्षेत्र ?—जहाँ तुम चुपके करते विचरण,
किन भावों की पंखड़ियाँ, पावक-मरन्द के मधुकण ?

कौन अनाम सुरभि वह उर को सहसा ले जाती हर ?
तन मन विस्मृत, रस-तन्मय हो उठता प्यासा अन्तर !
वास बसाये बरबस उर में—नष्ट कर्म फल बन्धन,—
भाव-बोध पंखों में उड़ - उड़ मुग्ध गूँथते गायन !

मत पूछो, आनन्द मधुरिमा के खुल मौन दिगन्तर
बरसाते सौन्दर्य अमर—रस-कला अरूप अगोचर !
कभी यही मुरली ध्वनि सम्भव बजी कहीं मधुवन में—
भूल गया सुधि-बुधि .भू-यौवन निभृत मिलन के क्षण में !

गूँज रहा तब से ही वह स्वर तद्‌गत हृदय-श्रवण में,
स्वप्नों में खोया-खोया मन रत रस-प्रीति-सृजन में !

मध्या के प्रति

प्रिय मध्ये,
यह राजहंस-सा पेशल यौवन
शोभा की उड़ान भर अनुक्षण
उन्मद प्राणों की सौरभ से
आकुल कर देता मन !
रति प्रीता तरुणी तुम सुन्दर,
कुम्हलाई कलिका-सी लगतीं
दीप्तिहीन श्लथ अन्तर !
अभी हाय, स्त्री-पुरुषों की रति
रेंगा - सी करती मन्थर गति
जिस भू पर
कीड़े-सी तुच्छ घिनौनी,—
(कुबड़ी पशु आकांक्षा बौनी !)
वह क्या स्त्री-नर योग्य ?
मनुज का भोग्य ?
नहीं,—
ज्यों चन्द्र ज्वाल सागर में उठता
रस विह्वल आवेश ज्वार
उन्मत्त स्फार—
या गन्ध वनों में
उमड़ घुमड़ता
रज मरन्द मद अन्धड़,—
छिन्न - मस्तका रति
केवल कामना - नग्न धड़ !
तुम चाहो
कूदो प्राणों की सिन्धु-अग्नि मे,
भावों की आनन्द तरल
उच्छल लहरों पर
ऊब - डूबकर जी - भर,—
विस्मृति सुख में बह - बह
बाहर निकल
निखर आओ
आकण्ठ स्नान कर !
यही नही सार्थकता
इस मानव जीवन की,—
पूर्णता भर लघु क्षण की !
प्राणों ही की शक्ति
ऊर्ध्वमुख बोधि-ज्योति बन
आत्मिक स्तर पर शुभ्र प्रीति बन,
श्रद्धा आस्था में ढलती घन !

तुम सुन्दरता की प्रतिनिधि हो
अनगढ़ भू पर,
हृदय सुरभि कर जन में वितरित
नर को स्वच्छ बनाओ सहचर !—

बने कूप - मुख सागर - विस्तृत !
विचरे भू पथ पर सौन्दर्य
सहज जन-पावन,
हृदय - गर्भ में करो
विश्व - जीवन नव धारण !

पवित्रता

कितनी पवित्र शशि - सूर्य किरण, कितने पवित्र फूलों के मुख,
कितना पवित्र वन-पवन-स्पर्श, मृदु गन्ध-गात्र छू देता सुख !
प्रात. उठते ही ज्योति-स्नात पावन लगता भू का प्रांगण,
रोमांचित-से लगते तृण-तरु, किरणों से चित्-चुम्बित रजकण !

पावनता ही भूमा का गुण, पावनता भू-जीवन मास्वन,
पावनता ही का स्वर्ण-गर्भ जीवों का जग करता धारण !
सुन्दरता क्या होती सुन्दर जो होती वह न कहीं पावन ?
सित प्रीति-स्पर्श ही से पवित्र होते पंकजवत् जड चेतन !

स्त्री-सी पवित्र लगती जगती, जी करता इसको अंक भरूँ,
नव-नव भावों के सुमनों से तरुणी का साज-सिंगार करूँ !
अह, रोम-रोम से पावनता फूटती,—चित्त ध्यानावस्थित,
तन्मयता की शुचि शय्या पर मैं अहरह रहता हूँ जागृत !

स्मित नील मुझे वेष्टित करके धारण कर लेता मेरा तन,
अनुभूति गुह्य,—मैं बतलाऊँ किसको ? विश्वास करेंगे जन ?
कृश पवित्रता का शुभ्र सूत्र बाँधे नित तुमसे मेरा मन,
मुझको पवित्र रहना नखशिख,—आत्मा पवित्रता की दर्पण !

उद्बोधन

जब तक न प्रकृति से जूझोगी होगे न प्राण, प्रेयसि, संस्कृत,
चैतन्य अग्नि तुम, ढँके राख युग-युग से संस्कारों की मृत,
छँट गया भावना-धूम, हृदय में हुआ स्वय - भू सूर्योदय,
आलोक-रेख अब मन:क्षितिज,—मिट जायेंगे सब भय संशय !

यदि जूझ नहीं सकती निज से आस्था का पथ पकड़ो विस्तृत,
वह जूझेगी मन के तम से ज्योत्स्ना-सा बरसा भावाऽमृत !
लम्बा न लगेगा आस्था-पथ कर सको हृदय-मन जो अर्पित,
अनजाने धुलती जाओगी, आस्था-करतल में सरक्षित !

प्राणों का पावक अनिर्वाप्य, दिग्-धूम किये उर आच्छादित,
युग राधे, सुख उत्सर्ग करो, हो प्रीति-पन्थ जन हित निर्मित !
इस काम-गरल को बनना ही जीवन-विकास-हित प्रीति-अमृत,
पशु आरोही अन्तःस्थ जीव होगा नव मानव में विकसित !

दुख सुख, संशय विश्वास शनैः वेदना चेतना बनती नव,
कुसुमित होती, वन काम-अग्नि निर्धूम-ज्योति चेतस्-वैभव !
लिपटी न रहो चरणों ही से, उठ, करो शिखर पर आरोहण,
चैतन्य-अद्रि यह दिग्-विराट्, क्षितिजों पर मोहित वातायन !

तुम जागोगी, जागेगा जग, सोया तुममें गिर मुँह के बल,
विचरो, भावी चैतन्य-शिखे, चरणों पर हो नत भू-मंगल !

मानदण्ड

भूमा का विस्फोट हुआ जब मेरे भीतर
काँप उठा ब्रह्माण्ड प्रणत सम्मुख, भय थर्थर् !

अवगाहा मैंने रहस्य का सागर-अन्तर, डूबा···डूबा···
लीन हुआ मैं,—तन्मय भी जागरित निरन्तर !

पट पर पट बहु खुले, क्षितिज पर क्षितिज अगोचर,
पार किये मैंने उठ ऊपर सूर्य-दिगन्तर !

सुख-दुख के जग, भाव-बोध के स्वर्णिम अम्बर,—
कर्म-जगत् के जटिल कुटिल पथ फैले दुस्तर !

शेष रहा बस शून्य, रिक्त बस शून्य···शून्य भर,
अन्तरतम में फूटा तब गम्भीर गगन-स्वर :

मानव ही रे मानदण्ड इस निखिल सृष्टि का,—
यही सत्य का चरम बोध, साफल्य दृष्टि का !

हार्दिकता

तुम कितनी श्री-सुन्दर, फूल-लता से भी कोमलतर,—
एक बार ही जान गया मैं तुमको बाँहों में भर !
काम-भोग का युग यह देह-वासना मन्थित,
तप्त प्राण-घन-तल्प, तड़पती चपला कम्पित !

मैं सुन्दरता-प्रेमी, हार्दिकता का भोगी,
शील, मधुरिमा, शोभा, संस्कृत रुचि का योगी !

तुम आतीं,
चाँदनी स्नेह की-सी छा जाती,

मधुर कल्पना
गौर भावना-सौरभ की
मृदु देह सँजोती !

खुल पड़ते सब बन्धन,—
प्राणों के पुलिनों को
तुम असीम सौन्दर्य ज्वार में
सहज डुबाती !

खुलते दीप्त क्षितिज अन्तर में,
स्वप्नों को देही देकर
तुम मूर्त बनातीं !

तुम कितनी निश्छल हो,
शैल-प्रकृति-सी निर्मल—
सहज हृदय-गुण ही
नारी-शोभा का सम्बल !

वार्धक्य

सित वार्धक्य ?
शिखर यह भू-मानव जीवन का,
मुकुट नर मन का !

शैशव घुटनों के बल चल
जब खड़ा हो सका—
तब किशोर आँखों ने देखा :
रूप रंग का प्रिय जग
खींच रहा चंचल मन,
बहिर्जगत् सम्मोहन
सार्थक करता लोचन !

जिह्वा में रस,
कानों में भर क्रीडा कलरव,
मन को होता जाने
कैसा क्या कुछ अनुभव !
कौतूहल भर था
बाहर भीतर कौतूहल,
मन चंचल था,
दृग चंचल
दिशि-क्षण भी चंचल !

यौवन आया,
आशा का संसार पा गया,
अभिलाषा में ज्वार आ गया;—

खुली नवीन दिशाएँ,
जिज्ञासाएँ जागी,
चित्त बोध का,
हृदय हुआ रस का अनुरागी !

चिन्तन मन्थित प्राण हुए
सागर - उद्वेलित,
सुख-दुख के अगणित दंशन
स्मृति पट पर अंकित !

असफलता से
हीन-भावना से संघर्षण,
आत्म बोध की विजय,
महत्त्वाकांक्षा के क्षण !

पग पग पर भूलें,
मृगजल की तृषा,
दिशा - भ्रम,
चलता रहा
धृष्ट यौवन का
अपना ही क्रम !

तड़िल्लेख शोभा
अपलक रखती हृत लोचन,
बौध लता ने दिया
अजाने ऊर्ध्व वृक्ष तन !

प्रौढ़ि-दृष्टि
सूची-सी आयी
कला-कुशल-कर,—
मन के मनके बेध,
पिरो चित्-सूत्र में सुघर
गूँथी स्रक् उसने,—
अनुभूति गहन संचित कर
मूल्यांकन फिर किया
मनुज जीवन का दुष्कर !

धरा जरा ने
स्वर्ण किरीट
बोध के सिर पर,
दीपित कर
अन्तर्मुख अन्तर !
दी सम्पूर्ण दृष्टि जीवन की,
खोल ग्रन्थियाँ तार्किक मन की !

देखा मन ने—
जगत् नहीं यह
मन्दिर भास्वर !
जाग्रत् जीव,—
अगोचर ईश्वर
प्रतिपग गोचर !

सुधा स्रोत

एक मधुरता बहती अविदित मेरे भीतर,
वह मादकता नहीं—तरंगित सुधा सरोवर !
मुझको विस्मृत कर अपने को रखती जाग्रत,—
मैं अपनापन भूल उसी का करता स्वागत !

कहाँ स्रोत इस मुग्ध मधुरिमा का ? क्या ऊपर ?
या अन्तरतम में ?—कुछ मिलता मुझे न उत्तर !
मुझे डुबाकर वह समस्त मन में छा जाती,
उर में निःस्वर, रोम्रों में रोमांचित गाती !

मेरे ही तन में धरती वह भाव-सूक्ष्म तन,
पा विद्युत् सुख स्पर्श नाच उठते शोणित कण !
उस श्री सुषमा का न गिरा कर पाती वर्णन,—
शब्द डूब जाते आनन्द उदधि में निःस्वन !

ऐ अति गोपन, तन्मय साक्षात्कार, मूर्त क्षण !
भू जीवन को सतत बनाओ पावन, चेतन !

संस्कृति

फूल नहीं, संस्कृति-श्री उज्ज्वल !
रूप रंग सौरभ मरन्द के फैला शतदल
प्लावित करती रहती वह भू-जीवन अंचल !
फूल नहीं, संस्कृति दिग् उज्ज्वल !

वह अपने ही शुभ्र वृन्त पर स्वयं फूटकर
निज अनन्त वैभव से भरती विश्व दिगन्तर !
नित्य मुक्त चैतन्य,—स्वतः ही वह अपने हित
नियम बना, नव-नव रूपों में होता विकसित !

रूप रंग सौरभ मरन्द होते परिवर्तित,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य पद्म रहता अन्तःस्थित !
नर, मधु गन्ध मरन्द सार चुन छत्र बनाओ,
विश्व-सभ्यता स्थापित कर जन-मंगल गाओ !

पाद पीठ सभ्यता : धरे चिद्-ज्योति के चरण
उस पर मानव संस्कृति,—करे धरा पर विचरण!
गढ़े विशद प्रासाद सभ्यता का दिग् चुम्बित,
बदल रहा इतिहास काल करतल पर अंकित!

संस्कृति के रस-मूल सत्य में नित्य, अगोचर,
मातृ चेतना की कन्या वह अक्षय, भास्वर!

संवेदना

हो उठता अज्ञात स्पर्श से रस मानस आनन्द तरंगित,
बाँध दिया तुमने प्राणों को प्रीति-डोर में, प्रिये अपरिमित!
मिट्टी की सोंधी सुगन्ध से मौन मिल गयी स्वर्गिक सौरभ,
धरती के रोएँ-रोएँ से झाँक रहा छाया अरूप नभ!

रज तन को तुमने आत्मा से अधिक दिया अक्षय भव-गौरव,
ईश्वर को पूर्णता दे रही तुम रच-रच अर्पित नव मानव!
अभिव्यक्त वाणी में कैसे कहूँ भाव,—जो स्वप्न-अगोचर!
मूर्त जिन्हें जीवन में होना, जो अब तक देवों के सहचर!

होना ही जानना,—सत्य यह, धरा स्वर्ग मिल रहे परस्पर,
कला मूक, कंगाल शब्द,—हो अघटनीय घटने को निःस्वर!
असहनीय गुरु भार वक्ष को बेध रहा मेरे क्षण अनुक्षण
विश्व-चेतना का करती नव मनुज अहंता फिर युग-मन्थन!

मनुज-प्रकृति ईश्वर में ईश्वर को कर मनुज-प्रकृति में स्थापित
प्रकृति-योनि में सत्य-भ्रूण को नव संस्कृति में होना विकसित!
ऊर्ध्व-बोध को अन्तरतम में पैठ उतरना अब जन-भू पर,
उतर रही चिति, उतर रहा मन,—चन्द्र-पुलक प्राणों का सागर!

हो उठता आनन्द-स्पर्श से रस मानस नव छन्द तरंगित,
बाँध दिया तुमने प्राणों को प्रीति-डोर में, प्रिये, अपरिमित!

जरा

जरा डराती मुझे!
उसे मैं पास बिठाकर
देखा करता जी भर!

वह काँसों के केश उगाकर
सम्मुख आती,
शरद रेशमी मेघों में तब
खो जाता मेरा मन!
स्मृतियों के शत इन्द्रधनुष
रँगते वय के क्षण!

वह नीरद मुसकाती,—
दृष्टि क्षीण,
कटि झुकी धनुष-सी,
निपट झुरियों की
दुहरी झालर बन जाती!
बाँह थाम,
मैं उसे बिठाता,
तन मन सहलाता,
समझाता—
तन में रह तुम
तन से हार गयीं तो क्या
अब मन से भी हारोगी?
अन्तःस्थित होकर क्या
मन को नहीं उबारोगी?
क्या रज तन का यौवन?
चल विद्युत् पावक कण,—
प्राणों की क्षण गर्जन!

मानव मन का धनी,
अमर उसकी आत्मा का यौवन!
उसमें केन्द्रित,
उसमे निज चिद् वास बसाओ,
मन को फिर से तरुण बनाओ!
मन ही सच्ची देह,
वही चिति गेह,—
देह की भीति भगाओ!
मन का नव तारुण्य
देह में होगा विकसित,
तन का पतझर होगा कुसुमित,—
अंगों में चित् शोणित झंकृत!
साथ तुम्हारा देंगे अवयव,
जानो निश्चित!
स्रोत चेतना, चित्त सरोवर,
रुद्ध न हो चित्-स्रोत सूक्ष्मतर—
देह-पुलिन नित जिससे उर्वर!
किया जरा-मन ने
फिर यौवन में प्रवेश नव,
हुआ हृदय को गोपन अनुभव,—
जरा देह की सीमा भर,
मन ऊपर उठकर
बँध सकता

असीम स्वर-संगति में—
वय-दुस्तर !

इन्द्रियाँ

मेरी प्रिय इन्द्रियो,
तुम्हें मैं अपना कहता,
और व्यर्थ के मद में बहता !
विश्व-प्रकृति की सेवक तुम,
जो मातृ-चेतना !—
उसके ध्येयों के प्रति सच्ची,
सतत समर्पित,
उससे ही अनुशासित !

सहती मा चिर प्रसव वेदना
नव भ्रूणों मे,
जीव योनियों मे
तुमको असंख्य रूपों में
कर नव निर्मित !
दुरुपयोग करता हूँ मैं
पर, नित्य तुम्हारा,
क्रीत दास निज तुम्हें मानकर,—
सरकारी अफ़सर का
चपरासी बेचारा
पीसा जाता ज्यों
घर की चक्की में अवसर !
अत्याचार कहाँ तक तुम सह सकती,
दुराचार में सनी
रात दिन थकतीं !
खो अपनी नमनीयता सकल,
क्लान्ति से विकल,
पाप में फिसल,
ध्येय में विफल,—
आँखें होतीं अन्धी,
श्रवण-पटह स्वर-बहरे,
बिंधते घाव हृदय मे गहरे.—
धनु-सी टेढ़ी रीढ़, पक्ष-पीड़ित जर्जर अंग
लूले-लँगड़े हाथ-पाँव, ढीले सब रँग-ढँग !
विश्व-प्रकृति का गूढ़ प्रयोजन होता निष्फल,
हाड-मास का लोथ निबल गिनता अन्तिम पल !
दिव्य इन्द्रियो,
विश्व-प्रकृति की

स्वर-संगति में बँधी निरन्तर,
तुम क्षर अनुचर नहीं
मनुज की जीवन-सहचर!

मनुज चेतना
अभिव्यक्ति पाती तुममें नित,
सहज सौम्य सहयोग प्राप्त कर
होती विकसित!

तुम्हीं करण, उपकरण,
चेतना-सौध सतत
अवलम्बित जिस पर!—

यदि ईंटें खो दें अनुशासन
क्या न भवन की भित्ति,
शिखर, छत
टूट, धराशायी सब
हो जायेंगे तत्क्षण?

इसीलिए,
चाहिए मनुज को
युक्ताहार विहार करे,—
विश्राम दे तुम्हें,
श्रम-विराम का स्वर्ण सन्तुलन
जीवन-ताप हरे!

गुह्याकर्षण

खींच जगत् लेता मेरा मन!
रूप रंग गन्धों के प्रिय क्षण
अपलक रखते मन के लोचन!—
उर में भर अनन्त सम्वेदन!

मैं क्या दे सकता हूँ जग को?
उससे ही चिर उपकृत
मेरा अर्पित जीवन!—
मोहे लेता जग मेरा मन!

यह विराट् ब्रह्माण्ड भरा रे प्रेम से अमित,
जो असीम सौन्दर्य सृजन कर रखता विस्मित!
वीणा हूँ मैं इसी प्रेम की अहरह झंकृत,
शोभा के सित स्पर्श हृदय रखते रोमांचित!

कौन अँगुलियाँ छू तन्मय कर देतीं अन्तर?
झर पड़ता आनन्द अमृत निर्झर-सा झर-झर!
मैं हूँ रिक्त, जगत् फिर-फिर मुझको देता भर,
जगन्निवास प्रेम का ईश्वर,—उर जिसका घर!

शील धन्या

दिखते नित
नारी शोभा के रूप अनगिनत,—
अधर भृकुटि दृग रंजित,—
पाटल दल सद्यः स्मित
मृदुल कपोलों पर विकसित !
मांसल स्तन मण्डल
कंचुक शिखरों में पुंजित,
अवयव - संगति
मृदु तन तनिमा
शोभा लहरी - सी उन्मुक्त तरंगित !
—जन मन करती मोहित !

सौम्य शील - किरणों से मण्डित
नवमी शशि - सा आनन
किन्तु सभी युग नारी रूपों को
अतिक्रम कर
सहज हृदय में पाता आसन !

सुन्दरता को बना
अमित सुन्दरतर,
छूता वह प्राणों को, मन को,
सूक्ष्म मौन बरसा सम्मोहन !
सीता हो तुम
राधा के उर में स्थित
ओ जीवन कल्याणी,
शक्ति अनिर्वचनीय,
मुग्ध, श्रद्धांजलि देती वाणी !

शुभ्र श्वेत अनुभूति—
चन्द्र किरणों में घन - सा
मज्जित रूप
अरूप शील रुचि संस्कृत
स्त्रीत्व - मधुर प्रकाश में,
सहज सुहाता
रसाकाश में !

देह - बोध आभास
नहीं छूता क्षण मन को,
शोभाओं की श्री - शोभा
सौन्दर्य - सार तुम—
सौम्य उपस्थिति से
सार्थक करती जीवन को !

जीवित करुणा
अन्तःसुषमा में - सी मूर्तित,
प्रीति - सुधा भू - पथ पर इच्छित
करती वितरित,—
लाज उषा, शोभा में गुण्ठित!

प्रलय-सृजन

नव वसन्त से अधिक ध्यान आकर्षित करता पतझर
उससे नव सौन्दर्य निखरता, नयी चेतना के स्वर!
नाच - नाच उठता मेरा मन उड़ते पत्तों के सँग,
ताली देते तरुदल - करतल, थिरक - थिरक उठते अँग!

महानाश संगीत मुखर हो झंकृत करता अन्तर,
सौ मदिराओं की मादकता लिये ध्वंस निज भीतर!
भीम भयंकरता सर्पों - सी नाच रही उद्धत फन,
मत्त प्रलय - शोभा को करता मन निर्भय आलिंगन!

महामुक्ति का अनुभव होता उर को अब अनजाने,
महाध्वंस के गाऊँगा आनन्द - उग्र मैं गाने!
कैसे सम्भव सृजन बिना इस मुक्ति - बोध से प्रेरित,
परम शून्य ही से निश्चय भव - जीवन - धारा निःसृत!

लगा मृत्यु को अंक धृष्ट पागल मन करता नर्तन,
उठती गिरती शक्ति - भृकुटि द्रुत होते विश्व विवर्तन!
निखिल नग्न तन, निखिल नग्न मन, जग भी निखिल दिगम्बर—
लाज नग्न नव - जीवन - शोभा को निज बाँहों में भर—

उड़ता भाव - गगन में मैं शत सुरधनु - छाया मण्डित,
प्रलय अप्सरा को कर नव चैतन्य - बीज से गर्भित!
प्रलय सृजन, पतझर वसन्त मेरे ही युग पद निश्चित,
दोनों ही के गति - विनिमय से भव विकास क्रम सर्जित!

अनुभूति

बिजली - सा तड़पा करता जो पावक - यौवन
मेरे प्राणों के मेघों में व्याकुल प्रतिक्षण—
दीप्त कर दिया तुमने उसको
सौम्य ज्योति,
आनन्द प्रीति, सौन्दर्य - शिखा में—
अमृत स्पर्श से पावन!
साधारण बौने गिरियों की
तुलना में ज्यों

हिम शिखरों की
आभिजात्य दिग् गरिमा
करती दृष्टि चमत्कृत,
रवि - शशि - रश्मि किरीटित, —
वैसे ही चैतन्य लोक में उठ भू - मन से
अन्तर निर्मय करता तन्मय विचरण ! —

सृजन भूमि वह,
रंग गन्ध मधु
नव कलि कुसुमों में कर वितरण,
अधरों पर मँडरा
मैं चाँपा करता चुम्बन,
भर मृदु गुंजन !

कितने कुसुमाकर बखेरता भू - आँगन में—
शुभ्र शरद् षड्ऋतुओं संग कर नर्तन !

यह अन्तर अनुभूति सत्य—
वैसे ही जैसे
मुग्ध युवक नव युवती को
बाँहों में बाँधे
हो अनन्य तन्मय
रस क्रीडा सुख में मादन !

मैं चैतन्य - प्रकाश मग्न
सौन्दर्य नग्न
आनन्द लोक में
राग द्वेष बाष्पों से विरहित
आरोहण करता
पग पग पर विस्मित,—
भावी जन मंगल हित !

वर्तमान जन - भू विकास गति क्रम में
निज वैज्ञानिक भ्रम में
मनुज सभ्यता
उतर प्राणिशास्त्रीय भूमि पर
जीवन करती यापन !

फूल न सुन्दर गन्ध - योनि रज करती धारण !
विहग मिथुन प्रजनन प्रेरित ही करते गायन ?

सुन्दरता आनन्द प्रेम
हार्दिक गुण भास्वर,—
विश्व - चेतना के वर !
युग्माकर्षण गौण,
मुख्यतः मानव स्तर पर !

हृदय-कमल में स्थित हो नर को संस्कृत बनना निश्चय,—
सौम्य, प्रबुद्ध, अनामय ! यही प्रकृति का ध्येय असंशय !

भाव-क्रान्ति

कितने सुन्दर लोग धरा पर उर हो उठता अर्पित,—
अह, अन्त.सन्तुलन नहीं अब जग जीवन में निश्चित !
कभी सोचता कारण जब मन हो उठता उद्वेलित,
क्रूर परिस्थिति पाटों में अब जन - भू जीवन मर्दित !

राग द्वेष के मेघ घुमड़ते, रोष गरजता प्रतिक्षण,
क्षुब्ध - सिन्धु - सा आन्दोलित श्रेयस् कामी भू-यौवन !
अल्प संख्य सम्पन्न अकिंचन मनुष्यत्व में निश्चित,
जीवन की संकीर्ण दृष्टि को होना दिग् - भू विस्तृत !

भव सम्पद् का हो फिर से जन मंगल हित नव वितरण,
धिक् उनको, जो लोक-दाय पर बरबस करते शासन !
नया मनुज चाहिए आज, जन-भू को नव संयोजन,
ध्वंस-भ्रंश कर खर्व मूल्य सब भाव - क्रान्ति हो नूतन !

छिन्न - भिन्न हों जाति वर्ग, धर्मों के जर्जर बन्धन,
नव स्त्री-पुरुषों का समाज हो मनुज-हृदय का दर्पण !

रूपान्तरिता

बड़ी कठिनता से पा सका
तुम्हें जीवन में
प्राण, तुम्हारे लिए रहा
व्याकुल प्रतिक्षण मैं !

ओ शोभा प्रतिमे,
यौवन ज्वाला में वेष्टित,
सुलभ कभी हो सका न इच्छित,—
रहा देखता विस्मय - हत
अपलक, मोहित तन,
साहस नहीं हुआ
छू सकूं तुम्हारा प्रिय मन !

जान न पायीं तुम भी
भाव - प्रवण कवि का मन,—
बाधक दोनों ओर रहे
सामाजिक बन्धन !

अब मैं देख रहा
अपने से ऊपर उठकर—

तुम्हें कल्पना - अन्तःपुर में
ले जा निःस्वर,—
प्राणों के दर्पण में पाया
मैंने बिम्बित
तुम्हें वास्तविकता से कहीं
अधिक सुन्दर, अतिरंजित !

छिलके को मैं पा भी जाता
तो क्या उसका अपना पाता ?
कब तक रहता वह
कच्चे धागे का नाता !
कहीं रोकता रहा मुझे कोई
तब अन्तर्मन से—
अधिक प्रबुद्ध कामना - क्षण से !
छाया हाथ न लगी,
पकड़ कर उसको तब मैं
क्या पाता, क्या खोता !...
अंगुलियाँ जल जाती यदि
दुख मुझे न होता !
आज न जाने कहाँ सो गया
भ्रू - चपला का नर्तन,
उमड़ - घुमड़कर, गरज - लरजकर
शान्त हो गये प्राणों के घन !
खुली दिशाएँ मन में विस्तृत,
शारदीय चेतना सदृश
तुम खड़ी सामने
निःस्वर, सस्मित !
जीवन के सुख दुख से तापित
अश्रु - धौत तन - तनिमा छूता मैं
जो मनःप्रभा से वेष्टित,—
पा उज्ज्वल चैतन्य - स्पर्श
मन ही मन होता उपकृत !
प्रीति - मुक्ति में बाँध प्राण
जन - भू - मंगल से प्रेरित—
तुमको करता हृदय समर्पित
तुम जो विश्व - प्रकृति में मूर्तित !

पारमिता

फूलों की आँखें खोल धरा अपलक देखती तुम्हारा मुख,
स्थिर रह पाता न समीर मत्त, मँटता न स्पर्श का उर में सुख !

खोजतीं अथक नदियाँ वन - वन, बज उठतीं लहरों की पायल,
चलती अदृश्य - सी तुम भू पर, हँस उठते रोमांचित तृणदल !

कँपता तारों में भाव - मुग्ध निःस्वर अनन्त का हृत्स्पन्दन,
आता न समझ में चन्द्र - ज्वाल पागल समुद्र का उद्वेलन !
अनुभव कर गुह्य उपस्थिति का अन्तर सहसा होता तन्मय,
आकर्षण तुम क्षर जीवन की जिसको न काल का भय संशय !

मन कभी देखता जब पीछे लगता, जैसे बीता हो क्षण,
भावी, नव सम्भावना लिए, खोलती अगोचर मुख-गुण्ठन !
शतियों के भर-भर कलश काल तुमको करता रहता अर्पित,
तुमसे वियुक्त जो काल-ग्रास, तुममें रत मृत्यु परे जीवित !
तुम रूपों की हो सूक्ष्म रूप, भावों की भाव हृदय-गोचर,
ओ पारमिते, तुममे अक्षत निज मूल-योनि में सचराचर !

विद्रोही यौवन

मचल रहा भू - यौवन !
मचल रहे नव तरुण,
मचलतीं तरुणी, कुण्ठित जीवन !

कौन बोध वह,
कौन भाव ?
जिसको न ग्रहण कर पाता
अब प्रवयस् मन !

जन धरणी की ज्वाला जो टाँगो जघनों से उठकर
पैठ उदर में सुलग रही छा जन - अन्तर में दुस्तर !
प्राणों की यह हाला करती यौवन को मद-विस्मृत !
झूम रहे तन, झूम रहे मन, झूम रहे दृग विस्मय-विस्तृत !

समझ सकेगी नही प्रौढ़ मति युग मन का उद्वेलन,
हाला डोला, ज्वाला गिरि पर कौन करेगा शासन !
उग्र क्रान्ति चाहिए आज जीवन का हो रूपान्तर,
यौवन - स्वप्नों से हो मुकुलित मन का मुक्त दिगन्तर।

अजगर - सा रेंगता काल श्लथ गिर विघटन-घाटी में—
रुका सुलगने को पतझर मधु ज्वाल शैल - पाटी में !
रूढ़ि रीतियों में पथराया बन्दी जन - भू जीवन,—
धरा - धैर्य का बाँध टूटता आने को युग - प्लावन !

कारा, गत विधान जड कारा, विद्रोही भू - यौवन,
तड़क रही अब लौह श्रृंखला निकट मुक्ति का शुभ क्षण
प्राण - सुरा पी विश्व चेतना सृजन नृत्य लय मे रत
पावक - पंखड़ियों, हालाहल - मधु का करती स्वागत !

स्वर्णिम छते
हिम-समीर के बाहु-पाश में
सिहर-सिहर कर!

धूल धुन्ध से
दृष्टि मन्द पड़ जाती,
कँपता
नग्न अस्थि-वन-पंजर!
स्नायु-रेख, त्वक् शेष
प्रेत मधुऋतु का मूर्त, दिगम्बर!

यह वृद्धावस्था भी पतझर!
झरते दुर्बल प्राणों के दल,
रेखाकृति तन रहा न मांसल,—
ऊष्मा - रहित श्वास
ठण्डी चल,
अंग दुखाती, आलस मे ढल!—
एक विश्व ही होता जाता
अब दृग - ओझल!
वह जो भी हो,
तन को ही छूता जर्जर
प्रवयस् का पतझर!
विश्व प्रकृति सहृदय
भर देती रिक्त पात्र फिर
नवल चेतना में मुकुलित कर
हृदय दिगन्तर!

जगतीं नयी कोंपलें क्षण में,
भाव - बोध नव उगता मन में,
अपने को अभिव्यक्त चेतना
करती अब अन्तर्जीवन में!

रिक्त नहीं हो उठे प्राण मन,
मुक्त प्रहर्ष बरसता,—
उर - घन
नव विद्युत्-शोभा-लेखा से चेतन!

पूर्ण पूर्णतर होता जाता
मन का जीवन प्रतिक्षण!
मिलें, धूल में मिलें
जीर्ण गत मूल्य, विचार
तर्क रत चिन्तन,—
झरें शीर्ण दल,—
मुक्त देह रज-तम से
हृदयासन पर पावन

हुआ प्रतिष्ठित अब
अन्तर का अक्षय यौवन !—
गाता उर भू-मंगल !

साध्य

सध जाते जब वीणा के स्वर
स्वतः मौन संगीत
फूटने लगता भीतर !
आकस्मिक भी श्वास-स्पर्श से
बज उठता आनन्द तरंगित
अन्तर थर् - थर् !
ठीक कहा है,
हृदय-क्षेत्र यदि प्रस्तुत हो तो
बीज स्वयं ही पड़ जायेगा
उसमें आकर !
बहुत दूर तक स्वतः साधना
साध्य, सिद्धि है,—
दोनों ही में
रस-साधक हित कहीं न अन्तर !
और, बात यह,
साधन साध्य मनुज के वश में,
सिद्धि भले ही हो केवल
भगवत् करुणा - वर !
किन्तु सिद्धि क्या काम्य ?
सिद्धि सुख विस्मृत करके
सतत साध्य हित
तन्मय रहना ही श्रेयस्कर !
वैसे—

सिद्धि साध्य साधन सब
प्रभु-इच्छा पर निर्भर
ईश्वर ही को होना अब
दिङ्मूर्त धरा पर !
और नहीं गति,
भू जीवन निर्माण करे नर,
अन्तर का दर्पण हो बाहर—
स्वर-संगति में बँधे उभय
अविनश्वर !

अनन्य तन्मया

मा, तुम मेरी रक्त-शिराओं में गाती हो,
सुनता मैं संगीत तुम्हारा हृत्स्पन्दन में,—
नयनों मे दिक् शोभा, नासा में सुगन्ध बन
प्राणों में आनन्द छन्द नित बरसाती हो!

तुम मुझमें ही रहतीं, अनुभव होता प्रतिक्षण,
तुम्हीं इन्द्रियों की बहुमुख गति करती धारण!
सचमुच, मैं आवरण, चेतना तुम रस पावन,
मेरे हृदय-कमल को सिद्ध बनाये आसन!

स्मरण मुझे, जब मेरा मन हो उठता तन्मय
मेरा तन भी चिद् घन तन मे हो जाता लय!
निखर देह मे आता विद्युल्लेखा यौवन,
उठ कदम्ब-गेंदों-से चुभते मुग्धा के स्तन!

रोम - रोम हो उठते स्मृति आनन्द तरंगित,
उर रहता सौन्दर्य-मुग्ध, रस ज्वाला वेष्टित!
ज्ञात रहस्य मुझे अब क्यों एकाकी जीवन,—
निज करुणा में मुझे वर लिया तुमने गोपन!

तभी कभी न हुआ एकाकीपन का अनुभव,
सदा हो सका साहचर्य-सुख तुमसे सम्भव!
तृण-सा भार लगा वर्षों के वय-पर्वत का,
झेला हँस-हँसकर संग कटु संघर्ष जगत् का!

नही जानता, मा, तुम कब कैसे आती हो,—
बन जीवन-प्रेरणा नित्य नव मुसकाती हो!

जीवन और मन

अनुशासनहीनता ? इसे युग-धर्म कहूँ क्या ?
शासन करने वाले स्वयं नहीं अनुशासित,
पथरा गया चरित्र-हीन मन भ्रष्ट प्रौढ़ि का,
अक्षम, समझ न पाता तरुण अभीप्सा किंचित्!

जीवन का प्रतिनिधि यौवन—उसको परिवर्तन
आज चाहिए रहन-सहन, जीवन पद्धति में,
वह अधीर, झंझा-समुद्र-सा अन्तर्मथित,
उसे नही विश्वास आत्म-श्लथ युग-मन गति में!

पावक गुण - धर्मा जीवन, शशि का प्रकाश मन,
जन-भू यौवन ज्वाला-बाँहों मे दिग्-वेष्टित!
मन द्रष्टावत्—जन-भू गतिविधि का सयोजक
कब? जब जग-जीवन विकास-क्रम प्रति वह अर्पित!

ग्रौर नहीं, वह केवल युग-युग का मृत संचय,
जीवन को जग मन को करना पडता जाग्रत,
दूर हुग्रा युवकों का भ्रम, गत जड मन के प्रति
विद्रोही ग्रब वह,—भू-जीवन करता स्वागत !

छिन्न-भिन्न करने धरणी के लौह-पाश सब
मनःशिराग्रों मे शोणित करने संचारित,
(मन जीवन का चक्षु—न जीवन से विराट् वह !)
नये प्रेरणा पावक से ग्रब जीवन प्रेरित !

ग्राग्रो, घातों पर दृढ घात करें जड मन पर,
मोह-पाश गत ग्रभ्यासों के हो शत खण्डित !
ग्रन्ध शक्ति की कारा से हो मुक्त चेतना,
रूपान्तर हो जग का, जीवन मन नव निर्मित !

ग्रग्नि-ज्वार पर चढकर ग्राता नव भू-यौवन,
हटो, हटो,—निष्क्रिय मर्यादा-तट हों मज्जित !
ग्रात्म-नग्न हो युग धारण करता नव पल्लव,
सृजन-ग्रश्व-पतझार धूलि से जन-मुख शोभित !

जीवन-क्षेत्र

पहिले रहना सीखें लोग, उठे जीवन - स्तर,
पीछे सोच-समझ या जान सकेंगे निश्चय !
जन-भू जीवन-क्षेत्र,—सृजन प्रिय, गुह्य बोधमय,
बुद्धि जानती भव-स्थितियों से कर निज परिणय !

क्या विचारणा ? जन-भू स्थितियों से सम्भाषण
मनश्चेतना का ! महत्व उसका न गहनतर
ग्रात्मा के हित !—ग्रात्म-बोध ही जीवन-माखन,—
प्रेम-ज्योति ग्रात्मा, जग-जीवन जिस पर निर्भर !

जग जीवन से पृथक् न ग्रात्मा की सार्थकता,
क्योंकि प्रेम वह : मातृ-प्रीति जो करती धारण
ग्रमृत ग्रंक में जीवन-शिशु को पाल पोसकर
बोध-दुग्ध से : करुणा बन करती संरक्षण !

ग्रात्मा से न पृथक् जग-जीवन की व्यापकता,
वह चिद् दर्पण, जिसमें जग जीवन मुख बिम्बित !
ईश्वर ग्रात्मा की क्षमता – जीवन में प्रसरित,
जो विकास क्रम में ईश्वर-नर से संचालित !

मन से जीवन का विकास सम्भव न कथंचित्
गणित-यन्त्र वह, हानि-लाभ का बहुविधि पण्डित,
गुह्य प्रेरणा से जीवन-ग्रावेग समर्थित,
क्रान्ति-पथी वह, स्फीत सिन्धु, तट करता मज्जित !

आज बिदा लेता मन से युग—शत मुख जर्जर,
बुद्धि, शिखर पर चढ, होती जीवन-पद लुण्ठित !
बिना हानि के लाभ कहाँ ? यह विश्व विपर्यय,—
उपचेतन उठ गत चेतन को करता मर्दित !

आओ, आवेशों की ज्वाला का केतन ले
पर्वत-बाधा पार करो, भू के नव-यौवन,
यह शिव डमरु : जगन्मंगल की सूचक दिग्-ध्वनि,
ताण्डव करता उर में मत्त रुधिर का प्रति कण !

पौरुष

काम-गन्ध से बहुत अधिक चिपके रहते हम,
मुक्त चेतना के स्वतन्त्र सुख से चिर वंचित;
काम तल्प में क्षण मादन आनन्द असंशय
किन्तु गूढ अवसाद लिये उसका सुख किंचित् !

क्योंकि मनुज आत्मा का ध्येय महत्तर उससे,
काम पंक में लिपटी रह सकती न निरन्तर !
बहिर्भ्रान्ति मन उन्मद भोगवाद से पीड़ित,
भौतिकता वरदान न अब, अभिशाप भयंकर !

प्राणों की हँसमुख गोरी सरसी मे डूबी
उठ पाती मति नही, भँवर रति-रस का दुस्तर,
आरोहों पर चढ अन्तर के देख न पाती
सुरधनु चिद् वैभव के खुलते स्वर्ग-दिगन्तर !

अद्भुत सुख है जग जीवन सागर तरने मे,
लहरों संग उठ-गिर, भँवरो के मुख में पडकर,
हिल्लोलों से लडने, ग्राहों से भिडने में,
पौरुष प्रेमी मनुज चेतना को किसका डर ?

विश्व-वारि मन्थित अब अम्बर-पथ छूने को,
उडता उड़न खटोले में - सा जीवन सागर,
चन्द्र ज्वार अश्वों पर चढ़कर देख रहा मन—
महत् दृश्य यह, जन भू का होता रूपान्तर !

जन धरणी का आमन्त्रण यह स्वर्ग लोक को
जो उसके ही जघन-कूप में-सा अन्तर्हित,—
बाहर निकले मनुज, कूप-मण्डूक रहे मत,—
ठहरा है उसको जीवन आनन्द अपरिमित !

सुन्दरता का सम्मोहन रच आँख मिचौनी
खेल रहा वह भाव-वीथियों से आ-जाकर
नव संस्कृति के स्वप्नो से अपलक जन-लोचन,
सृजन-प्रेम-सुख से अन्तर्मुख भू नारी नर !

इतिहास भूमि

पूर्वग्रहों से गहन विदीर्ण धरा का अन्तर
पड़ीं दरारें जन-मानस कर्दम में दुस्तर !—
सूख गया चेतना स्रोत,—हम मध्ययुगी नर,
मुण्ड मतों, प्रान्तों, व्यूहों में बँटे भयंकर !—
घायल लघु उर दुखते तो दुखने दो क्षण भर
मध्य युगों की परत तोड़नी अब भू-मन की,
हमें नयी इतिहास-भूमि पर स्थापित करनी
राष्ट्र एकता : प्रतिनिधि हो जो युग-जीवन की !
अलम् नहीं सांस्कृतिक ऐक्य—अन्तर्जीवन-प्रद,
बाह्य वास्तविकता हमको करनी संयोजित,
अन्न प्राण मन के स्तर जन-भू के समृद्ध कर
बहिरन्तर करना भू-जन-चैतन्य संगठित !
राजनीति औ' अर्थशास्त्र के बिना भले ही
जी लें जन—राष्ट्रीय ऐक्य के बिना न सम्भव,
वह इन सबसे गहन, महत्तर,—जीवन-प्रतिमा
अंग बाह्य-साधन जिसके, वह साध्य, वही भव !
जीवन का सिद्धान्त—एकता मे अनेकता,
स्थापित कर एकता विविधता में चिर वांछित,
(संरक्षित रख जीवन का वैचित्र्य)—मनुज ने
भू पर की संस्कृति, समाज, सभ्यता प्रतिष्ठित !
राष्ट्र ऐक्य के लिए बाह्य बल भले अपेक्षित,
पर अन्तर्बल कहीं अधिक आवश्यक निश्चय,
भाषा ही स्वर्णिम प्रतीक उस अन्तर्बल की
सबल चेतना रज्जु—बाँधती हृदय असंशय !
प्रतिक्रिया क्षण-स्थापित स्वार्थों, द्वेष-बुद्धि की,—
जो विरोध के भूमिकम्प से जन-मन स्पन्दित,
राष्ट्र चेतना लाँघेगी भूधर-विरोध सब,
खण्ड-खण्ड युग-धरा पुनः होगी एकत्रित !
भाषा के रे मूल गहन अन्तश्चेतन में,
भारत का अन्तश्चेतन भव का अभिभावक,
स्वर्ण राष्ट्र बनना ही उसको,—भेद भाव की
राख हटेगी, जो कि ढँके आत्मा का पावक !
छायी अब आकाश - बेलि अंग्रेजी भाषा—
प्राणशक्ति भू-जीवी तरु की जिससे शोषित,
मुण्ड-भक्त अब देश, धरा-चेतना पराजित,
देह अन्न से, मन विदेश की मति से पोषित !

कहाँ रहा अस्तित्व हमारा ? परान्न सेवी,
पर-विचार जीवी, निज भू-आत्मा से वंचित,
पर-धन पोषित, आत्म-तेज-विश्वास-हीन जन,
पंख मोर के लगा, स्वयं को कहते शिक्षित !

तपता, लो, अब अन्तश्चेतन-सूर्य प्रखर-कर,
उमड़ रहे उपचेतन सागर में काले घन,—
जगता नव विद्रोही यौवन धरा-वक्ष का,
पोंछेंगे लपटों के कर भारत मुख लांछन !

मूलो स्थापित स्वार्थों के कर्दम-कीड़ों को,
प्रस्तुत रहो रुधिर की नद-नदियाँ तिरने को,
लाँघो विघ्नों के पर्वत, संकट के खन्दक,
निकट भविष्यत् में भारत के दिन फिरने को !

आन्तर-क्रान्ति

वज्रादपि कठोर, फूलों-सा कोमल अतिशय,
यह मानव का हृदय !—आज निष्ठुर निःसंशय !
क्योंकि अनैतिक भव-विधान, खल क्रूर शक्ति-मद
रहा न जन-भू-जीवन के प्रति अब मंगलप्रद !

बुद्धि विजित होती जब अन्तरतम निर्मम बन
विश्व प्रगति की रश्मि स्वयं कर लेता धारण !
भू-लुण्ठित होता द्रुत गत सदसत् का खँडहर,
उमड़ नया आवेश बुद्धि मन से अति दुस्तर
वन दावा-सा फैल ताप जग के लेता हर !

सुख-सुविधा में पले स्वल्प नर समझ न पाते
क्यों निर्दय विप्लव-युग भू-जीवन में आते !
भौतिक-भव-आधार लोकगण हित कर निर्मित
हृदय चेतना होती नव जीवन में विकसित !

दया क्षमा औ' प्रेम कर सकें भू पर विचरण,
हो समाप्त अस्तित्व जनित कुत्सित संघर्षण !
भाव क्रान्ति ही से सम्भव नव युग परिवर्तन,
सारथि हृदय, बुद्धि अर्जुन बन जीते युग-रण !

सावधान ! सत्ता दुर्योधन लगा मनुज मुख
पद विलास रत, छीन न ले, छल से भू-जन सुख !
संघर्षण अनिवार्य, तोड़ने शृंखल दुष्कर,
अग्नि परीक्षा,—रक्त स्नान हित हों जन तत्पर !

आज अहिंसा स्थापित स्वार्थों का कर पोषण
हिंसा की पर्याय—गरल - रस - कंचन - घट बन !
हृदय द्वार जब खुलते होती शक्ति अवतरित,
मति-भय-संशय-मल संग धोती भू-कल्मष नित !

दशमुख रावण—पर, सहस्रमुख रे जग जीवन,
विजय सत्य की करती जन मंगल संवर्धन !

जीवन ईश्वर

ईश्वर के पीछे तुम क्यों इतने पागल, मन,
जीवन स्तर पर मुझे चाहिए ईश्वर दर्शन !
लाभ भला क्या मन के आरोहों पर उड़कर
श्री सुषमा छायाओं पर कर प्राण निछावर !

खोल बोध के अन्तरिक्ष आनन्द रश्मि स्मित
सूक्ष्म चेतना में लिपटा अन्तर्मन दीपित !
आत्मा के स्तर पर आलोक-उदधि में मज्जित
मैं न चाहता रहूँ भाव-तन्मय, समाधि स्थित !

जग-जीवन से पृथक् नहीं ईश्वर मेरे हित
मुझे ज्ञात, जगती में होना उसको मूर्तित !
जग विकास-क्रम में ईश्वर-क्षमता से गर्भित,
शुभ्र चेतना-दर्पण, जिसमें छबि भर विम्बित !

सम्भव तभी समग्र रूप में प्रभु के दर्शन
जब वे तन-मन प्राण हृदय कर जन के धारण—
विश्व-रूप में होंगे प्रकट सृजन-महिमा में,
श्री शोभा मंगल सुख में, श्रम की गरिमा में !

जीवन कर्म

जीवन का प्रतिनिधि हो मनु सुत मानव,
श्रेय इसी में—ऐसा मेरा अनुभव !
केवल मन की भर उड़ान, छू बोध के शिखर
किसे लाभ ?—मदिरा पी स्फीत विचारों की नर—
आत्म-तुष्टि से घिरा मध्यवर्गीय अहं-रत,
निज विशिष्ट व्यक्तित्व बनाये रहता सन्तत !

विचरे भू पर विविध सन्त दार्शनिक, विचारक,
कवि, योगी, आदर्शों के निष्काम प्रचारक—
लाभ हुआ क्या जीवन को ?—वैसी ही भू-स्थिति,
बुद्धि उगल चिद् ऊर्ण न सुलझा पायी अथ-इति !

श्री अरविन्द, रवीन्द्र—सभी अन्तर्नभचारी,
उन्हें नमन करता सविनय कवि-मन संस्कारी !
जीवन कर्म न हो पाया जन-भू-संयोजित,
विविध मतों में दीर्ण हो सका मन न संगठित !

व्यक्ति आज सन्त्रस्त निगल ले उसे संगठन,
मुक्ति-वाष्प ले छीन न सामाजिक अनुशासन !

किन्तु व्यक्ति क्या मुक्त ? विगत चेतना संघटन
शासित करता जन को, मन उसका ही वाहन !
वह त्रिशंकु-सा टँगा अधर में घूम रहा नित,
उसकी मौलिकता ? गत पावक की स्फुलिंग मित!

अन्तर्मूल्य मनुज का तब होगा परिवर्तित
नव्य संगठित जीवन स्थितियाँ हो जब विकसित—
नव संस्कृति प्रासाद गढ़ेंगी दिग् भू विस्तृत,
उपयोगी वैचित्र्य जगत् का रख संरक्षित !

विश्व प्रगति के लिए अतः ही पूर्ण संगठित
जीवन-कर्म मनुज को निज करना निर्धारित !

अन्तर्हिम-शिखर

हिम की शाश्वत नीरवता में दबे गिरि शिखर
मुखर हो उठे मन में सहसा,—देख रहा मैं
निखर उठा बोझिल वाष्पों का धूम्र दिगन्तर !

साँस स्तब्ध, दृग निर्निमेष, क्षण समाधिस्थ-से,
बदल गया द्रुत भाव-द्रवित हो तद्गत अन्तर !—
लीन कुहासे हुए कहाँ जाने सुख - दुख के,
स्पर्श पवित्र अलौकिक सुन्दरता का पाकर !

सुन्दरता, अकलुष सुन्दरता के चरणों पर
हृदय, करो मेरा तन - मन सर्वस्व निछावर !
भरो कला का, मनोज्ञता का दाय अनश्वर,
सुन्दर ही शिव सत्य रूप धर हो दिग् भास्वर !

मर्मर करते तरु दिगन्त में आकुल स्वर भर,
गुह्य बोध से तरु-वन-अन्तर कँपता थर् - थर् !—
झुकती सन्ध्या गिरि घाटी ढालों में निःस्वर,
घिरता धीरे धूमिल तमस—विशाल छत्र-सा
खुलता शिखरों पर जगमग अपलक ताराम्बर !

प्रतिदिन का यह दृश्य ! चीर कर तम का सागर
स्फटिक तरंगो-से, स्वर्गिक शोभा में स्तम्भित
हिम करीट के शिखर वाष्प-पट से आच्छादित
अब भी करते मन की आँखों को आकर्षित !
वे अन्तर्जग में हों गोपन रहस प्रतिष्ठित !

मानव जो कि विधाता की सिरमौर सृष्टि वर,
निश्चय, उसका अन्तर्जग सच्चिदानन्द के
श्री शोभा पावकसे निर्मित,—अभी अविकसित भू जीवन के
धूम वाष्प कण उसे किये रहते घन परिवृत !

अन्तःशिखरों ही की झलक मिली हो मन को
स्वर्ग विचुम्बी हिमगिरि गरिमा में दिङ् मण्डित !—
इसीलिए तन्मय उर भूल गया था जग को
अपनी ही अन्तःशोभा में हो अन्तःस्थित !

विद्या विनम्रता

मनुज न हो प्रतिबद्ध न्यस्त स्वार्थों प्रति किंचित्
विश्व प्रगति के प्रति मानव अन्तर हो अर्पित !
तभी पूर्वग्रह हीन सर्वग्राही मानव मन
भू जीवन रचना हित बन सकता सत्साधन !

लोक समस्याओं का सम्यक् समाधान कर
मन समग्र-मति सत्य ग्रहण कर सकता निर्भर !
आज कहाँ सद्विनय, कहाँ वह आत्म समर्पण ?
भू पर केवल निर्मम स्वार्थों का संघर्षण !

शक्ति-अहं, बौद्धिक-मद धन-मद से नर दर्पित,
सत्य दृष्टि से ओझल, अन्तर अघ से मन्थित !
महत् पर्वताकार ज्ञान भी केवल रज-कण,
विनय नही यदि, बोध-दर्प से यदि कुण्ठित मन !

विनय समर्पण अकलुष रखते उर का दर्पण,
ईश्वर का मुख बिम्बित मिलता जग में गोपन !
सृजन - कला - सौन्दर्य जगत् से आज बहिष्कृत
सूक्ष्म हृदय-ऐश्वर्य-शून्य अब मनुज यन्त्र मृत !

अजेय शक्ति

बोध-रश्मि ही नहीं, शक्ति भी हो तुम अविजित,
हृदय प्राण मन, अंग-अंग हो उठते झंकृत !
शक्ति - स्पर्श से मन सहसा तन से हो बाहर
थिरक हर्ष से उठता,—मैं उसको सहेजकर !

किसी तरह बूढ़े अंगों मे ठूँस संकुचित
धारण करता सृजन-तड़ित् अन्तर मे पुलकित !
शक्ति स्रोत तुम सृष्टि मर्म में मौन प्रवाहित,
विकसित करती जीवन, भू-मंगल संवर्धित !

अतिक्रम कर मन की सीमाएँ जब तुम आती
नया क्षितिज ही उर मे उद्घाटित कर जाती !
लिपट सूक्ष्म सौन्दर्य-चाँदनी मे जाता मन,
विद्युत्-घन आनन्द हृदय में करता नर्तन !
पीले पत्तो-से सदसत् के क्षत पड़ते झर,
एक नील निरपेक्ष लोक में जगता अन्तर !

विनय द्रवित, चरणों में नत होता उर अर्पित,
नये शक्ति पावक से दीपित होता शोणित !

लगता, नहीं असत् से जग को रंच मात्र भय,
तुम अजेय जीवनी-शक्ति, सदसत् जिसमें लय !

मनुज सत्य

घेर लिया सौन्दर्य-मेघ ने उर का अम्बर,
बांध चपल आनन्द-तड़ित्-बाँहों में अन्तर !
वह सहस्र सुरधनु बखेरता बोध-रश्मि स्मित,
सुषमा ज्वाला में न्हाती कल्पना चमत्कृत !

गिरि-बाला सी सरल भावना- आत्म समर्पण
करती उस सौन्दर्य स्पर्श को तन्मय निःस्वन !
मन का अनुभव : ये शोभा-छाया-वीथी भर
भाव प्रवण उर को ले जाती भुला निरन्तर !

ओ तुम प्राणों के पागल आनन्द अनामय,
बिलमा रह सकता मैं तुममें नहीं असंशय !
अग्रदूत मैं प्रीति - वह्नि का,—रूप-हर्ष-कण
झर-झर पड़ते सित स्फुलिंग-से उससे प्रतिक्षण !

अमर प्रीति की हृदय-ज्योति में स्वर्ग सृजन कर
निर्मित करने आया मैं भू-जीवन सुन्दर !
बिलम न सकता मैं श्री शोभा सम्मोहन मे—
अविरत गति मैं, अविरत गति,—रस सृजन प्रवण मैं!

मस्तक पर धर दिव्य कला देवी को सादर
भू-मंगल हित मैं शिव चरणों पर न्योछावर !
मनुज-सत्य स्थापित कर मनुज-प्रकृति की भू पर
मैं ईश्वर का भी करने आया रूपान्तर !

सहज साधना

प्राण, तुम्हारी माला की ये गुरियाँ पावन
मुझे सिखाती जीवन में गोपन अनुशासन !

संख्याओं का प्रिय जप बाँधे रहता मन को,
भटक न पाता मनःक्रियां रत जीवन क्षण को !
ये माला की गुरियाँ मन के ही सित मनके,
संख्याओ का जप लय में रत छन्द सृजन के !

ज्यों-ज्यों प्राणों की वीणा के सधते लय-स्वर
वह तन्मय गायन अनन्त में समा निरन्तर—
व्याप्त विश्व श्रवणों मे हो उठता श्रुति-मादन,
तडिल्लहर का करती मन की लहर अतिक्रमण !

आमन्त्रित करता तुमको मेरा तद्‌गत स्वर
रोम सिहर उठते, स्पन्दित हो उठता अन्तर !—
क्या देखता मनोनयनों से विस्मय-कातर—
ओ निःसीम ससीम से परे, उर-तन्त्री घर !
तुम्हीं सँजोती छन्द प्रीति का राग छेड़कर,
तुम्ही विश्व हो मुझमें—सूक्ष्म, अभिन्न परात्पर !

हृदय बोध

एक दृष्टि से काम प्रीति ही का रे अनुचर,
जीवन का सन्ताप निखिल मन से लेता हर !
पड़ा क्रूर संघर्ष-भँवर में अब जन-जीवन,
इसीलिए बढ़ रहा काम-सुख का आराधन !
मुक्ति शिराओं को मन की देता रति-सेवन,
चिन्ता ज्वाला दग्ध प्राण करते रस-मज्जन !
बहिर्भ्रान्त भौतिक युग का यह अभिशापित वर,
भोगवाद के पीछे पागल आत्म-विजित नर !
मानव-जग का श्रेय न, पर, इससे संवर्धित,
सम्यक् यह, क्षण-भोग प्रीति सुख के हो आश्रित !
बिना प्रीति के काम, नारकी कृत्य, असंशय,
सूक्ष्म भावना इससे विक्षत होती निश्चय !
हृदय-शिराओं के हित पाशव-रति अति घातक,
मानवता की गरिमा हित भी निश्चय पातक !
आज मनुज, मन देह प्राण भर, हृदय न विकसित,
बुद्धि-भ्रान्त, मान्यता-शून्य, रुचि स्थूल, असंस्कृत !
हृदय-बोध ही से इन्द्रिय सम्यक् संचालित,
आत्म-विमुख नर-बुद्धि, हृदय जो रुद्ध, अविकसित !
प्रीति पाश में बँधें युवक - युवती भू पथ पर
सृष्टि प्रगति, जन मंगल हित बन जीवन-सहचर !
सुन्दरता प्रतिनिधि स्त्री, सुन्दरता हो आदृत,
नारी तन मन्दिर—श्री सुषमा प्रतिमा स्थापित !
काम-कूप बन सृजन-प्रेम का सागर विस्तृत
उठे मुक्त आत्मा के नभ में चन्द्र ज्वार स्मित !
स्वर्ग गवाक्ष खुलें अन्तर में मनोविभव के,
नव भावोन्मेषों के, नव जीवन गौरव के !
काम-भूमि ही की रे प्रीति शिखर श्रेयोन्नत,
प्रीति-काम नव यौवन का उर करता स्वागत !

चार्वाक

देहवाद के सम्भवतः तुम रहे प्रचारक!—
कैसी थी वह देह?—नहीं उससे परिचित मैं,—
क्या वह रज थी जरा मरण रुज् भय से विरहित?
प्रिय चार्वाक, नही तुम वह कह पाये, सम्भव,
कहना था जो तुम्हें,—कभी ऐसा हो जाता!

कृच्छ्र-साधना, संयम-तप, साधन से समधिक
साध्य बन गये थे तब, जड़, निषेध विधि पीड़ित,
रिक्त पारलौकिता ही रह गयी ध्येय थी,—
शास्त्रों के आकाश-बेलि से शब्द जाल में
उलझे पण्डित, मृत अमूर्त तर्कों के लिपटे
बोध-ऊर्ण में, तुम्हें चुनौती देते होंगे,
और तिलमिला कर तुम उससे, क्रुद्ध नाग-से,
फुला बुद्धि का उद्धत फन, फूत्कार मारकर,
आस्तिक-दर्शन को डँसने में उलट गये द्रुत!

क्या प्रत्यक्ष न यह? मानव पीढ़ी दर पीढ़ी
आता पृथ्वी पर—मानव ही उसको लाता!—

मृत्यु-द्वार मे कर प्रवेश रुज् जरा जीर्ण तन
नव यौवन से मण्डित, नव चेतस् से भूषित,
विचरण करता जग मे फिर—किस लक्ष्य के लिए?
क्या यों ही दुहराती विश्व प्रकृति निज लीला?
नहीं,—प्रयोजन निश्चित ही कुछ निहित गूढ़तम
विधि विधान में, सृष्टि सरणि मे,—जो केवल अनुमान ही नहीं!

दीख रहा प्रत्यक्ष,—आदि उस बर्बर युग से
मनुज शनैः विकसित संस्कृत हो—और अनेकों
बाह्य-विघ्न-बाधा के दुर्गम शृंग लाँघकर
मानस-संकट के बहु सागर तैर धैर्य से,
साहस से,—वसुधा-कुटुम्ब की महत् कल्पना
मूर्तित करने को आतुर—बँध विश्व-ऐक्य में!

देह व्यक्ति की नहीं, कि ऋण के घृत से पोषित
वह इन्द्रिय-मदिरा पी-पी कर बने अराजक!
वह केवल सामाजिक-तन की लघु प्रतीक भर!
व्यक्ति देह नश्वर, पर मानव अविनश्वर है
निज समाज-तन में,—शाश्वत निज विश्व देह में!

उसी अमर देही का, भव विकास गति क्रम मे
ऋण के घृत से भी पालन करना समुचित है,—
यही चाहते थे कहना तुम, सम्भव, उनसे
जो कि पारलौकिक जन, विमुख जगत् जीवन से,
व्यक्ति मुक्ति के रिक्त जाल मे फँसे हुए थे!—

इन अर्थों में मैं भी लोकायत हूँ अविदित !
जला दिया था तुम्हे द्वेष-हृत विपक्षियों ने,
अजर तुम्हारी भस्म जाग नव युग जीवन में
स्वर्ण अंकुरित होगी ! मैं भी रूपवाद का
नम्र प्रचारक, सगुण उपासक, जीवन-प्रेमी !

विश्व रत

नव वसन्त फिर आया ! ...
साँस तोड़ता लेंडी कुत्ता मोटर से दब,
राजमार्ग पर पड़ा, रक्त से लथपथ, जर्जर !

बैसाखी पर चल वह बुड्ढा भीख माँगता
द्वार-द्वार पर फिर डाँटें दुत्कारें सहता !
नंग-धडंगा हाटों में घूमता बेधड़क
वह पागल जो इकलौता सुत किसी सेठ का !

पनघट पर हंगामा अब पानी भरने का,
चिल्लाती औरतें मुहल्ले की, गाली बक !
कुडकी की घुड़की देता है करजदार को
अलस्सुबह ही घुस पठान खँडहर-से घर मे !

अह, कच्ची चूड़ी टूटी सिन्दूर लुट गया,
भरी जवानी छिन्न लता-सी पडी धूल में !
ऐसे कितने दृश्यो को बिसरा कुसुमाकर
मुसकाता क्षितिजों के खुले झरोखो से आ !

वह उतना ही विवश कि जितने करुण दृश्य ये,
उसको मुसकाना, इनको मुरझाना भाता !
मातृ प्रकृति ने सबको किया प्रयोजन वितरित,
पिक गाता, मधुऋतु खिलती, पतझर झरता नित !

सुख-दुख का सम्मिश्रण जग यह बहिर्दृष्टि भर,—
व्यक्ति नियति यह विश्व चेतना से जो वंचित !

यह कठोर हो सत्य, नाल से छिन्न-मूल हो
कुम्हलायेगा फूल !—विश्व वेदना मे तपा
व्यक्ति कभी दयनीय नही होता,—यह निश्चय !
किंग लूथर, कैनेडी, गांधी जीवित उदाहरण ?

व्यक्ति-विश्व

एकत्रित कर पाता यदि जीवन-सागर मे
व्यक्ति महतात्रों की इन लघु-लघु बूँदों को—

यान पार लग सकते विश्व समस्याओं के,
पुनः एक बन जाता मनुज कुटुम्ब धरा पर—
आदि-मनुज-चिद्-घन का जो बूंदों का सीकर !

व्यक्ति बिन्दु की मुक्त महत्ता मुझको स्वीकृत—
पर, जैसा प्रचलित, बूंदों से सिन्धु न बनता !
बिन्दु सिन्धु पहिले से पृथक् अनादि सत्य हैं—

बिन्दु सिन्धु का लय होना भी नियति सनातन !
और सिन्धु की बूंद कहाना भी गौरवप्रद !—
ओस बिन्दु की नियति वाष्प बन उड़ जाना भर!...

वही व्यक्ति रे महत्, विश्व जीवन निज उर में
धारण करता जो : सार्थकता भी उसकी ही !—
विश्व जिसे स्मृति सागर में संचित रखता नित !

व्यक्ति विश्व का यह आदान - प्रदान परस्पर
भव विकास गति क्रम को जीवित रखता सन्तत,—
एक दूसरे के हित भी अनिवार्य सत्य ये !
महाह्रास युग का सूचक यह—व्यक्ति छिटककर
विश्व चेतना से, निज सुख दुख में हो सीमित,
क्षुद्र अहंता में रत !—उसकी सृजन कला भी
रिक्त आत्म-रति द्योतक, व्यर्थ, अमूर्त, वाष्पवत् !
चेतन मन से ऊपर उठने के बदले वह
उपचेतन खोहों में छिप कुण्डली मारकर
पड़ा हुआ : धूमिल छाया-वाष्पों में लिपटा,
निम्न प्राण - दरियों की भाव-गन्ध पी मादन !

विश्व विवर्तन का युग !
विगत व्यक्ति क्षय होकर,
महत् प्रेरणा सृजन चेतना से लेकर,
नव मूल्यों में श्री संयोजित,
बहिरन्तर विकसित,
चिद् विराट् स्वर संगति में बंध भव-संस्कृति की,
आत्म-मुक्त विचरेगा विश्व-मिलन की भू पर !

मूर्त करुणा

देखा प्रातः मधुर स्वप्न में—
शोभे,
पावन चरण चूमने को मैं झुका
तुम्हारे कोमल,
मुझेस्मरण अब,
रंगे अलक्तक से थे गौर
तुम्हारे पदतल,—
लिपटी हो ज्यों उषा
लाज में डूबी उज्ज्वल !

छवि-तन्मय मन
विस्मृत रहा दिनों तक,
विस्मित आँखें अपलक !
दृष्टि नहीं उठ पायी
देखे

रूप-शिखा देही
श्री-शोभा में लहराई,—
रही मौन सकुचाई !
अनदेखे ही देख सका उर
कोटि सूर्य प्रभ
देही की परछाईं !

द्रवित हो उठे
देह प्राण मन
अन्तर्जीवन,—
अह, विस्मय क्षण !

लगा मुझे,
मैं बहता जाता
बहता जाता हूँ सरिता-सा !
रोक नहीं पाता
तन्मयता,—
भाव स्तब्ध थी श्वासा !

लगा मुझे,
मैं फैल रहा हूँ,
फैल रहा हूँ
अब अग जग में,
घर मे, मग में,
वन में, नग में,
दिशि में, नभ में,
बन अनन्त अभिलाषा !

वाष्प बन गया हो अब अन्तर,
उड़ता जाता था वह ऊपर
श्री शोभा का बादल बनकर
सुरधनुओं में लिपटा सुन्दर !—
सूक्ष्म देह धर !

ऊपर उठकर, ऊपर उठकर
देखा मैंने
प्राण, पृथ्वी भी
सूर्य चन्द्र तारा से दीपित
अमित दिगम्बर !

भूमा भास्वर,
पूर्ण परात्पर !

अवचनीय अनुभूति !
स्नेहवश तुमने कातर
फूल-देह धर
मृदु बाँहों में
मुझे लिया भर !

अपने में कर
उर को केन्द्रित,
सम्मुख खोल
विश्व पट विस्तृत !

नाम-मोह

कहाँ हाय, वह शान्त सौम्य जीवन का सुख अब
दुर्बलता जिसको गिनते आधुनिक सभ्य जन,
दाँव पेंच में पारंगत जो वही सफल नर,
सरल स्वभाव महान् मूर्खता का अब लक्षण !

आत्म प्रचार,—इसी पर मानव-जीवन निर्भर,
यही ख्याति, लोकप्रियता, सम्पद् का कारण,
दिग्ध्वनि यन्त्रों से बन नर राई का पर्वत
पिटा डुगडुगी, गाल बजा, करता विज्ञापन !

नाम-मोह से मुक्त,—अब न अविदित महापुरुष,—
अह, अनामता का सौन्दर्य तिरोहित भू पर,
दिशा-भ्रान्त, उन्मत्त, दौड़ता ही जाता नर,
स्वप्न बड़प्पन का दीखा हो उसे भयंकर !

स्वयं मुखर वह, पर न कृतित्व बोलता उसका,
निज दोषों को छिपा—व्यक्त करता वह गोपन,—
उसे न निज अध्ययन, आत्म विश्लेषण ही का
मिलता समय,—अहंता का घेरे सम्मोहन !

उसे कार्य तत्परता, सर्जन तन्मयता या
नियम-निष्ठता में मिलता आनन्द न किंचित्,
क्या असंगता का सुख, इससे रंच न परिचित,
मात्र नाम का मोह उसे—थोथा, अतिरंजित !

विश्व विवर्तन की स्थिति यह भी : बहिर्भ्रान्त मन
खोज न पाता निज महिमा-गरिमा का उद्गम,—
मानवीय भव-सत्य : मनुज को आत्म सन्तुलन
स्थापित करना : जन-भू-स्थितियों को कर अतिक्रम !

भीतर ही रे स्रोत सत्य का, चिदाकाश में,
बाहर के जीवन में करना जिसे प्रतिष्ठित,
जड़ से चालित चेतन—जीवन-हीन यन्त्र भर,
चेतन ही से संचालित जड़ होता विकसित !

आश्वासन

डरो न किंचित् !
जाति, प्रान्त, गत सम्प्रदाय
यदि उठा रहे सिर,
कुछ भी स्थायी नहीं दीखता यदि—
सब अस्थिर,—
गत जन-भू जीवन-मन को होना ही विघटित,
राष्ट्र एकता निश्चय भू पर होगी स्थापित !
उपनिवेश-वासी हम कब से मुण्ड विभाजित,
प्रतिक्रिया यह मध्ययुगी भू-मन की कुत्सित !
भारतीय क्या नहीं, प्रान्त-जीवी भर ही जन ?
साध्य भुलाकर कभी सफल हो सकते साधन ?
मानवीय एकता आज अनिवार्य असंशय,
मानव हृदय पुकार रहा मानव को निर्भय !
नया ऐतिहासिक युग आने को अब निश्चय,
मानव-भू पर होने को नव युग अरुणोदय !
मात्र सांस्कृतिक ऐक्य नहीं पर्याप्त धरा पर,
उसे ऐतिहासिक स्वरूप देना लोकोत्तर !
सामूहिक - स्तर पर जीवन - सुविधा हो निर्मित,
भौतिक - मन्दिर में आध्यात्मिक मूर्ति प्रतिष्ठित !
जन - भू का सार्थक वैविध्य रहे सुरक्षित—
महत् एकता - पट में हो जीवन संयोजित !
खण्ड - खण्ड हम प्रगति करें यह फलप्रद किंचित्,
पर सम्पूर्ण देश भी आगे बढ़े संगठित !
ह्रास - विकृति एकांगी सत्य—प्रगति के पोषक,
जीवन - पतझर नव वसन्त - आगम उद्घोषक !

गम्भीर प्रश्न

कौन हाय, बदले भू-आनन !
शिक्षित नहीं हमारे जनगण,
आत्म प्रबुद्ध न वे युग चेतन,
समझौता कर लेते बहु विधि
बद्ध जीवन स्थितियों से प्रतिक्षण !
युग युग से वे शोषित मर्दित,
निर्मम नियतिवाद से पीड़ित—

नहीं लोक-बल सजग संगठित,
उनके हित जग जीवन ग्रविरत
विगत कर्मफल का संघर्षण !

उच्च वर्ग के मानव संस्कृत
निज स्थापित स्वार्थों हित शंकित,
मुक्त न चित्त, पूर्णत: ग्रधिकृत,—
ग्रात्म लाभ के हित यह उनकी
प्रतिबद्धता बड़ी ही भीषण !

नेतागण पद-ग्रर्जन में रत
पद-गौरव ही उनका भारत,
उन्हें चाहिए केवल जन-मत,
उनकी क्षमता कोरे भाषण—
भू-श्रम करने को ग्रसंख्य जन !

कहते, जग ही में परिवर्तन
निर्दय गति से करता विचरण,—
नहीं देश को भय का कारण,
कष्ट सहन ही उन्नति-साधन—
व्यर्थ ग्राज उद्वेलित यौवन !

राजनीति के पण्डित साधक
सबसे बड़े प्रगति के बाधक,—
वे निज निज दल के ग्राराधक,
सभी मात्र पद-मद के लोभी
कौन करे जन कष्ट निवारण !

बौद्धिक भी गुट के प्रति ग्रर्पित,
बुद्धि ग्रहंता-ग्रहि से दंशित,
फिर भी उनसे ग्राशा निश्चित—
जीवन मंगल हित एकत्रित
सजग संजोयें जन-भू प्रांगण !

विद्या से सद्विनय प्राप्त कर
कृत संकल्प, मुक्त रख ग्रन्तर,
युग जीवन उद्घोष स्वस्थ भर
भू-जन को दें नया प्रबोधन,
युग द्रष्टा बौद्धिक, लेखकगण !

सत्य व्यथा

हृदय चाहता वंशी के स्वर छेड़ूँ मादन,
किन्तु गूँज ग्रहि-सी उर डसती फैला विष फन !
चित्त बैठ जाता सौन्दर्य क्षितिज छू-छूकर,
धरा वेदना से मन्थित हो उठता ग्रन्तर !

भाव क्षुब्ध मन करने लगता जीवन-चिन्तन,
गाने को आतुर, रह जाते स्तब्ध, सृजन क्षण !
हृदय-राग बँध जाता मौन व्यथा अंचल में,
रहा कहीं उल्लास न अब नभ में, जल थल में !
काव्य देवता उदय हृदय में होकर गोपन
मर्म-गूढ स्वर में मुझको देते आश्वासन !
शोभा मेरी देह, हृदय श्रेयस् का आसन,
बुद्धि सत्य का करती जन-भू हित अन्वेषण !

आज व्यथा-कृश मेरा तन तपरत भू-जन हित,
विश्व वेदना से मेरी हृत्तन्त्री झंकृत !
कविता मात्र नहीं प्रहर्ष, रस वैभव पोषित,
सत्य-व्यथा उसमे जीवन-गरिमा भरती नित !

वह अन्तर-अनुभूति सूक्ष्म भावों की दर्पण,
मुख करुणा का बिम्ब, ध्येय श्रेयस् संवर्धन !
अन्तस्तप संघर्षण से वह होती विकसित,
वैयक्तिक उद्गारों वश रहती न उच्छ्वसित !
हृदय गहनताओं मे डूब करो आराधन,
कवि, गभीर कवि कर्म चाहिए पूर्ण समर्पण !

भाव स्रोत

मति चिन्तन से घोंट दिया तुमने [illegible],
कलप रही भावना बन्दिनी-सी [illegible],
फेंको मन का बोझ, चहक फिर [illegible],
स्पर्श ग्रहण कर सृजन-चेतना का [illegible] !
विचर सके अन्तर्जीवन-सोना [illegible],
सेंक सके स्वर्गिक क्षितिजों का [illegible],
जड विचार चिन्तना [illegible]
बद्ध परिधि में घूम-घूम [illegible] !

चिन्तन, तर्क, [illegible]
उनसे [illegible]
मुक्त [illegible]
धरा-स्पर्श [illegible]

[illegible]

नव विकास केतन वाहक बन
खोलें नये दिगन्तर !

गीतों का स्रोत

गीत गगन से झरते गोपन !
वे न धरा पर चलते अब
प्रतिरोध जहाँ कटु चलता प्रतिक्षण !

व्यक्ति आत्म-रक्षा हित चिन्तित,
कला-जगत् कुण्ठा से पीडित,
समय कहाँ, जीवन-शोभा को
मनुज हृदय कर सके समर्पण !

आवेशों से जन संचालित,
कूटनीति, संशय, भय पालित,
राग द्वेष, स्पर्धा कुत्सा का
रण क्षेत्र अब जन-भू प्रांगण !

मनुज, हृदय-मूल्यों से वंचित,
सुकृत, सभ्यता से पद-मर्दित,
यान्त्रिक ही बनता जाता,
सन्देह नही, अब मानव जीवन !

परिवर्तन चलता युग-भू पर,
सहृदयता-सम्पद् अब दूभर,
श्रद्धा आस्था ऊपर-ऊपर,
जड यथार्थ ही बना जनार्दन !

अब भी बहिर्जगत् कर मज्जित
कहीं गूढ़ अन्तर से प्रेरित
श्री शोभा आनन्द मधुरिमा
भर देती नव जीवन प्लावन !

नयी चेतना के दिक्-सुन्दर,
खुल-खुल पड़ते मुक्त दिगन्तर,
मनोगहन का तिमिर चीरकर
जगता हृतन्त्री में गायन !

प्राणों की सरिता मे बहकर
नयी भावना की मृद् उर्वर
भू-जीवन को चिद्-वैभव से
अभिषेकित कर देती तत्क्षण !
गीत गगन से झरते गोपन !

पतझर आता
भव-वन चर्मर् गाता !

कौन बजाता डमरु गगन में,
परिवर्तन की भेरी रण मे ?
होती ध्वस्त सभ्यता क्षण में,
सिर पर भय-संकट मँडराता !
पतझर आता
अन्धड़ हर हर गाता !

नग्न सुहाता विश्व दिगम्बर,
ताम्र धूलि से रंजित अम्बर,
प्रलय-नृत्य-रत अन्ध बवण्डर,
ताता थेई ताता !

अये, बिलों से बाहर आओ,
लघु स्वार्थों में मत पथराओ,
मानवता की ध्वजा उडाओ,
अणु-दानव रण-शृंग बजाता !
पतझर आता,
नव युग स्वर में गाता !

मैंने जग को किया अनावृत
वह बहुशाखा-पंजर निश्चित,
उसको बहिरन्तर संयोजित
बनना जन-भू स्वर्ग विधाता !
पतझर गाता !

बाह्य क्षितिज

विश्व क्षितिज पर घिरते अब घन !
भूधर हों उड़ते अम्बर मे
पंख प्रलय के खोले भीषण !
सेना-सी बढतीं सज-धजकर,
भू-रज से मुँह ढाँपे अम्बर,—
कुछ अनहोनी होने को क्या ?
सुनता मैं भू-उर की धडकन !

लपक रही विद्युत् असि क्षण-क्षण,
रुद्र बलाहक भरते गर्जन,
हालाडोला-सा दिक्-कम्पित
जन धरणी पर करता विचरण !

पथरा गया विगत जन-भू मन,
उसको होना फिर नव चेतन,
शान्ति, धैर्य, सद्भाव, स्थैर्य से
तिर सकता नर युग-संकट क्षण !

इसीलिए मुझको गजलें भातीं कविता से,—
उनका एक विचित्र जगत् है, जहाँ कल्पना
वास्तवता से अधिक सत्य लगती, वह यद्यपि
वास्तवता ही को लेकर ऊपर उठती है!
वहाँ बुद्धि निज घुटने देती टेक,—भावना
विजयी हो, छा जाती सूक्ष्म सुरा-सी मन में!

लगता, शायर वस्तु-जगत् का जीव नहीं है!—
वह या तो उससे महान्—हाँ, यही सही है!

हृदय मुक्ति

हृदय-द्वार खोलो हे—भू-मन में बन्दी नर,
गति विकास को दो, जीवन का हो रूपान्तर!

राग द्वेष की बेड़ी पहने
तुम जिन आदर्शों को
समझे स्वर्णिम गहने,—

लौह-शृंखला भर वे मनोविकृति से निर्मित,
मानवीय स्तर पर जीवन को उठना निश्चित!

प्रीति-रश्मि से प्राण कामना को कर दीपित
जन मन को नव श्री शोभा में होना विकसित!

जन-भू प्रतिनिधि मानव आज खड़ा सिर के बल,
मन की सीमा उसे लाँघनी जीवन में ढल!

मुक्त प्राण विचरे नारी
जन-भू प्रांगण पर,
भावी सन्तति वाहक वह
जाग्रत् हो अन्तर!

संस्कृत रुचि हो, शील-सुरभि उर में हो निर्मल,
बहिर्मुक्ति हित दृढ़ संयम-केन्द्रित अन्तस्तल!

प्रेम-मुक्ति ही सम्भव जग में स्त्री नर के हित,
प्रेमहीन जो मुक्ति पतन-भय से वह पीड़ित!

खुलें प्रीति के द्वार, हृदय-मन हों आह्लादित,
अन्तः शोभा से दिगन्त हों जग के कुसुमित!

उर-कपाट खोलो हे, नारी में बन्दी नर,
भू जीवन को दो आत्मा की गरिमा का वर!

प्रार्थना रूप

प्रसव वेदना सह जब जननी
हृदय-स्वप्न निज मूर्त बनाकर

स्तन्य दान दे उसे पालती,
पग पग नव शिशु पर न्योछावर—
नहीं प्रार्थना इससे सुन्दर !

शीत ताप में जूझ प्रकृति से
बहा स्वेद, भू-रज कर उर्वर,
शस्य श्यामला बना धरा को
जब भण्डार कृषक देते भर—
नहीं प्रार्थना इससे शुभकर !

कलाकार कवि वर्ण-वर्ण की
भाव-तूलि से रच सम्मोहन
जब अरूप को नया रूप दे
भरते कृति में जीवन-स्पन्दन—
नहीं प्रार्थना इससे प्रियतर !

सत्य-निष्ठ, जन-भू प्रेमी जब
मानव जीवन के मंगल हित
कर देते उत्सर्ग प्राण निज
भू-रज को कर शोणित रंजित,—
नहीं प्रार्थना इससे बढ़कर !

चख-चख जीवन मधु रस प्रतिक्षण
विपुल मनोवैभव कर संचित,
जन-मधुकर अनुभूति द्रवित जब
करते भव मधु छत्र विनिर्मित—
नहीं प्रार्थना इससे शुचितर !

मानवीय जग

ध्यान-मौन, आत्मा के अम्बर में विचरण कर
जब मैं पुनः उतरता जन-भू जीवन स्तर पर—
लगता कैसा नारकीय जीवन भू-मानव
बिता रहा ! उसको न ज्ञात निज आत्मिक गौरव !

राग द्वेष में सना, काम-लिप्सा से मर्दित
जाति वर्ण-वर्गों लघु कुल मानों में खण्डित—
निज खद्योत अहंता की झिलमिल पर दर्पित
वह, जीवन के रण-क्षेत्र में आत्म-पराजित !

सूख गया रस-प्रोत प्रेरणा-स्रोत हृदय में,
सृजन-हर्ष से वंचित, लिपटा भय-संशय में—
मृत्यु अनास्था दुख के फन से दंशित प्रतिक्षण
बहिर्वास्तविकता का शंकित करता पूजन !

प्राणों के विद्युत् स्पर्शों से काम-दीप्त तन,
अन्ध भोग के गर्तों में डूबा उसका मन!

दैन्य, विषमता, अति तृष्णा से जीवन जर्जर,
बनता जाता नरक धरा-प्रांगण जन-दुस्तर!

कहाँ आज वह आदर्शों के प्रति आकर्षण?
विद्या-दुग्ध विनय, संस्कृत रुचि का संयोजन?

सहृदयता, स्वाभाविकता से सुरभित जीवन?—
आज सहजता-शून्य हृदय कृत्रिमता-पाहन!

पुनः चेतना शिखरों पर कर प्रणतारोहण,
अन्तःश्री शोभा प्रहर्ष में कर अवगाहन—

निर्मित करना मानवीय जग नर को नूतन,
निज अक्षय अन्तर्वैभव का कर अन्वेषण!

निग्रह

दृष्टि चाहिए,
सृष्टि के लिए दृष्टि चाहिए!
अनगिनती मंजरियों से
लद रही डालियाँ,
बौरा उठे तरुण रसाल
भावोष्ण स्पर्श पा
नव वसन्त का!

ज्ञात नहीं
निश्चेतन आवेशों से मन्थित
वन्य प्रकृति को—
वन की वानस्पत्य प्रजा को—
आँधी हहराती रहती नित
दारुण निर्मम!

मौन क्रूर आकाश दीखता,
स्तब्ध दिशाएँ,
शत सहस्र शिशु-बौर
धराशायी होते झर!—
साँस तोड़ तपती भू-रज पर!

वन पशुओं-से
रौंदा करते मृदु वक्षों को
कुटिल-काल के चरण,
दया जो नहीं जानते
और क्षमा न कभी कर सकते!

प्रकृति अन्ध है!—
ठीक कहा है सांख्यकार ने!
शक्तिमत्त वह,
दृष्टि न उसके पास बोध की!

जग जननी, निःसीम यौवना
वह निःसंशय,—
जंगल उसने उगा दिये घन
जन-धरणी पर,
अक्षय रस की
स्नेह-वृष्टि कर!

मानव
जो विकास ध्वज वाहक,
उपवन में परिणत करना
उसको जन-वन को!

जहाँ रूप रस, रंग गन्ध हो,
मलय पवन का प्रीति स्पर्श हो,
पिक कूजन
मधुलिह गुंजन,
जग जीवन मंगल मधु संचय हो!

मानवीय कर
उसे सँजोना जन-भू प्रांगण!
रोक थाम कर अन्ध प्रकृति की
स्वस्थ सन्तुलित गति दे मति को,
काट छाँट करनी उसको,
झंखाड़ झाड़ की
खर कंटक की बाढ़ रोक कर!

सृजन-कला संयम ही की
सौन्दर्य-नींव पर
युग्म-प्रीति का
जन-मंगल का
स्वर्ग बसाया जा सकता नित!

यही दृष्टि चाहिए सृष्टि को!

समर्पण

भूल स्वयं को
जग को करने लगा प्यार जब,
जान सका तब,

कितना दिक् सुन्दर जग जीवन,
कितने प्यारे जगती के जन,
विविध स्वभावों, रुचियों,
स्थितियों के-से दर्पण!

हृदय रुद्ध रह सका न
सरसी - सा कूलों में
लिपटा - अनुभव - शून्य
अहंता की भूलों में,—

वह बह चला सरित-सा
सागर संगम हित बन
अमित समर्पण !

खेला शत जीवन लहरों से
सूर्य चन्द्र चुम्बित अधरों से—
ऊब-डूब कर
तिरता रहा
अतल अकूल बन,
खोकर उसने
सहज पा लिया ही अपनापन !

प्यार, प्यार था दिशा काल पट,
प्यार, डूबने का भय संकट,—
प्यार, मृत्यु के पार नया तट,
प्यार मात्र प्रिय सखा सनातन !

उसको करने लगा प्यार जब
जान सका तब
यन्त्र उसी के
देह प्राण मन !

आत्म-बोध

प्रथम विजय उल्लास जग रहा मेरे भीतर,
जीवन का मुख आज और भी लगता सुन्दर !

बँधा बँधा जाने मन
कैसा करता अनुभव,—
धूम मेघ-सा छाया रहता,
मन ही मन मैं सब कुछ सहता,
सभी बुद्धि की सिद्धि
अन्त में बनती विफल पराभव !

आज हुआ उन्मेष अचानक दृष्टि रही विस्मय से अपलक,
छाया-पट-सा हुआ अनावृत शोभा का मुख स्वयं अगुण्ठित,—

देख सका मैं अपने को
अपनी इच्छा से वेष्टित !

सुन्दर था इच्छा का आनन,
मैंने मुख पर आँका चुम्बन,—

वह मेरी थी,
मैं अब उसका न था,
खुला चिर स्वर्णिम बन्धन !

मुक्त अंक में लिया तुरत भर मैंने उस तन्वी को सुन्दर,
और मूल में गया उसे फिर उसका गुह्य रहस्य समझकर !

झर झर
पीले पात गये झर,
केवल स्थाणु रहा
चिद् भास्वर !
उर दिगन्त फिर
नव वसन्त वैभव से
सहज गया भर !

संस्कृति पीठ

भौतिक युग सभ्यता
मनुज के कटि प्रदेश तट पर स्थित,—
हृदय कमल पर होना उसको
ऋत ऐश्वर्य प्रतिष्ठित !

भारत वसुधे, निःसंशय
आधार करो दृढ़ निर्मित
नव भौतिकता का :
जन जीवन
प्राण रहें न बुभुक्षित !

जीवन की शोभा,
यौवन आकांक्षा हो भू-कुसुमित,
प्राण पीठ हो
आत्मा की गरिमा से
महिमा मण्डित !

प्राणों के आवर्तों में
खो जाय नहीं जन - भू मन,
शील मनुज - संस्कृति का माखन,
मानव आत्मा का धन !

पाद - पीठ भौतिकता,
कटि - भूषण भर प्राणिक - जीवन,
स्वर्ग शिखर से भी उन्नत
मानव,—प्रकाश पावक कण !

विचरो भू पर,
सूँघो प्राणों की सौरभ

जो जीवन,—
संचित करो श्रेय—जीवन - मधु,
गहन भाव - सम्वेदन !

डूबो नहीं जगत् में, निज सँग उसे उठाओ ऊपर,
निर्मित करो धरा - पथ, तुम भू पर ईश्वर - प्रतिनिधि नर !

भरत भूमि,
युग युग से जीवन
तुम्हें रहा भव - साधन,
भौतिकता की विश्व - पीठ पर
ज्योति - चरण धर चेतन
करो अवतरण !—
धरा धन्य हो !

पूरब पश्चिम, दिशि - क्षण
प्रीति ऐक्य में बँधें—
लोक - भू
बनें स्वर्ग - मुख दर्पण,—
मनुज
सृजन सौन्दर्य, शान्ति सुख
करे धरा पर वितरण !

युग पतझर

नव युग पतझर
मन को भाता !
विघटन ह्रास
धुन्ध वन - अन्धड़
यह अपने सँग लाता !

दुर्धर पतझर
जन को भाता !
मर्मर स्वर भर,
कवि विकास क्रम ज्ञाता
पतझर के गुण गाता !

ओ आँधी, ओ झंझा,
युग पतझर की श्वासा,
अब अधीर हो उठे प्राण मन,
अति असह्य लगता भू जीवन,
अन्धकार - सी छायी
उर में घोर निराशा,—
पतझर की अहि - श्वासा !

हहरो तुम, घहरो तुम, सिहर उठ दिङ्मण्डल,
झरें जगत् जीवन के रूढ़ि-जीर्ण पीले दल!

फूटें जन अन्तर में नव भावों की कोंपल
महामरण संग खुल खेले भावी भू-मंगल!

यह क्या, क्या कहता उद्वेलित मानव अन्तर—
मैं ही हूँ युग-पतझर नव मधु का प्रिय सहचर!

प्रलय घुमड़ता क्रुद्ध—उदर में
युग विष था, जो पिया
गरजता अब वह
पंचम स्वर में!

मैं ही हूँ, मैं ही शिव शंकर,
कवि प्रलयंकर—
डमरु नाद करता डिम डिम
अब नये सृजन का,
नव जीवन, नव मन का!

फूट रहीं मेरे रोम्रों से
सम्भावना असंख्य—
रंग गन्धों में गुम्फित
नये वसन्तों ही-सी अगणित,
मनोदिगन्तों में जो कुसुमित!

परिवर्तन मेरा ही प्रिय रथ,
विस्तृत करने आया हूँ मैं
भू जीवन पथ,
विकसित करने
लोक मनोरथ!

मैं सन्त्रस्त न मृत्यु त्रास से
ध्वंस नाश से—
पतझर बन कर
हर हर, झर झर
फिरता जग में मूर्त-अगोचर,
निज पर निर्भर!—
मैं ही जीवन-ईश्वर!

जीवन यात्री

मैं शाश्वत जीवन-यात्री, मन!
मृत्यु-द्वार कर पार निरन्तर
अर्पित कर उसको

निज मृद् तन,—
मैं असीम से आँख मिचौनी खेल
पुनः करता अवरोहण !
प्राणों के यौवन की मदिरा पी-पीकर उन्मद सुख-विस्मृत
तिग्म रूप-ज्वाला मे लिपटा जलता मैं आनन्द उच्छ्वसित !
तिरता शोभा-जल अकूल में रस समुद्र में डूब निरन्तर,
रचता सुरधनु स्वप्न-सेतु स्मित धरा स्वर्ग को बाँहों में भर !
जरा : बोधि-तारुण्य मुझे अब अमृत पिलाता आत्म-तृप्ति कर,
अनगढ़ जन-भू जीवन-पथ के निखिल शोक सन्ताप पाप हर !

देख रहा अब
इच्छा पर आरूढ़ ..
आत्म-द्रष्टा असंग मन—
क्यों जन-भू-जीवन संघर्षण ?
क्या दुख भय संशय का कारण !
कमी नहीं कुछ भी मनुष्य में—
वह निर्माण करे भव-जीवन,
विश्व-बोध सँग
आत्म-बोध कर प्राप्त
करे निर्भय भू-विचरण !
नर अनन्त का यात्री, रे मन !

अन्धड़

उड़ जायेगी क्या भू ?
फू, फू !
उड़ जायेगी वन-भू ?

अन्धड़ आया
धूल धुन्ध के रथ पर चढ़कर,
गिरि कन्धों से कूद
रेणु-अश्वों पर बढ़कर !
ढहते तृण तरु सिहर,
झर रहे पत्त झर झर !
भरी धूल आँखों में, मुँह मे,
थू, थू !
कहाँ खो गयी प्रिय भू !

सी सी सी सीटी बजती
बाँसों के वन में,

हहरो तुम, घहरो तुम, सिहर उठ दिङ्मण्डल,
झरें जगत् जीवन के रूढ़ि-जीर्ण पीले दल!

फूटे जन अन्तर में नव भावों की कोंपल
महामरण संग खुल खेले भावी भू-मंगल!

यह क्या, क्या कहता उद्वेलित मानव अन्तर—
मैं ही हूँ युग-पतझर नव मधु का प्रिय सहचर!

प्रलय घुमड़ता क्रुद्ध—उदर में
युग विष था, जो पिया
गरजता अब वह
पंचम स्वर में!

मैं ही हूँ, मैं ही शिव शंकर,
कवि प्रलयंकर—
डमरु नाद करता डिम डिम
अब नये सृजन का,
नव जीवन, नव मन का!

फूट रहीं मेरे रोमों से
सम्भावना असंख्य—
रंग गन्धों में गुम्फित
नये वसन्तों ही-सी अगणित,
मनोदिगन्तों में जो कुसुमित!

परिवर्तन मेरा ही प्रिय रथ,
विस्तृत करने आया हूँ मैं
भू जीवन पथ,
विकसित करने
लोक मनोरथ!

मैं सन्त्रस्त न मृत्यु त्रास से
ध्वंस नाश से—
पतझर बन कर
हर हर, झर झर
फिरता जग में मूर्त-अगोचर,
निज पर निर्भर!—
मैं ही जीवन-ईश्वर!

जीवन यात्री

मैं शाश्वत जीवन-यात्री, मन!
मृत्यु-द्वार कर पार निरन्तर
अर्पित कर उसको

निज मृद् तन,—
मैं असीम से आँख मिचौनी खेल
पुनः करता अवरोहण !
प्राणों के यौवन की मदिरा पी - पीकर उन्मद सुख - विस्मृत
तिग्म रूप-ज्वाला में लिपटा- जलता मैं आनन्द उच्छ्वसित !
तिरता शोभा - जल अकूल में रस समुद्र में डूब निरन्तर,
रचता सुरधनु स्वप्न-सेतु स्मित धरा स्वर्ग को बाँहों में भर !
जरा : बोधि-तारुण्य मुझे अब अमृत पिलाता आत्म-तृप्ति कर,
अनगढ़ जन-भू जीवन - पथ के निखिल शोक सन्ताप पाप हर !

देख रहा अब
इच्छा पर आरूढ़ -
आत्म - द्रष्टा असंग मन—
क्यों जन - भू - जीवन संघर्षण ?
क्या दुख भय संचय का कारण !
कमी नहीं कुछ भी मनुष्य में—
वह निर्माण करे भव - जीवन,
विश्व - बाध संग
आत्म - बोध कर प्राप्त
करे निर्भय भू - विचरण !
नर अनन्त का यात्री, रे मन !

अन्धड़

उड़ जायेगी क्या भू ?
फू, फू !
उड़ जायेगी वन - भू ?

अन्धड़ आया
धूल धुन्ध के रथ पर चढ़कर,
गिरि कन्धों से कूद
रेणु - मरुवों पर बढ़कर !
ढहते तृण तरु सिहर,
झर रहे पत्त झर झर !
भरी धूल आँखों में, मुँह में,
थू, थू !
कहाँ खो गयी प्रिय भू !

सी सी सी सीटी बजती
बाँसों के वन में,

हहरो तुम, घहरो तुम, सिहर उठ दिङ्मण्डल,
झरें जगत् जीवन के रूढ़ि - जीर्ण पीले दल !

फूटें जन अन्तर में नव भावों की कोंपल
महामरण संग खुल खेले भावी भू - मंगल !

यह वर्षा, क्या कहता उद्वेलित मानव अन्तर—
मैं ही हूँ युग - पतझर नव मधु का प्रिय सहचर !

प्रलय घुमड़ता क्रुद्ध—उदर में
युग विष था, जो पिया
गरजता अब वह
पंचम स्वर में !

मैं ही हूँ, मैं ही शिव शंकर,
कवि प्रलयंकर—
डमरु नाद करता डिम डिम
अब नये सृजन का,
नव जीवन, नव मन का !

फूट रहीं मेरे रोमों से
सम्भावना असंख्य—
रंग गन्धों में गुम्फित
नये वसन्तों ही - सी अगणित,
मनोदिगन्तों में जो कुसुमित !

परिवर्तन मेरा ही प्रिय रथ,
विस्तृत करने आया हूँ मैं
भू जीवन पथ,
विकसित करने
लोक मनोरथ !

मैं सन्त्रस्त न मृत्यु त्रास से
ध्वंस नाश से—
पतझर बन कर
हर हर, झर झर
फिरता जग में मूर्त-अगोचर,
निज पर निर्भर !—
मैं ही जीवन - ईश्वर !

जीवन यात्री

मैं शाश्वत जीवन - यात्री, मन !
मृत्यु - द्वार कर पार निरन्तर
अर्पित कर उसको

निज मृदु तन,—
मैं असीम से आँख मिचौनी खेल
पुनः करता अवरोहण !

प्राणों के यौवन की मदिरा पी - पीकर उन्मद सुख - विस्मृत
तिग्म रूप-ज्वाला में लिपटा - जलता मैं आनन्द उच्छ्वसित !

तिरता शोभा - जल अकूल में रस समुद्र में डूब निरन्तर,
रचता सुरधनु स्वप्न-सेतु स्मित धरा स्वर्ग को बाँहों में भर !

जरा : बोधि-तारुण्य मुझे अब अमृत पिलाता आत्म-तृप्ति कर,
अनगढ जन-भू जीवन - पथ के निखिल शोक सन्ताप पाप हर !

देख रहा अब
इच्छा पर आरूढ़ ...
आत्म - द्रष्टा असंग मन—
क्यों जन - भू - जीवन संघर्षण ?
क्या दुख भय संशय का कारण !

कमी नहीं कुछ भी मनुष्य में—
वह निर्माण करे भव - जीवन,
विश्व - बाध संग
आत्म - बोध कर प्राप्त
करे निर्भय भू - विचरण !
नर अनन्त का यात्री, रे मन !

अन्धड़

उड़ जायेगी क्या भू ?
फू, फू !
उड जायेगी वन - भू ?

अन्धड़ आया
धूल धुन्ध के रथ पर चढ़कर,
गिरि कन्धों से कूद
रेणु - अश्वों पर बढ़कर !

ढहते तृण तरु सिहर,
झर रहे पत्त झर झर !
भरी धूल आँखों में, मुँह मे,
थू, थू !
कहाँ खो गयी प्रिय भू !

सी सी सी सीटी बजती
बाँसों के वन में,

हहरो तुम, घहरो तुम, सिहर उठ दिङ्मण्डल,
झरें जगत् जीवन के रूढ़ि - जीर्ण पीले दल!

फूटें जन अन्तर में नव भावों की कोंपल
महामरण संग खुल खेले भावी भू - मंगल!

यह क्या, क्या कहता उद्वेलित मानव अन्तर—
मैं ही हूँ युग - पतझर नव मधु का प्रिय सहचर!

प्रलय घुमड़ता क्रुद्ध—उदर में
युग विष था जो पिया
गरजता अब वह
पंचम स्वर में!

मैं ही हूँ, मैं ही शिव शंकर,
कवि प्रलयंकर—
डमरु नाद करता डिम डिम
अब नये सृजन का,
नव जीवन, नव मन का!

फूट रहीं मेरे रोम्रों से
सम्भावना असंख्य—
रंग गन्धों में गुम्फित
नये वसन्तों ही - सी अगणित,
मनोदिगन्तों में जो कुसुमित!

परिवर्तन मेरा ही प्रिय रथ,
विस्तृत करने आया हूँ मैं
भू जीवन पथ,
विकसित करने
लोक मनोरथ!

मैं सन्त्रस्त न मृत्यु त्रास से
ध्वंस नाश से—
पतझर बन कर
हर हर, झर झर
फिरता जग में मूर्त-अगोचर,
निज पर निर्भर!—
मैं ही जीवन - ईश्वर!

जीवन यात्री

मैं शाश्वत जीवन - यात्री, मन!
मृत्यु - द्वार कर पार निरन्तर
अर्पित कर उसको

निज मृद् तन,—
मैं असीम से आँख मिचौनी खेल
पुनः करता अवरोहण !

प्राणों के यौवन की मदिरा पी - पीकर उन्मद सुख - विस्मृत
तिग्म रूप-ज्वाला मे लिपटा- जलता मैं आनन्द उच्छ्वसित !

तिरता शोभा - जल अकूल में रस समुद्र में डूब निरन्तर,
रचता सुरधनु स्वप्न-सेतु स्मित धरा स्वर्ग को बाँहों में भर !

जरा : बोधि-तारुण्य मुझे अब अमृत पिलाता आत्म-तृप्ति कर,
अनगढ़ जन-भू जीवन - पथ के निखिल शोक सन्ताप पाप हर !

देख रहा अब
इच्छा पर आरूढ़ —
आत्म - द्रष्टा असंग मन—
क्यों जन - भू - जीवन संघर्षण ?
क्या दुख भय संशय का कारण !

कमी नहीं कुछ भी मनुष्य में—
वह निर्माण करे भव - जीवन,
विश्व - बोध सँग
आत्म - बोध कर प्राप्त
करे निर्भय भू - विचरण !
नर अनन्त का यात्री, रे मन !

अन्धड़

उड़ जायेगी क्या भू ?
फू, फू !
उड़ जायेगी वन - भू ?

अन्धड़ आया
धूल धुन्ध के रथ पर चढ़कर,
गिरि कन्धों से कूद
रेणु - अश्वों पर बढ़कर !

ढहते तृण तरु सिहर,
झर रहे पत्त झर झर !
भरी धूल आँखों में, मुँह मे,
थू, थू !
कहाँ खो गयी प्रिय भू !

सी सी सी सीटी बजती
बाँसों के वन में,

जाग रहा कैशोर उछाह
तड़ित्-सा मन में—
फर् फ़र् नाच रहे पीले दल
पड़ा चल भँवर,
भूँक रहा पागल कुत्ते-सा
दौड़ बवण्डर!
घिरी साँझ,
जुट स्यार चीखते
हू, हू!
आँखों से ओझल भू!

सिंह दहाड़ रहे,
वन मन्थर बना चुनौती,
वात गरजती—
शक्ति सिंह की नहीं बपौती!

कूँ कूँ डर से रोते बन्दर,
पोत-पोत गिर पड़ते थर्-थर्,
छींक आ रही,—नासापुट में
छायी धन धू-धू!
सौंधी गन्ध भरी भू!

चील काटती नभ में चक्कर
खोज नहीं पाती घर,
सब कुछ लिप-पुत गया
कान्ति आवेश भयंकर!

अब न पार्श्व कुल चन्द,
धूलि का बादल अम्बर,—
साँझ जल रही धू-धू!
श्रीहत-सी लगती भू!

बाह्य दृश्य यह!—
डालों पर पेंगवाती कोयल,
ध्वंस सृजन का दूत,—
शान्त मन का कौतूहल!
फेन धूम-घन
गेंद रहे लड़के झट डू-डू!
मग्न गहन को
संजो रही कोयल रट कू-कू!
रंग बिखरी अब भू!

धरा

खोज रहा जीवन मुझमें सार्थकता,
देख रहा है जीवन की व्यापकता!—
सोच-सोच मन थकता!

मुझमें मैं ही नहीं विश्व भी रहता निश्चय
सिन्धु - बिन्दु में सिन्धु अकूल न संशय ?

मैं सागर
सागर मेरे प्रति उपकृत,
क्यों कि परस्पर रस गुम्फित ही
रह सकते हम जीवित !

कौन परस्पर बाँधे
क्षर को अक्षर से,
क्षण को अनन्त,

लघु जल कण को सागर से ?
पूछ रहा मैं प्रश्न मौन अन्तर से !

उसी शक्ति की अमर खोज हित,
उसी मर्म के गूढ़ बोध हित—
बही चेतना मेरी
उन्मद नद - सी कल कल छल छल,
लाँघ पल विपल,
आत्म - रिक्त कर सकल
सकल अन्तस्तल !

वही चेतना धरा व्योम में,
वही अहर्निशि सूर्य सोम में—
वही निरन्तर रोम रोम में !

ज्यों सरिता की गति अवसित होती सागर मे,
तट - बन्धन खुल जाते घुल अकूल सागर में—

मैंने भी सोचा तुमको कर पूर्ण समर्पण
मैं भी लय हो जाऊँ तत्क्षण—रहे न कार्य, न कारण !

पर, यह सागर संगम
केवल अर्ध - सत्य भर निर्मम !
युग युग से प्रचलित भ्रम !

हम तुम दोनों ही आवश्यक
दोनों के हित,
मन असीम - सीमा से हुआ
अचानक परिचित !
सीमा और असीम उभय
अपने में सीमित !

ओ असीम सीमा की स्वामिनि,
अमर प्रीतिमयि, अन्तर्यामिनि,
स्वयं पूर्ण तुम,

सार्थकता या व्यापकता से
परे परे नित,
अपने में स्थित !

मुक्त आत्म-उल्लास तुम्हारा करता सर्जन
स्वर्ग-मर्त्य का प्रतिक्षण !
तुम मुझको, जग को
अपने में करती धारण !
सार्थकता पाते तुम में ही
जन्म, मरण औ' जीवन !

व्यक्ति विश्व—
दोनों को तुम रखतीं चिर नूतन !—
मैं विकास-ध्वज-वाहक
तिरता जगत्-जलधि निर्भय मन,
लिए हृदय में, प्रीति,
तुम्हारा अक्षय चित्-पावक कण !

काँसों के फूल

हम वन-काँसों के फूल, धूम-दल, रिक्त वारि निःस्वन बादल,
हममें न रूप रँग गन्ध रेणु, हममें न सरस फलते ही फल !

हम धरती के वार्धक्य श्वेत, झागों की झील, न जिसमें जल,
वन खीस काढ़ हँसता विषण्ण,— हम ज्योत्स्ना के अंगों के मल !

मकड़ी के जालों-से ही हम लिपटे रहते जग के वन में,
चिन्ता-पंजर-से रक्त-हीन छाये बरबस जन-भू मन में !

वैसे तो जब हर घन घमण्ड शशिमुखी शरद ऋतु मुसकाती
तब धरती उसके स्वागत में काँसों के केतन फहराती !

सित शान्ति ध्वजा हम, सौम्य प्रकृति, जन नहीं महत्व समझ पाते,
जग इसीलिए तो रण-जर्जर,—जन-भू-अभिभावक पछताते !

ज्यों शुभ्र रश्मि मे सुरधनु की रत्नच्छायाएँ अन्तर्हित
त्यों भू जीवन के रास-रंग सब श्वेत शान्ति से आलिंगित !

हम स्वच्छ काँस के तूल-फूल, हम शान्ति प्रतीक, नहीं संशय,
जो आँक सकें जन शान्ति-मूल्य, जन-भू जीवन हो मंगलमय !

तुम शुभ्र कपोत उड़ाओगे, हम भू पर बिछ-बिछ जायेंगे,
जन साधारण हम नम्र काँस, हम विश्व-शान्ति-से छायेंगे !

सम्बोधन

यौवन-प्रतिभे,
आओ, सब मिल
भू-जीवन निर्माण करें !

बहुत हुआ कुण्ठा भ्रम,
मृत्यु त्रास, संशय तम,
अन्ध अनास्था का क्रम,—
हम युग - ह्रास - समुद्र तरें !

मानवता का हम पर
ऋण निर्व्याज निरन्तर,
बचें न अस्वीकृत कर,
निष्ठा से युग दाय भरें !

बँटे गुटों में अगणित
मूढ अहंता प्रेरित—
हम मृगजल यश के हित
शुष्क - बोध-मरु में न मरें !

छन्द-वेणु स्वर - खण्डित,
काव्य मूल्य गढ इच्छित,
हम न भाव-रस वंचित
शशक शृंग मद मे विचरें !

अर्थ - शून्य आडम्बर
बिम्ब - प्रतीकों में भर !
कला कला के हित वर
हम न सृजन के खेत चरें !

खँट युग-संघर्षण में,
झाँक मर्म के व्रण में,
हम भू जीवन रण मे
भूधर-पण के चरण धरें !

यह विकास कामी जग
शूलों फूलों का मग
शोणित- रंजित दृढ पग
पथ के बाधा विघ्न हरें !

शिव की बाँहों मे भर
शोभा-गौर कलेवर,
अक सत्य-शिशु को धर
सृजन-लक्ष्य से हम न टरें !

देश काल युग-बन्धन
जाति वर्ग कर खण्डन,
नव जीवन संयोजन
भरें, झरें मृत-पत्र झरें !

अग्रदूत सर्जन के,
युग द्रष्टा जीवन के,
हम स्रष्टा भू-मन के,
ह्रास-नाश तम से न डरें !

नव युग प्रतिभे,
आओ,
नव जन-भू-जीवन निर्माण करें !

कला दृष्टि

जो निगूढ अनुभूति-विषय रे
उसका क्या हो सकता उत्तर
मन के स्तर पर ?

मुखर न होकर
मौन रह सके
जो अन्तर्मुख अन्तर,
अघटित घटना घटे,
पटे उर-संशय दुस्तर !

गोचर गुह्य-अगोचर के
पाटों में पिसकर
कुछ भी हाथ नहीं लगता
कवि-मन का अनुभव,—

सरल बनो,
सित आस्था स्पर्शित,
पूर्ण समर्पित करो
हृदय संशय, मति वैभव !

स्वयं बज उठेगी उर-तन्त्री
सूक्ष्म अगोचर अंगुलि-स्पर्शों से
सुर-मादन,
धूपछाँह लिपि में होगी
तारापथ-अन्तर्मन में कम्पन !

स्वर-संगति में बँध जायेंगे
मन के सुख-दुख
गायन बन जायेगा
निःस्वर जीवन क्रन्दन !

वीणा वीणाकार
वेणु-संगीत एक ही,
हो विभक्त
सहता विभेद-मति के
उर दंशन,
मुक्त प्रेम ही स्रष्टा, सृष्टि,
सृजन क्रम अविरत,—

फला दृष्टि यह,
तन्मय तद्गत
सतत प्रेम में युक्त—
भोगना समग्रता में
जीवन मन को,—
पूर्ण सत्य के कर
वहिरन्तर दर्शन !

सार्थकता

फिर अंगड़ाई लेता वसन्त
खुलते नव स्वप्नों के दिगन्त !
अन्तर मे पैठ रही बरबस
आकांक्षा - सौरभ दिङ्मादन,
अब गूंज उठे मधुपो के वन
गाता अन्तर्मुख उर - यौवन !
दिशि-दिशि जगती नव मधु मर्मर,
रोओं में सुख कँपता थर्-थर्,
झर रहे परागो के बादल
भू आँगन में भर स्वर्णिम झर !
लय लाज लालिमा में ऊषा
खोलती क्षितिज के वातायन,
अग जग की सूक्ष्म शिराओं में
दौड़ता रक्त,—उच्छ्वसित पवन !

इस शोभा के जग में डूबा
उन्मन हो उठता मेरा मन,—
मेरा कुछ था खो गया कभी
उसका संकेत मिला गोपन !
चल पंख मार निज,
नील चीर
गाता जो मत्त विहग अधीर,
वह मेरे प्राणों का प्रतीक,—
स्वप्नाकुल साँसों का समीर !
जग जीवन मे खो जाने में
सार्थकता लगती जीवन की,
जग में ही तुमको पाने की
चिर आकांक्षा मेरे मन की !
मैं अपने मन में एकाकी,—
तुमको ही बिठा हृदय भीतर

गृह मग वन में फिरता निर्भय ,
मांसल मधु हो, पंजर पतझर !

अब त्याग—अहंता स्वार्थ दर्प,
आनन्द स्पर्श बहता निःस्वन,
तप,—रत न कामना सुख में रह,
मिलता सित शोभा-मुख चुम्बन !

यह सच, आँसू ही से धुलकर
होता मानव का मुख पावन,
जीवन के जो साधना - नियम
उनके प्रति नत तन मन अर्पण !

चाँद की टोह

चन्द्र नर : "मैं टोह चाँद की लाया हूँ,
नक्षत्र लोक से आया हूँ !

"कर पार नीलिमा के प्रसार
मुक्ता क्षितिजों में कर विहार,
मैं सुरधनुओं के सेतु लाँघ
तन्वंगी तडितों को निहार—
घन - कक्षों में बिलमाया हूँ,
मैं चन्द्र लोक से आया हूँ !"

एक स्वर : "कैसा, कैसा वह चन्द्रानन,
उस विधुवदनी का सम्मोहन,—
कब से आकुल जन के लोचन,
देखते रहे क्या अपलक मन ?"

दूसरा स्वर : "कुछ कहते उसको पितृलोक,
कुछ मनसोजात भुवन अशोक,
कुछ सूर्य ज्योति का सौम्य मुकुर,—
मैं जिज्ञासा पाता न रोक !"

चन्द्र नर : "मैं घूम घूम पछताया हूँ,
मैं चन्द्र लोक से आया हूँ !—

"तब जिसे खोजते थे भीतर,
अब उसे ढूँढते जन बाहर,
जिज्ञासा का कुछ अन्त नहीं
मुझको कहने में रंच न डर !

"ये दोनों अन्तर्बहिर्गमन
एकांगी खोजों के लक्षण;—
बहिरन्तर में भर संयोजन
गढ़ना हमको मानव जीवन !

"ये सूर्य-चन्द्र भू - सेवा हित,—
जन भू जीवन को कर विस्मृत
मैं चाँद पकड़ने को निकला
निज बाल-मोह पर हूँ लज्जित!
"यदि मानवीय जन-भू प्रांगण
बन सका न, रहे उपेक्षित जन,—
तो चन्द्रलोक में बसकर भी
अणु अस्त्र बनायेगा हत मन—
मैं चन्द्र लोक से आया हूँ
भू हित सन्देशा लाया हूँ!"

सृजन शून्य

सूनापन, सूनापन,—
विघटित होता युग - मन!
हृदय उल्लसित
देख नग्न पतझर का तरु - वन!

कँपता सुख से थर् - थर्
वन - भू प्रान्तर-अन्तर,
मिटते रोग - शोक, भय - संशय,
पीले पत्तों - से झर!
दृष्टि अन्ध करने को उड़ते
धूल - धुन्ध तम के घन!

सूनापन, सूनापन—
रोके रुक सकती क्या कोंपल?
सृजन-हर्ष से वन - उर चंचल!
अभिव्यक्ति देती अपने को
विश्व चेतना प्रतिपल!
अँगड़ाई लेता रह - रह कर,
उन्मद गन्ध समीरण!

रिक्त हो रहा क्या तरु कानन?
उन्मन - से कुछ लगते दिशि क्षण,—
अथवा जन - भू प्रांगण में अब
भाव - बोध उगता नूतन?
पूर्ण पूर्णतर होता जीवन
यह भव - सत्य चिरंतन!—

क्षितिजों से अब शोभा अभिनव
झाँक रही,—मन करता अनुभव,
गिरि, तरु - वन, गृह - मग में छाये
रस पावक के पल्लव!

स्वप्नों का सौन्दर्य बरसता,
कोयल करती कूजन !
सूनापन, सूनापन !

चित्र गीत

गीत तितलियों - से उड़ आते !
वर्ण - वर्ण के पंख मनोहर
उड़ते फूल - फूल पर निःस्वर,
चंचल रंगों की फुहार-सी
दृग सम्मुख बरसाते,—
आँखों को भी भाते,
गीत मुक्त छन्दों में आते !

अंग-भंगि भावों की कोमल,
भ्रू - निपात कल्पना के चपल,
ओस बिन्दुओं के अस्थिर पल,—
ये सचमुच बौद्धिक शिशु निश्छल,
मन ही मन तुतलाते,
गीत अर्थ - लय में मँडराते !

कहीं फूल होते ये सुन्दर
नासा में सौरभ जाती भर,
फल भी इनमें लगते सुन्दर—

भू-जन जी भर खाते,
मधुकर छत्र बनाते,—
गीत प्रतीक बिम्ब बन आते !

मुक्त विहग ही होते द्रुत - जव
भू-नभ छोर बाँधता कलरव,—
साहस की निर्भय उड़ान भर
छूते उच्च दिगन्तर सम्भव,—
कुहुक चहक ये गाते,
मोहक टेर लगाते,
मन की व्यथा भुलाते,
गीत भाव - रस - माते !

प्रेमाश्रु

प्राण, प्रेम के आँसू
तारामों से अधिक जियेंगे,
सब निधियों से अधिक रहेंगे—
दग्ध प्रेम के आँसू !

बरसाओ इनको,
बरसाओ जन मन भू पर,
निर्निमेष कमलों - से खिल कर,
प्राण - वारियों में हँस सुन्दर—

ये मानव - मन को मोहेंगे,
जन - भू के दुख को ढोयेंगे !

सरल, प्रेम के आँसू
नव भावों में विकसित
अन्तर - वैभव से कर विस्मित,
अगणित इन्द्रधनुष बिखरा
उर के दिगन्त में सस्मित—

नव सुख - बीजों को बोयेंगे,
ये मानव - मन को धोयेंगे !

अनघ प्रीति के आँसू !
उर मे बन नव आशा
नव जीवन अभिलाषा,
नव मानव परिभाषा
जन जन का अन्तर टोहेंगे,
भेद - भाव मन का खोयेंगे !

स्वच्छ स्नेह के आँसू !
आओ, इन पर करें निछावर
निखिल रत्न, मणि माणिक सत्वर,
ये ही रवि - शशि - तारा भास्वर—

प्रेम - दीप्त मुख जन जोहेंगे,
निज विश्वास नहीं खोयेंगे !

मनुज प्रेम के आँसू !
ताराओं से अधिक जियेंगे
यश वैभव से अधिक रहेंगे,
विश्व प्रेम के आँसू !

होटल का बैरा

तीस जून अब : मुझे बिदा होना होटल से,
कल प्रयाग को मैं प्रात: प्रस्थान करूँगा !
सुहृद् प्रतीक्षा करते होंगे, और मुझे भी
उनकी याद सताती रहती !
होटल में अब
फैल चुकी सूचना सुबह मेरे जाने की !

बैरा आज अधिक तत्परता से सेवा में
व्यस्त दीखते : तरह - तरह यत्नों से मुझको
खुश करने में लगे हुए हैं ! दाँत निकाले,
मधुर चापलूसी कर मेरी,—आपस में सज्जनता की
तारीफ़ कर रहे और विदा बेला आने का
दुख भी दरसा रहे ! ...किन्तु यह नाटक भर है !
वे चाहते इनाम झटकना मुझसे गहरा,—
गड़ा जा रहा हूँ मन ही मन मैं लज्जा से !

मुझे ज्ञात है, मैं ही हूँ होटल का बैरा !
मैं भी उनकी तरह यही सब नाटक रचता
दाता को फुसलाने, ऐसी स्थिति में पड़कर !
क्योंकि साहबों की दुनिया यह ! वे क्या जानें
इससे भी कितने बदतर ढँग से अमीर बन
पैसा कमा रहे ! होटल में रहकर कुछ दिन
खूब शान - शौकत बघारकर—हुक्म चलाते
बैराओं पर,—जो नत-मस्तक उसे बजाते !
सम्भव, वे हमसे मनुष्यता में अच्छे हों !—
क्या मनुजों के योग्य कभी बन पायेगी भू ?

•

गीत हंस

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९६६]

विज्ञापन

'गीत हंस' में दो रचनाओं को छोड़कर, अन्य सब रचनाएँ सन् १९६९ के पूर्वार्द्ध की लिखी हुई हैं। चन्द्रलोक सम्बन्धी रचना २० जुलाई को लिखी गयी, जब प्रथम बार मनुष्य के चरणों ने चन्द्रधरा की धूलि चूमी। २० मई '५० शीर्षक रचना सन् १९५० की है।

इस संग्रह को प्रकाशित करने का श्रेय प्रयाग के लोक भारती प्रकाशन को है।

१८ बी/७, के० जी० मार्ग, प्रयाग
१५ जून '६९

सुमित्रानंदन पंत

एक

गीत - हंस सी उतर सहज तुम मनः शिखर पर
शुभ्र सुनहली छायाएँ बरसाती रहती—
प्राणों की सरसी को ग्रीवा गौर भंगि से
स्वप्न तरंगित कर स्मित चन्द्र तरी-सी बहतीं !

अन्तर के आकाशों में सुनता मैं गायन,
कितने अश्रुत स्वर उर में भरते रस स्पन्दन,—
अँगडाई ले उपचेतन की गुह्य घाटियाँ
जग - सी उठती आत्मा के वैभव में नूतन !

तुम प्रकाश पक्षी हो जीवन पावक के पंखों से भूषित,
गीत व्यथा प्रेरित उर रहता सुख-दुख मन्थित,—
सृष्टि तुम्हारा काव्य, सृजन प्रेरणा स्फुरित स्वर
मनुज हृदय का सत्य प्रेम—करते दिङ् मुखरित !

मन उड़ान भरता पा पंख तड़ित् - जव तत्क्षण,
भावाकाशों का असीम करता सर्वेक्षण;—
श्येन - तीक्ष्ण कवि दृष्टि सूक्ष्म उठ ऊपर, ऊपर,
देख समग्र जगत् मुख उतर धरा प्रागण में
मानव जीवन मन में भरती नव संयोजन !

दो

कितने रूपों, बिम्बों में
सौन्दर्य बोध बन
उदय हृदय में होती तुम,
मैं उनको नित
करता रहता अस्वीकृत !

मानवता के चरणो पर
सौन्दर्य दूसरा ही अब
कवि को करना अर्पित !

कितनी पवित्रताओ
नि.स्वर गहन शान्तियों मे
तुम होती

स्वप्नों की निर्झरिणी - सी
अनिमेष अवतरित—
मन उनसे हो सका न प्रेरित !

मनुज चेतना को
अभिनव ही भाव बोध से
युग को करना भूषित !

कितने ही मूल्यों में तुम
मन की आँखों में
यौवन के विस्मय सी
होती विकसित—
हृदय रहा उनके प्रति शंकित !

ज्ञात मुझे,
मानव आत्मा को
मूल्य नया तुमको देना
स्वर्णिम चैतन्य समन्वित—
प्राणों के स्तर पर रस जीवित !

प्रेयसि, कवि चेतने,
हिरण्मय पात्र हटा कर
भावी का मुख
नव सर्जन हित
करना तुम्हें अगुण्ठित !

विश्व ह्रास विघटन के
धूसर पतझर वन में
देख रहा मैं
दृष्टि - अन्ध घन अन्तरिक्ष में
सूर्य वसन्त
प्रचण्ड सत्य सा
प्रकट हो रहा
भाव प्रज्वलित,
प्रज्ञा मण्डित !

तीन

काँसों के फूलों के गहने
पहने आती,
अब प्रियतमा
शील नत, सुन्दर,
स्निग्ध चाँदनी - सी मुसकाती
मन के
निभृत प्रसारों में
छा निः स्वर !

फूल - देह—छाया सी
सहज खिसक पड़ती द्रुत,
भाव मूर्ति स्त्री जगती
पावन लज्जा मण्डित,—

सौ - सौ शोभाऽवरणों में
करवट से मन में
उर की आँखों को कर
छवि से मुग्ध चमत्कृत !

स्वच्छ शरद ऋतु की सरिता वह
निर्मल, निश्छल,
प्राणों की घाटी में उतर
रजत रव
गाती कलकल !—

नव प्रकाश मे स्वप्न - स्नात
सब चित्त - वृत्तियाँ
प्रीति विद्रवित
ढलती कांचन - कोमल !

वासन्ती परिधान उतार
भावना भूषित
वह एकान्त क्षणों में
होती उदित—
चेतना
बोध स्पर्श से
प्राणों को कर पुलकित !

मौन - पवित्र उपस्थिति से
भर जाता अन्तर,
तृप्त इन्द्रियाँ
तद्‌गत अनुभव करतीं अर्पित !
एक नये अस्तित्व - बोध से
शक्ति ग्रहण कर
विचरण करता उन्मेषित
मैं नयी भूमि पर !

चार

नयी गीत ऋतु बन कर
आयी हो तुम, प्रेयसि,
साँसों मे भर
सद्यः स्फुट
सुमनों की गन्ध अतन्द्रित,—

नयी भाव - शोभा में लिपटी
पावक कल्पित,
प्रीति गौर अनुभव से
प्राणों को कर पुलकित !

छहरीं स्वर्ण मरन्द अलक
कल्पना गगन में
करती दृष्टि चमत्कृत,
उन्मन उर - डाली पर बैठा
मूक प्रणय पिक
गाता नव उन्मेषित !

प्रिये,

चेतना - स्पर्शों से जग
उमग उठे अब
हृदय प्राण मन
देह - बोध कर अतिक्रम,
बरस रहा आनन्द - मेघ—
सौन्दर्य वृष्टि से
जीवन आकांक्षा उपकृत,
उर निर्भ्रम !

आत्मा मन ही नहीं,
देह भी भाव मुक्त अब,
इन्द्रिय मधुकर
नव स्वर लय में झंकृत,
रस - कृतार्थ अस्तित्व,
प्राण, मन,
अन्तर्मुख सुख लीन,—
तृप्त तन रोम
हर्ष उद्दीपित !

पाँच

कौन छेड़ता
मौन प्राण तन्त्री
क्षण प्रति क्षण,
निश्चेतन का
अन्धकार
बज उठता झनझन !
मन के अन्धे कोनों में
जगता रस स्पन्दन,
अँगड़ाई भरता
तन का तम
तन्द्रालस मन—

नयी स्फूर्ति का
अनुभव करता
नव वसन्त में
पतझर का वन!

आज रुद्र का आनन लगता
भैरव - सुन्दर,
नत फन अब
जीवन वर्जन का
भुजग भयंकर!—

गुह्य असत् से
मुक्त हो गया
सत् प्रिय अन्तर,
भाव बोध के
स्वप्न - पगों से
कम्पित जन - भू प्रांगण!

झंझा के अश्वों पर चढ कर
कौन आ रहा वह प्रलयकर?
टूट रही तन मन की सीमा
आत्म मुक्त फिरता समग्र
भू पर सदेह संस्कृत नर!

हार गया आलोक जहाँ पर,
श्रद्धा आस्था गयी जहाँ मर,—
अन्धकार बन कर अनन्त
तुम रस तन्मय करती मन!

नये, चन्द्र नक्षत्र दिवाकर
उदित हो रहे मनः क्षितिज पर,—
निस्तरंग चेतना - सिन्धु
लगता हिरण्य दर्पण - सा भास्वर!

ज्योति तिमिर के गत छोरों पर
स्वर्ण सेतु निर्मित कर नूतन,
पार लगाती मानवता को
खोल युगों के तुम जड़ बन्धन!

निश्चेतन का अतल ज्वार
नव मूल्यों में
करता आरोहण!

छः

प्रिये,

देखने मे तो सचमुच

बगुला पक्षी भी होता
गौर ही कलेवर! —
एक टाँग पर खड़ा
तपस्वी - सा भी लगता
दृष्टि गड़ाये चटुल मीन पर!

पर, मन से गोरी हो तुम,
भावना स्नात,
निश्छल सित अन्तर!
ओ अकुलीन अनिन्द्य कुलवधू,
भाव - गौर होना ही तो
कुलीन होना है;
खरा निकष में उतरे
शुद्ध वही सोना है!

पत्नी नहीं,
प्रिया तुम
भावों की रस - पावन,
सती नहीं,
प्रेमिका,
आत्म - शोभा की दर्पण!

बद्ध सरोवर नहीं,
मुक्त सरिता जल निर्मल,
अन्तर-पुलिनों में बह
यौवन गाता कल कल!

रुद्ध हो गयी स्त्री मन से
हो सकी न विकसित,
ममता तम में जलती
दीप शिखा - सी कम्पित!

कोमल गरिमा से
न कृतार्थ हुआ भू - प्रांगण,
खुले न श्री शोभा के
दिग् चुम्बी वातायन!

आओ, लाँघो देह - बोध
बन हृदय चेतना,
मातृ हृदय में
विश्व सृजन की
जगे वेदना!

स्वर - संगति में बँधे
संयमित प्राण वासना,

बगुली हो हंसिनी,
सिद्ध कर भाव साधना !

असती वह,
जो परिजन पति पुत्रों में सीमित,
सती वही
जो विश्व यज्ञ ज्वाला को अर्पित !
देख रहा,
शोभा के जावक चरणों से स्मित
भावी विश्व - दिगन्त
वसन्त - प्रवाल प्रज्वलित !

सात

प्राण,
कहीं होता विहंग मैं,
मनोवेग भर,
तुमको निर्भय
निज भावोष्ण पुलक पंखों में
छिपा अगोचर
मुक्त गगन में उडता
ऊपर, ऊपर, ऊपर !

गाता मैं अनुराग राग
अन्तः प्रहर्ष के
स्वर भर तन्मय,—
खो जाता निःसीम नील में
अमित प्रेम के
सागर - अनुभव में लय !

बरसाता शत इन्द्रधनुष
नव भाव भंगि शोभी
उड़ान भर—
तुमको छाती से चिपकाकर
हृदय - भार हर !

प्रिये, भूल जग को
मँडराता रजत शान्ति मे
नवोल्लास के पंख मारकर !
थाह प्रणय - क्षण में
अनन्त रस अन्तर—
पार निखिल कर
बोध दिगन्तर !
स्वप्नों के तिनकों का
नीड़ बसाता निःस्वर

अम्बर की टहनी में निर्जन,—
साँसों के तारों में भर
तद्गत हृत्स्पन्दन !

गाहन करता गूढ मर्म मैं
सृष्टि सृजन का,
बिना तर्क या बिना शब्द ही
भेद समझ लेता
अमेय के मन का !

देश काल के पुलिन लाँघकर
सचराचर देते आलिंगन,
समुद उतर आता मैं भू पर
तृण तृण में भर
नवोन्मेष के गायन !

प्रीति स्पर्श से
आलोकित कर
प्राणों का तम,—
जीवन को कर पावन !

आठ

गीतिकार बन सका न युग का, हृत्तन्त्री में स्वर भर मादन,
विश्व-ह्रास के छाये भीषण जनगण मन में अन्धकार-घन !

रश्मि स्पर्श पा जग जीवन से करता रहा सतत संघर्षण,
वस्तु परिस्थितियों के जग में भरने मानवीय संवेदन !

चिन्तन रत-उर नयी-दृष्टि दे सके मनुज मन को कर प्रेरित,
नयी चेतना के प्रकाश से हृदय प्राण मन हों रस-मन्थित !

मैं न ध्वंस करने आया हूँ, या मानव जीवन ही खण्डित,
उसे पूर्ण, पूर्णतम बनाने आया हूँ—कर नव संयोजित !

जो जिस स्थिति में—वही रहेंगे, उठ न सकेंगे निज में सीमित,
नयी चेतना का विरोध कर यदि वे रहे ज्योति से वंचित !

क्षुद्र और भी क्षुद्र लगेंगे, राग द्वेष तम कर्दम में सन,—
नव विकास के सोपानों पर मनुष्यत्व करता आरोहण !

भाव बोध के गीतों को कर नव प्रकाश स्वर लिपि में गुम्फित
रुद्ध मनुज उर तन्त्री को मैं कर जाऊँगा पावक झंकृत !

आत्मा के संगीत स्रोत ही से रे, जग जीवन सम्पोषित,
जीवन मन प्राणों की गति-लय जिसमें हो उठती रस-मज्जित !

नौ

सरल स्पर्श-रेखावत्
सतत तटस्थ रहा मैं
जगत् वृत्त से—
आत्म-मुक्त,
पर तुमसे नित
संयुक्त चित्त से !

प्रकृति योनि यह,
गुह्य तमस में
लिपटा अग-जग,
आगे बढ़ने पर भी
पीछे पड़ते मुड़ पग !

पंक सिन्धु में कौन सने ?—
नर-दुस्तर, निस्तल :
कर्दम स्तर से उठकर
खिलता जीवन-शतदल !

अशुभ छँटे,
शुभ का करना पड़ता संवर्धन,
तम से लड़
कटता न तमस-क्षण !—
उसे मिटाती
ज्योति किरण
छू तत्क्षण !

विश्व प्रतीक्षा रत,
फिर छिड़ा
एक बहु में रण,
छाये जन-मन में
भय संशय के घन !

पुनः राशि गुण होंगे
नव संयोजित,
एक सत्य ही
बहु मुख का
उर-दर्पण !

चरण स्पर्श पा
रहा जगत् जीवन के संग मैं
स्पर्श-रेखवत्,
बना सिद्धि को
भू पथ साधन
सन्तत तद्गत !

दस

साधक सदा बने रहना ही चरम सिद्धि,—कहता मन,
मुक्त सिद्धि आकांक्षा से अब उपकृत जीवन !

और कौन-सी सिद्धि मुझे दोगी तुम सुखकर ?—
प्रीति पाश में बँधे हृदय मन प्राण निरन्तर !

बहता रहूँ सतत सरिता-सा गाता कलकल,—
पथ ही लक्ष्य रहे, गति ही जीवन का सम्बल !

मैं अनन्त का यात्री—कहता प्रति हृत्स्पन्दन,
पग-पग मिलन—तुम्हारे यात्री का पथ साधन !

मुझे नहीं विश्राम चाहिए,—गति में तन्मय
जीवन हो संगीत,—प्रवाह सृजन-मय अक्षय !

समाधिस्थ मन झरे अमृत रस निर्झर बनकर,
गति विराम हों एक—प्रेम में युक्त परस्पर !

साधक ही मैं रहूँ—तुम्ही मां, सिद्धि अनश्वर,
एक, अनन्य, सिद्धियों से पर, नित्य, परात्पर !

ग्यारह

यह कैसी ऋतु,
जो सौन्दर्य चपल पंखों पर
उड़ कर,
रँगती
स्मित स्वर्णिम मरन्द से
भावों का मर्म—
जिसके स्वर में
मत्त प्रेरणा गीत,
मुक्त साँसों में
स्वर्गिक सौरभ !
घिरती वह आनन्द घटा-सी,
फूलों का घन
झर-झर निर्निमेष शोभा में
उन्मेषित करता मन !
आँख मिचौनी खेल रही
अप्सरा गगन में—
कवि स्वप्नों का सेतु
कल्पना रचती मन में—

भाव-मुक्ति-अनुभूति लीन
अब अन्तर
वस्तु जगत् कर पार,
पार कर बोध दिगन्तर—

नये सत्य की सृष्टि
हृदय में करता
तन्मय क्षण में !

बढ़ने से लगते पग स्तम्भित
अन्तर गरिमा से अभिप्रेरित,
ज्योति स्नात-सा लगता भूतल
मौन प्रार्थना मज्जित !

जड़, क्षण को, हो उठते चेतन,
तृण तरु उर में जगता गायन,
नयी चेतना की ऋतु
अन्तर्यौवन भरता कूजन !

बारह

गाँवों की सी सादगी लिये
तुम आती हो,
भाव-प्रवण उर को
तुम जीवनमयि,
भाती हो !

यद्यपि वह सारल्य न यह
जो उर का भूषण,
स्वाभाविकता का सित लक्षण,—
फिर भी तुम
निज मौन मधुरिमा से
अन्तर को छू जाती हो !

प्राण,
चाहती यदि तुम
उर हो नीड़ प्रेम का पावन,
तो तुम निश्छल बनो,
सहज शैशव-सी सरल,
हृदय हो निर्मल,
शुभ्र भावना दर्पण !

सच्चाई की डाली पर ही
प्रेम नीड़ हो सकता निर्मित,
चतुराई, छल के तृण दल का
वास—प्रेम से रहता वंचित !

सहृदयता साधना प्रेम की,
तन्मयता रस-सिद्धि असंशय,
प्राणों की एकता नीव,
सम्पूर्ण समर्पण का पथ निर्भय!

स्वच्छ शील ही
प्रीति पात्र का
तप्त कनक सौन्दर्य निरामय,—
आस्था रक्त,
सतत स्मृति ही गति,
मिलन व्यथामय
हृत्स्पन्दन लय!

अनगढ़ ग्राम्या - सी तुम
कवि - मन को भाती हो,
सौम्य रूप - वैभव से
उर को छू जाती हो!

तेरह

कौन वेदना - सी
गा उठती
उर के भीतर!—

सुख के कहूँ
कि दुख के
झर - झर पड़ते निर्झर!

छाया वस्त्रों-से
खुल - खुल पड़ते
मन के स्तर,
अब अतृप्ति ही
तृप्ति बनी,
खो सुख-दुख अन्तर!

मन के सूनेपन को
जाने किसने छूकर
रस-झंकृत कर दिया
वेदना गाती निःस्वर!

सृजन व्यथा सुख से प्रेरित
प्राणों का पतझर
मधु के स्पर्शों से अदृश्य
कँप उठता थर् - थर्!

रिक्त शून्यता के अब भीतर
अभिव्यक्ति पा रहा पूर्णतर,

खड़े प्रतीक्षा में चुभते
तन रोम—
प्रेरणा के असंख्य शर!

पाँव उठा धरती से
रहता खड़ा
भावना की मैं भू पर,
जहाँ उठाकर रखता पग
बन जाता वहीं
नया भूतल स्तर!

मुझे मिली जीवन सार्थकता
अपने को प्रति पग अतिक्रम कर,
हानि-लाभ,
दुख सुख बन जाता
धरा चेतना का सागर तर—
जो प्रभु का वर!

चौदह

तुम दर्पण हो
हृदय चेतना,
तुममें प्रतिबिम्बित
जीवन की निखिल वेदना!

मन्थित करता कर्दम सागर
मैं जग का करने रूपान्तर,—
तुममें पाता जग जीवन
नव अभिव्यंजना!

मौन सृजन स्पर्शों से प्रतिक्षण
गढ़ती तुम मानव का नव मन,
पार कर रही दिग् दिगन्त
अब मनुष्यत्व की
नयी कल्पना!

हृदय दृष्टि भू जन में विकसित
बाह्य भेद करती संयोजित,
भव गति में सार्थकता पाती
चिर अबूझ जीवन विडम्बना!

किस प्रहर्ष का स्पर्श अगोचर
रस-संकुल करता कवि-अन्तर,
राजहंस-सी पंख खोलकर
उतर रही निःशब्द प्रेरणा!

सृजन स्वप्न शोभा में तन्मय
मूक भाव पाते नव स्वर-लय,
नये बोध-स्पर्शों से मुखरित
समाधिस्थ जग रही भावना!

लाँघ तरल इन्द्रिय-सुख सागर
नयी सूक्ष्म अनुभूति निरन्तर
मज्जित करती कलुप तमस सब,
प्रीति-मौन अब तर्क जल्पना!

पन्द्रह

स्वर्ण शान्ति
अब जीवन-मूल्य नही
मेरे हित,
मैं रस विह्वल रहता
नव चेतना स्पर्श से!

सरिता-सी हो
शान्ति प्रवाहित
भाव तरंगित—
मुझे कर्म तन्मय रखती अब
सुख-दुख तट कर मज्जित

निर्मित कर लेता मन पथ
नव दिशा प्राप्त कर,
नव लय मे स्पन्दित
प्रेरित अविदित प्रहर्ष से!

स्मृति सागर में तिरते
गत यौवन क्षण परिचित,
चन्द्रलिखी
भावना लहरियों में उद्वेलित,—
स्वप्न तरी पर बैठी
तुम आकर अकूल से
हरती पथ-श्रम
नवोन्मेष से कर उर दीपित!

छाया-सी होती विलीन
गत यौवन-ममता,
मुक्त हृदय हो जाता
अवचेतन विमर्श से!

छन्दों में स्वर झंकृत
सत्य नही ही निश्चित,

आत्म मौन वह,
शब्द न कर पाते
अशब्द अनुभव को मुखरित,—
ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता
विलीन हो तन्मय रस में
भावोपरि निःसीम ज्योति में
होते मज्जित !—
अभिव्यक्ति पाता फिर भी वह
निःस्वर अन्तरतम में प्रतिक्षण,
भाव बोध को छूकर
निज अन्तः प्रकर्ष से !
मैं रस विह्वल रहता
नव चेतना स्पर्श से !

सोलह

कौन गाँव से आती
गोरी प्रीति चेतना,
नयी बोध-संवेदना लिये,
भाव वेदना !

वह वियोगिनी,—
भू जीवन-स्थिति
उसे नहीं दे सकी तोष,
दुःखों से निष्कृति !

वह आती
कनकाभ गौर
बन नयी प्रेरणा,
कौन गाँव से आती
सात्विक प्रीति चेतना !

स्वप्नों के बन्दनवारों से
वह घर-द्वार सँजोती,
स्नेह अश्रुओं से अजस्र
जन-मन का आँगन धोती !
वह जीवन मृदु पात्र बनाती,
तन मन प्राणों को सँवारकर,
मनुष्यत्व की
प्रतिमा गढ़ती जाती !

भावों की धरती पर सोयी,
सृष्टि कला वैभव में खोयी,

[illegible]

नील गगन से
इन्द्रधनुष - सी लिपटी
उसकी सृजन कल्पना ! —
हृदय ग्राम वासिनी
प्रीति की मूल चेतना !

आह्लादिनी
उषा वह,
उन्मादिनी
चाँदनी ! —
जन धरणी की धूलि
उसी के
अक्षय सत् से धनी !

वह प्रकाश निर्झरिणी,
भू का
राग - द्वेष कल्मष हर
भरती, —
मुक्ति केतना
जड़ चेतन के पुलिन डुबाती
प्रीति चेतना !

सत्रह

तुम यदि सुन्दर नहीं रहोगी
जीवन की श्री सुन्दरता का
प्रतिनिधित्व
तब कौन करेगा भू पर ?

चाँद भले हो उदय,
सलज ऊषा मुसकाये,
उनकी सार्थकता
अनुभव कर पायेगा
क्या अन्तर ?

हिरन चकित चौकड़ी भरें,
झाँकें जल-पट से चटुल मीन,
तुहिन स्मित खिलें प्रवाल,
वसन्त बखेरे भू पर
गन्ध मदिर निज यौवन, —
निखिल प्रकृति व्यापार
स्वतः ही खो बैठेंगे
बिना तुम्हारे रूप-स्पर्श के
मानवीय संवेदन !

प्राण, तुम्हारे प्रति मेरा
मिलनातुर प्रेम प्रतिक्षण
जन - जन के प्रति
अमर प्रेम का साधन !

और, विश्व जीवन के प्रति
इस मुक्त प्रेम को
बनना ईश्वर प्रति भी
प्रणय निवेदन !

जीवन के मन्दिर में अक्षत
बनी रहो तुम
शोभा प्रतिमा
अपलक लोचन—

अर्पित कर निज प्रेम
तुम्हारे प्रिय चरणों पर
देखूँ मैं ईश्वर को
भू पर करते विचरण !

आत्मा से, मन से
पवित्र हो शोभा का तन,
निराकार साकार,
स्वप्न हो सत्य,
स्वर्ग
भू-प्रांगण,—

पावन नहीं रहोगी यदि तुम
श्री सुन्दरता
कभी बन सकेगी क्या
प्रभु मुख दर्पण ?

अठारह

राजहंस
शोभा - उड़ान से भरते
स्पन्दित गौर वक्ष में
चन्द्रमुखी
प्रिय शरद उतरती
निभृत प्रणय के
स्वप्न कक्ष में !

पी - खग गाता छिप उर भीतर,
फूट रहे रोमों से
प्राणों के रस-निर्झर !—

भय न मलिन वासना वारि —
सित भाव-मुकुर-से
निर्मल सरित सरोवर !

धूमिल स्मृति मेघों में लिपटी
तड़िल्लता हरती मन
निखर रहा नभ आत्म-नील,
नीरव अन्तर्मुख गर्जन !

शोभा का मन्दिर तन
उर में भरता नव संवेदन,
अतिक्रम करता रूप-मोह
निःसंग रूप का पूजन !

यदि सम्भव ईश्वर के दर्शन,
सम्भव भू पर स्वर्गिक जीवन,
तो वह सम्भव
स्वच्छ हृदय शोभा प्रतिमा में,—
उपकृत मेरे तन - मन !

नयी चेतना में परिधानित
देह आत्म-गरिमा से मण्डित,—
भाव-रूप सम्पृक्त परस्पर,
जीवन पूर्ण अखण्डित !

सूक्ष्म सुरभि के बरस प्राण-धन
मानस में भरते रस-प्लावन,—
छलक रहा अब रोम - रोम से
तन्मय अन्तर्यौवन !

उन्नीस

रोओं के द्वारों से
निःस्वर आती जाती,—
सूक्ष्म प्रहर्ष तडित् - सी
तुम, विदेह ईहा का
उर में सित पावक बरसाती !

जरा ग्रस्त होता ज्यों - ज्यों तन
भाव-देह में मत्त उमड़ता
अन्तर्यौवन !

प्राणों में सोयी
रस मदिर पिपासा - सी तुम
मधुपिक बन
मुकुलित जीवन निकुंज में गाती !

यह मेरा मानस वसन्त,
खुला भावना का दिगन्त,
जी करता
जग के रस लोलुप मधुकर
आकर,
पान करें मेरे नव चेतन
यौवन का मधु जी भर!

मौन हृदय संगीत अतन्द्रित
साँसों के तारों में झंकृत,
अब न देह - मन के भावों में
मानव जीवन खण्डित!—

सौन्दर्योत्सव मना रहे जन,
युवति - युवक करते अभिनन्दन,
भावी का तारुण्य लिये
तुम ऊषा - सी मुसकाती!

मेरा जीवन ही जग जीवन,
मैं जग जीवन का प्रतीक बन
तुममें सतत समाधित
जीवन - भू पर करता विचरण!
सृजन हर्ष मंगल में तन्मय
श्री शोभा शिल्पी बन अक्षय,
श्रेय प्रेय, आनन्द मधुरिमा
जग में करता वितरण!

नयी चेतना - सी तुम उतर
हृदय मे आती,
सूक्ष्म तडित् स्पर्शों से
उर में
रस पावक बरसाती!

बीस

भूल न पाया क्षण भर!
अन्तरतम में पैठ गहन
मैं तुम्हें खोज लाया
चिर सुन्दर!

क्वारी हृदय व्यथा
क्या तुम्हीं
मनुज का जीवन?
ओ अतृप्ति, रस आकुलता,

क्या तुम्ही
प्रताड़ित मृग - मन ?
मरीचिका ही
क्या इन्द्रिय - पथ ?
व्यर्थ भटकता प्राणों का रथ ?
बहिर्जगत् में खोयी मति को
मिलता नहीं सत्य का इति-अथ !
डूब अतल अन्तस में निर्भय
होता मन जब तुममे तन्मय—
लगता,
आत्मा से इन्द्रिय तक
एक अखण्ड संचरण अक्षय !

बौने मूल्यों मे उलझा मन
समझ रहस्य न पाया गोपन,—
भीतर जाकर देखा
जगत् तुम्हारा ही सिंहासन !
अन्तर ही की छवि में अविरत
बाहर का जग गढना तद्वत्,
शिव से वंचित सत्य
तथ्य भर,
शिव ही सुन्दर, अक्षत !
व्यक्ति समाज ?
तुम्हीं दिक् प्रसरित,
युगपत् उनको होना विकसित,
एक सत्य के अंग उभय—
ज्यो बिन्दु समुद्र अपरिमित ;
बाह्य उपकरण—
केवल साधन,
मनुज सत्य ही
साध्य चिरन्तन,
अन्तर्मुख हो
आत्मा से भी
मानव को करना सम्भाषण !
तुम्हे खोज पाया
अन्तर में डूब
हृदय - धन !

इक्कीस

मैं फिर से तुमको
हर ले जाऊँगा वन में,

वन के निश्छल मुक्त
निसर्ग - निभृत प्रांगण में !

मैं तिनकों का तल्प
सँजोऊँगा सुख - श्यामल,
फूल सुगन्ध मलूँगा
तनु अंगों में कोमल,—

धूपछाँह के लता-कुंज में
लेटी तुम
प्राणों को प्रिये,
करोगी शीतल !

वन विहगों के गीत
हमारे गूँथेंगे मन,
पुलक पंख वे मिला
करेंगे प्रणय निवेदन !

रस के दूत भ्रमर
कलियों के मुख में
भर सौ चुम्बन,
हमे डूबना सिखलायेंगे
जीवन मधु सागर मे
प्रतिक्षण !

मुग्ध प्रेम सन्देश
सुनायेंगे प्रिय सहृदय,
हम सुख विस्मृत, अन्तर्जागृत,
प्राण, रहेंगे
एक दूसरे में रस-तन्मय !

अब भी प्यार तुम्हें करता हूँ—
पर, तुम इतने कृत्रिम भावों,
मिथ्या विश्वासों में लिपटी हो—
मन ही मन
मैं तुमसे डरता हूँ !

द्रुपद सुता के चीर बन गये
वे प्रभाव सब,
तुम उनमें खो गयी
न रहा सहज स्वभाव अब—
प्यार बन गया देह भूख भर
लाज शील
केवल आडम्बर !

तुमको ले जाऊँगा मैं
दिग् विस्तृत वन में

पुनः बनो तुम हृदय प्रतीक
मनुज जीवन में !

मौन लाज में लिपटी ऊषा
उतरेगी जब वन प्रांगन में
हम अन्तः शोभा में स्नान
करेंगे तब
मिल मन के क्षण में !

तुम्हें जुटाने होंगे कभी न
बाह्य प्रसाधन,
सहज खिला होगा
लावण्य लता - सा
प्रिय तन !

बाईस

त्याग स्वर्ण सिंहासन तुमने
तिनकों का मृणमुकुट किया
मस्तक पर धारण !

वस्तु जगत् का मूल्य तभी तक
बँधा भावना-पथ से जब तक
उससे बहिर्मुखी मन !

बढ़ता भाव विभव के प्रति
अब अन्तर्मुख आकर्षण !

जड़ मणियों का मूल्य
भावना के तिनकों के
सम्मुख नहीं ठहर पाता
अब किंचित्—

हृदय चेतना का विकास ही
निकष पूर्णता का
मानव हित निश्चित !

भावेश्वरि हे,
सरल स्वच्छ नर जीवन ही
सौन्दर्य-बोध की काष्ठा,
अन्तिम परिणति,—

अन्तर रचना के अतिरिक्त
न कोई अन्य
मनुज जीवन की
मंगलमय
सार्थक गति !

व्यर्थ जूझती
मृदुल फूल-सी देह
लोह पद यान्त्रिकता से,
अन्तः सौरभ वंचित,—

बाह्य जगत् पीठिका मात्र
अन्तर्जीवन हित—
हृदय कमल में
मनुष्यत्व को
होना पूर्ण प्रतिष्ठित !

त्याग बहिर्वैभव का मद
मैं शील-नम्र मानव का करता
जन भू पर आवाहन,—

अन्तःसौम्य, प्रबुद्ध,
शान्ति सम्पद् से भूषित
गरिमा मण्डित हो
जिससे जग-जीवन !

अन्तर का सौन्दर्य
बाह्य जड सुन्दरता से
कहीं महत्तर,
ईश्वर मुख का दर्पण,—

मानवीय सन्मूल्य
न आर्थिक विधि पर निर्भर
मानव आत्मा के वे ध्रुव
शाश्वत पावक कण !

मूल्य बहिर्जीवन पद्धति का भी
जो वितरण
करती अन्तर्वैभव,—

जीवन श्री शोभा से
दिङ् मुकुलित हो सके
धरा जन प्रांगण !

त्याग रत्न आभूषण तुमने
चिन्मय तृण मणि मुकुट किया
मस्तक पर धारण !

तेईस

धरती के खूंटे से
बांध दिया अब मैंने

अनघ विद्ध आत्मा के
उज्ज्वल मुख प्रकाश को!

वल्पलता - सा फैल
धरा के रोम - रोम में
अनुप्राणित करता वह
भू जीवन विकास को!

आध्यात्मिकता को
यथार्थ-रज में भूपित कर
सूक्ष्म दार्शनिक सत्यों में
जीवन के मांसल
रूप रंग भर,—

मूर्त कर गया हूँ
अमूर्त को मैं
मानव के स्वप्न-वास को
सत्य - पीठ पर
स्थापित कर लोकोत्तर!

पंख कटी चेतना,
बद्ध इन्द्रिय पिंजर में
नैतिकता की
कृपण तीलियों से थी
निर्मम परिवृत,—

प्राणों के रस मुक्त गगन में
अब उड़ान भर सकती वह
नव भाव बोध के पंख मार
अन्तः स्मित!

लौह पटरियों पर तर्कों की
रेंग रही सभ्यता अभी
दिग्भ्रान्त, बहिर्मुख धावित,—

भावी पीढ़ी जीयेगी
मेरी आस्था को
अन्तर्मुख स्थित,—
जीवन पथ होगा जब
अन्तः सूर्य सत्य से दीपित!

धरा चेतना को
मैं पार्थिव स्वर्ण रज्जु में
बाँध गया हूँ मानव को—
बन्धन मे मुक्त असंशय,
स्वर्ग नरक को अतिक्रम कर

नव कर्म प्रेरणा
भू-रचना के स्वर्ग-सृजन में
उसे धरेगी सर्वश्रेय-रत, तन्मय !

चौबीस

तृण न घास की पत्ती,
असि की तीक्ष्ण धार मैं,
सतत काटती झुक-झुक
झंझा के प्रहार मैं !

ढह पडते नभ चुम्बी गिरि,
गर्वोन्नत तरुवर,
मैं उँगली पर
तूफानों का
वेग नचाकर
उन्हें छकाती—
आत्म नम्र,
अरियों का मद हर !

मैं संकल्प-सशस्त्र,
वज्र दृढ, माखन कोमल,
धरती की चेतना,
सौम्य सीता, जन सम्बल,
बिछ-बिछ मेरी विनय
साधती जीवन मंगल,—
लघु-लघु पद धर
मैं जन-भू को रखती श्यामल !

आज उमडता जग जीवन में
अन्ध बवण्डर
भौतिकता की धृष्ट धूलि से
क्षुब्ध दिगन्तर !—

क्षेप्यास्त्रों के भय से कँपता
अग जग थर्-थर्,
आत्म-शक्ति के सित प्ररोह-सी
उठ मैं निःस्वर—
पद नत करती
युग जीवन अन्धड़ को दुर्धर !

जिसके सम्मुख
पवि घुम जाते,
हकलाती दिङ्मुख

पच्चीस

मैं अब पावक के तारों पर छेड़ रहा झंकार निरन्तर,
उर-पावक के तार—फूटती रक्त जिह्व मणि ज्वाल क्रान्त स्वर !

निखर उठी सोने-सी तपकर प्राण साधना मेरी दुष्कर,
उमड़ रही मनुहार प्रेम की विश्व चेतना बन दिग् भास्वर !

यह अन्तर्मन का वसन्त वन, इन्द्रिय-मधुकर भरते गुंजन
सूक्ष्म भाव गन्धी सुमनों से मुक्त दिगन्त गये उर के भर !

बरस रही नयनों के पथ पर स्वप्नों की पंखड़ियाँ निःस्वर,
महत् सत्य ले रहा जन्म : जन जीवन मन का कर रूपान्तर !

आओ, वस्तु-सत्य कर अतिक्रम दूर करें भू-जीवन का भ्रम,
खोलें सुन्दरता का गुण्ठन, मृत्यु भीति, सन्त्रास, शोक हर !

पट के भीतर पट रे अगणित उनसे तद्वत् हो लें परिचित,
यह विधिना का रचना कौशल— स्रष्टा की भव कला अनश्वर !

अन्तर का दर्पण हो बाहर, हो प्रबुद्ध जन जीवन भीतर—
निखिल दार्शनिक भी मिल जग को बना न पायेंगे सुन्दरतर !

मैं उर पावक के तारों पर छेड रहा झंकार क्रान्त-स्वर !

छब्बीस

रस प्रहर्ष, सौन्दर्य, प्रेम का
मनो भुवन यह—
जिसमें सदा जिया,
जिसको गीतों मे गाया !—

निखिल वस्तु-जग का घनत्व
सौरभ - सा उडकर
सूक्ष्म भाव-जग बन
जिसके प्राणों में छाया !

शोभा ही स्त्री रही,—
प्रीति की बाँह पसारे
बाँधे मुझको रही
मुग्ध आनन्द पाश मे—

तन्मय भय संशय सारे
विश्वास बन गये
मोह वासना रहित
भावना के विलास मे !

भाव-प्रेयसी मात्र रही तुम
प्रिया अगोचर,

उर की आस्था का स्वर्णिम मधु प्राण, तुम्हारे प्रति चिर अर्पित,
इसी अमृत को पी द्रष्टा ऋषि सत्य दृष्टि नित करते अर्जित !

जाने किस प्रकाश का भरती तुम मेरे प्राणों मे प्लावन,
स्वप्न स्नात, नव जीवन शोभा मे करता मैं भू पर विचरण!
लय होतीं आनन्द-मुक्ति मे भू पथ की बाधाएँ सारी !

ऐसा नही कि पिसा नही मैं जीवन संघर्षण पाटों में—
मिथ्या इच्छाओं से प्रेरित लुटा नही हाटों बाटों मे—

पर तुमसे संयुक्त लौट मन आया पास तुम्हारे अविरत,—
राग द्वेष के घृणित प्रहारों मे रख सका हृदय को अक्षत !
हर्ष शोक सब मेरे सहकर तुमने बिगड़ी बात संवारी !

प्रिये, बिना अवलम्ब गहे दृढ़ जीना नही जगत् में सम्भव,
तुम जब साथ दु:ख भी सुखमय, बिना साथ वैभव भी परिभव !

अन्त:स्थित मन,—बहिर्जगत् प्रति भी रहता वह जीवित, जाग्रत्,
जग क्षण भंगुर,—स्पर्श तुम्हारा पाकर क्षण बन जाता शाश्वत !
साँस साँस मेरा अजस्र, मानसि, तुम पर रहता बलिहारी,
ओ तन्मय आकांक्षा क्वारी !

अट्ठाईस

सरल बनाओ,
भू जीवन को सरल बनाओ !
स्वच्छ प्राणप्रद वायु—
बड़ी सम्पद् वह भू पर,
बन सौरभ के
झरनो में
नहलाओ अन्तर !

कोकिल के गीतों में
वेद ऋचाएँ पावन,
मधुपों के गुंजन में
ऋषि मुनियो का चिन्तन !

आओ,
बैठ किशोर वृत्ति की
मुग्ध तरी में
वन स्रोतों के साथ
मुक्त मन बहते जाओ !
सरल बनाओ,
नर जीवन को सरल बनाओ !
पशुओं को भी दिया प्रकृति ने
बोध आत्म रक्षण का,

तुम सशस्त्र दानव बन
भला करोगे क्या ?—
संहार विश्व जीवन का ?
इससे शूल मिटेगा मन का ?

सौम्य शान्ति, मन की निश्छलता
सीखो नम्र गगन से,
सहृदयता, सौजन्य
प्रणत पद बिछे दूब के वन से !

पर्वत शृंगों से
एकाग्र प्रहर्ष, अरन्ध्र समाधित,
वृक्षों से ऊपर उठना,
धरती पर पैर गडाना,
सीखो निश्चित !

सरल बनाओ,
जन भू जीवन को अपनाओ !
निखिल सिद्धियाँ
भव संस्कृति की
करो प्रकृति चरणों पर
सहज निछावर !

धरा स्वर्ग को, अध: ऊर्ध्व को
आत्म समग्र दृष्टि से देखो,
भू जीवन में
पूर्ण समन्वित कर, नर !

खोलो अन्तर्मुख वातायन
बहिर्दृष्टि के भेद मिटाओ
सरल बनाओ,
जग जीवन को सरल बनाओ !

उनतीस

मैं स्त्री के सौन्दर्य भँवर में
नहीं फँसूँगा,
वह बहती सरिता भर चंचल;—
रूप-वृत्त में मुझे घूमना
नहीं सुहाता,—
थामे हूँ रस-चिति का अंचल !

मुझे प्रीति के सुधा सिन्धु में
तिरना भाता,
रुद्ध हृदय-पट खोल,

तीर कर पार,
लौटना मुझको आता !

ऊब डूब करता
जीवन सागर में
अन्तर प्रतिपल !—
मिला नही अन्तस्तल
निश्छल !

तुम हो पूर्ण प्रकृति :
बर्बर सभ्यता ने तुम्हे
बना दिया अब नग्न विकृति !

अखिल शील सौन्दर्य
प्रेम आनन्द सत्य की
तुम केवल अस्वीकृति !

तन्मय हृदय-सुरभि से वंचित
देह क्षुधा भर तुम्हें प्रीति नित,
गहराई से रहित
चित्त वृत्तियाँ अनिश्चित !

वृद्ध हो गया मैं अब !
पर, ये युवक क्यों नही
करते सब विद्रोह
छोड़ गृह मोह—
तुम्हें पा कर जीवन-मृत !

मुक्त प्रकृति के प्रागण में
तुमको ले जाकर
क्यों उद्धार नही करते
मन प्राणों के बन्धन हर ?

मधुपों का मधु गुंजन
कोयल का प्रिय गायन,
पुष्पों के सौरभ मरन्द मे
भीगे मधु कण
तुमको दें व्यक्तित्व नया,—
सार्थक हो नन्दन,
सार्थक प्रिये,
हृदय का स्पन्दन !

रूप भँवर मे नहीं पड़ेगा
अब सञ्चित् सागर
तितीर्षु मन,
जीवन मुक्त विचरता मैं

तुम सशस्त्र दानव बन
भला करोगे क्या?—
संहार विश्व जीवन का?
इससे शूल मिटेगा मन का?

सौम्य शान्ति, मन की निश्छलता
सीखो नम्र गगन से,
सहृदयता, सौजन्य
प्रणत पद बिछे दूब के वन से!

पर्वत शृंगों से
एकाग्र प्रहर्ष, प्ररन्ध्र समाधित,
वृक्षों से ऊपर उठना,
धरती पर पैर गड़ाना,
सीखो निश्चित!

सरल बनाओ,
जन भू जीवन को अपनाओ!
निखिल सिद्धियाँ
भव संस्कृति की
करो प्रकृति चरणों पर
सहज निछावर!

धरा स्वर्ग को, अधः ऊर्ध्व को
आत्म समग्र दृष्टि से देखो,
भू जीवन में
पूर्ण समन्वित कर, नर!

खोलो अन्तर्मुख वातायन
वहिर्दृष्टि के भेद मिटाओ
सरल बनाओ,
जग जीवन को सरल बनाओ!

उनतीस

मैं स्त्री के सौन्दर्य भँवर में
नहीं फँसूँगा,
वह बहती सरिता भर चंचल;—
रूप-वृत्त में मुझे घूमना
नहीं सुहाता,—
थामे हूँ रस-चिति का अंचल!

मुझे प्रीति के सुधा सिन्धु में
तिरना भाता,
रुद्ध हृदय-पट खोल,

तीर कर पार,
लौटना मुझको आता !

ऊब डूब करता
जीवन सागर मे
अन्तर प्रतिपल !—
मिला नही अन्तस्तल
निश्छल !

तुम हो पूर्ण प्रकृति :
बर्बर सभ्यता ने तुम्हें
बना दिया अब नग्न विकृति !

अखिल शील सौन्दर्य
प्रेम आनन्द सत्य की
तुम केवल अस्वीकृति !

तन्मय हृदय-सुरभि से वंचित
देह क्षुधा भर तुम्हें प्रीति नित,
गहराई से रहित
चित्त वृत्तियाँ अनिश्चित !

वृद्ध हो गया मैं अब !
पर, ये युवक क्यो नही
करते सब विद्रोह
छोड़ गृह मोह—
तुम्हें पा कर जीवन-मृत !

मुक्त प्रकृति के प्रांगण मे
तुमको ले जाकर
क्यों उद्धार नही करते
मन प्राणो के बन्धन हर ?

मधुपों का मधु गुंजन
कोयल का प्रिय गायन,
पुष्पों के सौरभ मरन्द मे
भीगे मधु कण
तुमको दें व्यक्तित्व नया,—
सार्थक हो क्रन्दन,
सार्थक प्रिये,
हृदय का स्पन्दन !

रूप भँवर मे नही पड़ेगा
अब सञ्चित् सागर
तितीर्षु मन,
जीवन मुक्त विचरता मैं

स्वीकृत कर
जग हित जीवन-बन्धन !

तीस

मैं हिमगिरि की
शंख और ऊँचाई पर चढ
आर पार सौन्दर्य निरखता
जीवन की घाटी का !

मेरी यह घाटी
जीवों की योनि सृजन प्रिय :
इसके धूपछाँह जड़ वे
मेरे प्रकाश के,—

यह न कभी भी निष्क्रिय रहती,
ज्योतिर्मय पग-चिह्न पड़े
इसमे जग जीवन क्रम विकास के !
मेरी ही सत्ता का द्योतक
इसका प्रति प्रिय कण माटी का !

इसे छोड़ कर
तुम शिखरों पर चढ़ो
न स्वीकृत करता अन्तर !—
बरस रहा उनका ऐश्वर्य
स्वयं ही द्रोणी के अंचल में,—

देखो फूलो का मुख सुन्दर,
सुनो भ्रमर गुंजार मन्द्र स्वर,—
पिक की द्रवित पुकार मनोहर
किसका मर्म न करती कातर ?—

शख फूंकना होता जिसको
उसे शिखर पर स्वयं चढ़ाता
मैं,—दे मुक्त अभय वर !

व्यर्थ प्रयत्न न करो तपोबल,
अनधिकार चेष्टाएँ सारी
होती निष्फल !

जीवन ही परिपूर्ण सत्य—
आत्मा का सूर्य,
मन. प्रकाश,
प्राणो का पावक
उसके अविच्छिन्न अंग भर !

मैं शाश्वत सन्देश तुम्हें
देता घाटी का,
मेरी सत्ता का प्रतीक
प्रतिकण माटी का !

इकतीस

स्वर्गिक पावक से निर्मित
प्रिय देह तुम्हारी,
प्राणों की
सौरभ ज्वाला में वेष्टित !

सुन्दरता का विद्युत् वाहक
स्पर्श—
हृदय को लगता दाहक,—
जीवन आकांक्षा को कर उद्दीपित !
मैंने फूलों से कल्पित की
शोभा-तन की प्रतिमा,
सद्यः स्फुट
मधु सम्पद् से गढ़
अंगों की
प्रिय तनिमा !

पंखड़ियों - से नयन,
प्रवालों-से अरुणाधर,
मृदु मरन्द - से मांसल स्तन,
बाँहें लतिका-से सुन्दर !—

मेरा हृदय बना
अपलक
शोभा का तन्मय दर्पण !

इस विराट् जग के मन्दिर मे
केवल शोभा, कोरी शोभा,
क्वारी शोभा बनी रहोगी तुम—
तन से सम्पन्न, हृदय से निर्धन ?

रिक्त केंचुली श्री शोभा की
जिससे हो
कर गया प्रयाण
सर्प चिन्मणि धर
उठा आत्म-गौरव फन !

जब निमग्न होता मैं
अन्तश्चित् सागर में—

लक्ष्मी - सी तुम
होती प्रकट
मर्त्य जीवन का
संजीवन घट
घरे रश्मि-स्मित कर मे !—

लगता तब,
सर्वांगपूर्ण अन्तः शोभा ही
तुम स्वर्गोपम,—
जिसकी छाया भर
मित इन्द्रिय जग में प्रसरित
बन दैहिक सौन्दर्य छटा सित,—
दूर हुआ मन का भ्रम !

वाह्य रूप से
चकाचौंध होते न नेत्र अब,
बोध दृष्टि
खोजती सत्य अन्तर का !—
पुलकित होते प्राण
स्पर्श पा
भाव-विभव का,
खुलता शोभा मुख गुण्ठन
बाहर का !

बत्तीस

राजहंस तुम
मेरे कवि,
रस मानस वासी,
चिदाकाश में उड़
अनन्त छवि
पंख खोलकर
बरसाते गौरी अनुभूति
हृदय में भास्वर—
पार निरन्तर कर
जीवन मन के
स्मित अम्बर !

खुल पड़ते
नव भाव बोध के
सूर्य दिगन्तर
पंख मारकर

उड़ते जब तुम
ऊपर …… ऊपर !

प्राणों की घाटियाँ
स्वप्न-जाग्रत्-सी चलतीं
मौन सुनहली छायाओं संग
तिर-तिर निःस्वर !

वाणी के प्रिय वाहक
सित कल्पना पीठ पर
बिठा तड़ित् तन्वी छाया को
ज्योति-कर लिखित,—

रश्मि स्पर्श अंगुलियों से तुम
हृत्तन्त्री को
नवोत्कर्ष, नव सृजन हर्ष में
करते झंकृत !

झर झर पड़ते
श्री शोभा, आनन्द मधुरिमा
तन-मन प्राणों को कर
भाव विभव रोमांचित,

कौन सत्य वह ?
जो तन्मय-अन्तर को करता
जीवन मंगल सर्जन के प्रति
विस्मय प्रेरित !

तैंतीस

धरती से उग आया
क्या आकाश
और भी गहरा रँगकर—
सिर पर
फालसई किरीट धर ?

फुल्ल पैंट्रिया की
रोमांचित
इन्द्रनील मंजरियाँ निःस्वर
मन की आँखों को लेती हर !

यही सत्य !
धरती ही के
रस से अभिसिंचित होकर
सार्थकता पाता

चिर निर्जन
निष्क्रिय अम्बर !

स्वर्ग धरा का संयोजन
क्या हो भी सकता,
यदि न क्षितिज बन
भरता नभ
भू को परिरम्भण ?

श्री मांसल होता चैतन्य
भला क्या,
बिना किये ही
रज तन धारण ?

नया वसन्त निखरता लो, अब
दिग् जर्जर
पतझर पंजर से—

वह दिगन्त में
रंगों की ज्वाला बखेरता,
नव श्री शोभा का चारण
नर-कोयल फिर से
पंचम स्वर में मत्त टेरता !

लो, रवीन्द्र संगीत गूंजता
गन्ध पवन में,
सौरभ भरे मरन्द मेघ
झरते कानन में !

आज एक ही सुख से सुखी
अनेक प्राण मन,
मनुज हृदय का सत्य एक ही,—
गुह्य चिरन्तन !

कवि स्वभाव से सौम्य
किन्तु निःशक्त न किंचित,
एक निष्ठ, बहु प्रेमी,
आत्म विभक्त न निश्चित !

विश्व ह्रास विघटन अब
अणु अस्त्रों से सज्जित,
उर अतिक्रम कर ह्रास तमस को
होता विकसित !

राग द्वेष कल्मष—
जीवन की निखिल क्षुद्रता

अन्तः दृढ़ संकल्प शक्ति से
करता मर्दित !

फिर - फिर चिदाकाश भर
करता
धरा मृत्तिका को नव गर्भित,
रस कृतार्थ हो उठता चिन्मय
मृण्मय बाँहों मे आलिंगित !

उतर रही अब धरा गर्भ में
नयी चेतना,
अनुभव होती
हृदय प्राण में
नयी वेदना !—

पतझर के पीले पत्तों से
उगतीं कहीं नयी मधु-कोंपल ?
नव गुण लेता जन्म जगत् मे
नव वसन्त से भर दिङ् मण्डल !

नये रूप धरता प्रकाश
नव कलि कुसुमो में
नये रंग भर—
प्रतनु पँट्रिया की लतिका में
नव भू-यौवन
उठा अब निखर !

चौंतीस

तुम मेरी मानसी,
हृदय शोभा की प्रतिमा,
मर्म भावना के मरन्द से निर्मित,—
मेरा सलज प्रेम का चांद
तुम्हारा प्रिय मुख,
बरसाता रस-तृप्ति अमृत सुख,
उर के भीतर अविदित !

मेरे नव यौवन प्रवाल-से
अधर मन्द स्मित,
दशन रेख रुचि मण्डित,—
तुम्हें देख मैं
अपने अन्तर के दर्पण में—
रहता निर्निमेष,
निरुपम छवि विस्मित !

मेरा प्रिय कल्पना मराल
सीखता तुमसे
चंचल चम्पक ग्रीवा भंगि मनोहर,
बाहु लताएँ
मुझे बाँध लेती
पुलकों के मुकुलित
आलिंगन भर!

शंख-गौर आनन्द कलश-से
घनीभूत कोमलता के स्तन
आकर्षित करते अनजाने
खींच बहिर्मुख
मेरा रस तन्मय मन!—

किन्तु प्रिये,
मैं लाँघ अगम पर्वत-सा
स्त्री शोभा-समुद्र तन,
भाव मूर्ति चाहता
धरा पर करना स्थापित—
सरल हृदय सुन्दरता की हो
जो प्रतीक,
शुचि दर्पण!

शील धन्य हो!—
विचर सको तुम
जन धरणी पर—

पवित्रता
उतरे भू मन में
नयी देह धर!

ना, ना, ना,—
दीप ही सत्य है!
ज्वाला, स्नेह, वर्तिका,
मृण्मय रूप सकोरे
पृथक्
तुच्छ साधन भर कोरे!

तन-मन प्राणों में तुम खण्डित
कैसे हो सकती
प्रेरित कवि स्वर में वन्दित?

तुम्हें समग्र रूप में होना
तन-मन से संयोजित!
आत्मा
श्री शोभा तन में परिधानित

भू-जीवन को करे
रूप-लौ से आलोकित !

पैंतीस

सोने के पल,
मन के सुख के
सोने के पल !

आयें,
इनकी माला गूँथें,
जीवन को पहनायें !

खड़ा ठूँठ - सा भंगुर जीवन,
अस्थि शेष
ज्यों पतझर का वन !

आयें,
जग को
उर की सौरभ में लिपटायें !

नया जन्म दें जीवन को
कर नव युग चेतन,
कोयल के स्वर मे गा
इसका मन बहलायें !

फिर अन्तर का ज्वार करे
जग को दिङ् मुकुलित,
नयी चेतना का वसन्त हो
प्राण पल्लवित,—

भू को
शोभा में नहलायें !
आयें,
चिर यौवना सृष्टि को
तरुण स्वर्ग के अंक लगायें,—
भंगुर जीवन को
संजीवन सुधा पिलायें !

मन्द मुसकुराकर जीवन
कहता,—
भावुक मन,
मेरे ही तो चित् प्ररोह तुम,—
ऊर्ध्व वृक्ष अब गये भले बन !

मेरा ही वैभव
वसन्त में होता कुसुमित,—
मानव मुख निरखते तुम
मैं होता मण्डित!

मैं ही भव सागर में फैला,
सिमटा ऊर्ध्व शिखर में,—
एक रूप भंगुर में मेरा
अपर स्वरूप अमर में!

मेरे उर सागर की
तुम चित् तरी
मरुत-जय,
सत्य अकूल अतल में,—
पार करोगे!—
सम्भव?

छत्तीस

आँख मूँदता अब मैं
बाहर के जग के प्रति,
उसको विघटित होना
मुझे न संशय!—

आत्मनिष्ठ कह लें मुझको
कुछ द्वेषी दुर्मति,
युग-शेष सभ्यता-वाष्प
होगा क्षय!

व्यर्थ भटकना
ह्रास निशा के
अन्धकार में
नहीं मनीषी
प्राज्ञ जनों को भाता,
अभिव्यक्ति पाने को
प्राणों का अन्तर्जग
अन्तर्द्रष्टा कलाकार
कवि के मन में अकुलाता!

संयम धर्मा कला
उसे बढ़ धूल धुन्ध से
पतझर में खोजना
नये जीवन वसन्त का आगम,—

झरें शब्द
पीले पत्तों-से,

भाव बोध के
सार्थक कर स्वर्णिम अंकुर फूटें,
रस स्रष्टा का श्रम !
अन्तर्मुख आनन्द छन्द
झंकृत करता मैं,
वितरित कर जन - जन में
पावक चेतन !
नव प्रकाश, सौन्दर्य, प्रेम के
क्रान्ति बीज बो
ज्योति प्ररोहित करता
नव भू-जीवन !

उड़ता मन
विद्युत् प्रहर्ष के
पंख खोल नव
मुक्त चेतना अम्बर मे
ध्वनि तन्मय—
हृदय सहज ही गा उठता;
पग - पग पर विस्मय
प्रेरित करता उसे—
गुह्य निर्वाक् भागवत विस्मय,—
लीन निखिल अब
जीवन के भय संशय !
प्लावित करता चन्द्र ज्वार
मेरे प्राणों का
युग युग का कल्मष धो
भू-प्रांगण से—
अन्तर के ऐश्वर्य सिन्धु में
मज्जित करता
बाहर की मैं निखिल क्षुद्रता
पोंछ मनुज जीवन से !

सैंतीस

खुल गये द्वार,
अवरुद्ध द्वार !
अब आता जाता जग भीतर,
मन मुक्त विचर सकता बाहर,—
देखता मनोनयनों से मैं
भूमा का वैभव आर-पार !

अड़तीस

रस सागर में खेता
मन की तरी,
भाव सम्पद् से भरी !

अमित रूप लावण्य चपल जल,
अतल अकूल गूढ़ अन्तस्तल,
संवेदना मथित
सुख - दुख की
कँपती शत लहरी !

उद्वेलित अम्बुधि हिल्लोलें
नाव निगलने को मुह खोलें,
आस्था के
सित पाल खोल वह
उड़ती स्वर्ग परी !

शशि किरणों को छू
उर में स्मित
खुला स्वर्ग वातायन मोहित,
क्षण भंगुर फेनों के मुख पर
ज्योति रेख बिखरी !

गुह्य व्यथा से जल नित उच्छल,
तल में बसते ग्राह तिमिंगिल,
धूपछाँह - सी तिरती
भय संशय छाया गहरी !

रत्नाकर यह रस का सागर
दिग् व्यापक अस्तित्व अगोचर,
ध्यान महत्ता का कर
मन की
सुधि-बुधि सब बिसरी !

कही मार्ग में आपा खोकर
कूदूँ मैं न,
मोह जल दुस्तर,
अन्धकार का
अवगुण्ठन दे
खड़ा मृत्यु प्रहरी !

प्रज्ञा से कर वारिधि मन्थन,
सुधा गरल कण बिलगा तत्क्षण
जीवन से संघर्ष निरत
चेतना वह्नि निखरी !

अड़तीस

रस सागर में खेता
मन की तरी,
भाव सम्पद् से भरी !

अमित रूप लावण्य चपल जल,
अतल अकूल गूढ़ अन्तस्तल,
संवेदना मथित
सुख - दुख की
कँपती शत लहरी !

उद्वेलित अम्बुधि हिल्लोलें
नाव निगलने को मुह खोलें,
आस्था के
सित पाल खोल वह
उडती स्वर्ग परी !

शशि किरणों को छू
उर में स्मित
खुला स्वर्ग वातायन मोहित,
क्षण भंगुर फेनों के मुख पर
ज्योति रेख बिखरी !

गुह्य व्यथा से जल नित उच्छल,
तल में बसते ग्राह तिमिंगिल,
धूपछाँह - सी तिरती
भय संशय छाया गहरी !

रत्नाकर यह रस का सागर
दिग् व्यापक अस्तित्व अगोचर,
ध्यान महत्ता का कर
मन की
सुधि-बुधि सब बिसरी !

कहीं मार्ग में आपा खोकर
कूदूं मैं न,
मोह जल दुस्तर,
अन्धकार का
अवगुण्ठन दे
खडा मृत्यु प्रहरी !

प्रज्ञा से कर वारिधि मन्थन,
सुधा गरल कण बिलगा तत्क्षण
जीवन से संघर्ष निरत
चेतना वह्नि निखरी !

उनतालीस

अब न शब्द रह गये, छन्द ही, रहे न गीतों के स्वर मादन,
स्पर्श रह गया केवल तन्मय, मूक भाव-जग, शान्त प्राण मन !

सूक्ष्म सुरभि पैठी रोम्रों में, प्राणों में जगती मधु गुंजन,
स्वप्नों की पंखड़ियाँ झर-झर रचतीं सृजन-कला सम्मोहन !

मनोदृगों के सम्मुख खुलता श्री शोभा का लोक अगोचर
लिपटा भावों की ग्राभा में,—मनुष्यत्व का देने नव वर !

बहिर्गमन करता धीरे मन हृदय-श्रवण से शब्द श्रवण कर,
जादू की अगुलि से कोई जीवन का करता रूपान्तर !

तृण तरु भू-रोमांच - से खड़े, कुसुम हर्ष से अपलक लोचन,
स्रोत प्रेरणाओं से मुखरित, जड चेतन जग जीवन-साधन !

तुम में लय, मन रहता जाग्रत्,—अन्तर्मन का स्वर्णिम प्लावन
मज्जित कर देता अग जग को, स्वर्ग धरा पर करता विचरण !

मैं अब मन्दिर-अजिर में खड़ा, कहाँ खो गया जन-भू प्रांगण ?
भू जीवन के क्षुद्र कर्म भी मुझे सहज लगते आराधन !

चालीस

मुझे प्यार करना सिखलाओ !
सूक्ष्म सुरभि - सी
भीतर गहरी
गहरी पैठ समाओ !

मुझे स्मरण भी रहे
कि न रहे,
मेरा मन कुछ कहे
कि न कहे,—
तुम्हीं सहज अस्तित्व बोध बन
रोम - रोम में छाओ !

तुममें निज को भूल
रहूँ मैं समधिक जाग्रत्,
विचरूँ जग में मुक्त भाव से,
बन्धन बनें न विधि-व्रत !
तुम्ही साध तन्मय उर तन्त्री
शब्द नवीन सुनाओ !

निज असीमता मे तुम
मुझमें रहो सहज बन सीमित,

तुम्हें समर्पित हृदय प्राण
बाहर हों समधिक जीवित !
मेरे जीवन व्यापारों मे
निज गरिमा बरसाओ !
अन्य काम ऋण-पक्ष प्यार का
तुमको करता अर्पित,
धन-सौन्दर्य प्रहर्ष कर सकूँ
मैं जीवन में वितरित—
मुझे तपा शोभा पावक मे
उज्ज्वल स्वर्ण बनाओ !
प्यार करूँ मैं तुम्हें—
प्यार को,
ज्ञान भक्ति के सुधा-सार को,
पुरुष प्रकृति को युक्त किये जो,
निखिल विकृति में
निर्विकार को !
भव विकास क्रम में हो सर्जित
विश्व विरोध मिटाओ !

इकतालीस

प्रेयसि कविते, आत्म निष्ठ कहते मुझको जन,—
नही जानते, व्याकुल जिसके लिए विश्व मन
तुममें स्वर - सचित अमूल्य वह रस संजीवन !
अभिव्यक्ति पाता तुममें वह सत्य छन्द बन,
जिसे सँवार न पाता जग जीवन संघर्षण !
बहिर्भ्रान्ति जग के कर्दम में खोया हृद् धन
सहज सुलभ तुममें—तुम हृदय सत्य की दर्पण !
प्रिये, शिल्प उपवन से मधु सुमनों को चुनकर
नव सौन्दर्य-बोध मे तुम्हें सँजोऊँगा मैं सुन्दर !
भावों की सौरभ मे लिपटा चन्द्र कला तन
चरणो में साधूँगा पायल ध्वनि जन मोहन !
झंकृत कर उर तन्त्री मे श्रुति स्वर दिङ् मादन
गूँथूँगा गीतो में भू - जीवन हृत्स्पन्दन !
राजहंस पंखों पर उड़कर तुम आओगी,
मुक्त कल्पना वैभव भू पर बरसाओगी !
नव स्वप्नों से निर्निमेष होंगे जन लोचन,
सृजन हर्ष से पुलकित रस मन्यित जीवन मन !

बयालीस

तुम किस चट्टानी यथार्थ से
टकरा निर्मम
चूर चूर हो गयी—
कभी जो थी चिद् दर्पण !

ह्रास निशा, विघटन का तम,
द्वीपों में खण्डित
आत्म निष्ठ, बहुमुखी आज
मानव जीवन मन !

विफल हो गया
तड़िच्छक्ति गृह—
प्रोज्वल रखता
ज्योति वाहिनी
भाव शिराओं से जो
जग का जीवन !

मुण्ड मतों में भक्त
दुहाई दे तमिस्र की
अस्वीकृत करते
प्रकाश का मूल्य
मूढ़ जन !

भटक रहे पग,
ज्ञात नही मग,
व्यर्थ भटकने ही को
समझ सत्य का साधन—

वाद विवाद निरत भू बौद्धिक
तर्क भ्रान्त मन,—
कौन दिखाये दिशा ?—
हृदय-लौ कर चिद् दीपित—
करे पुनः युग पथ निर्देशन !

लूट-पाट मच रही जगत् में
स्वार्थ गीध-से पंजे फैला
करता जन धन मन
जीवन का शोषण !

युद्ध नद्ध राष्ट्रों मे खण्डित
आज जन धरा—
प्रलय बलाहक
विश्व ध्वंस हित

करते दारुण गर्जन,
ताण्डव नर्तन !

लक्ष्य बिना ज्यों मार्ग व्यर्थ,
आदर्श बिना त्यों
व्यर्थ, बाह्य भंगुर
यथार्थ का पोषण !—

वस्तु तथ्य सोपान
महत् आदर्श सत्य हित,—
जिसकी ओर
उसे करना आरोहण !

क्षेत्र भूत-जग :
जीवन-उर्वर उसे बनाना
बाह्य परिस्थितियों में भर
संयोजन,—
मनुष्यत्व के भाव-बीज कर वपन,
चेतना के दिक् स्वर्णिम
सस्यों से
करना कृतार्थ भू - प्रांगण !

किस दारुण पाषाण शिला से
टकराकर तुम
खण्ड खण्ड हो, इंगित करती
यह नव युग परिवर्तन,—
भव विकास गति क्रम में
पूर्ण समग्र दृष्टि बन,
प्रिये, करो फिर
युग जीवन रथ का
भू पर संचालन !

तैंतालीस

चन्द्र किरण
तुम स्फटिकोज्वल स्मित,
मनोगुहा में कर प्रवेश नित
आकुल अन्तर को कर
श्री शोभा की
ज्योत्स्ना में अवगाहित,—

मेरे बिखरे स्वप्नों भावों के मोती
निज हृदय हार में गूँथ
उन्हें करती तुम
प्रभु चरणों पर अर्पित !

अग्नि अर्चि
तुम रक्तोज्वल,
मेरे प्राणों के
अन्ध कूप में पैठ
लालसाओं को उच्छल
तप्त स्वर्ण-सी सहज निखार
बना चिर निर्मल कोमल—
उन्हें ढालती नव जीवन मूल्यो में
जिससे हो भू-मंगल !

सूर्य रश्मि
तुम रजतोज्वल,
मेरे विचार चिन्तन के
वाष्प-गहन में धुस कर
धूमिल तर्कों बोधों में
अभिनव प्रकाश भर
नयी प्रेरणा से रचती
कल्पना दिगन्तर !—
शत वर्णों के सुरधनु से रँग
सित चिद् अम्बर !

प्रीति मरीचि
सुवर्णोज्वल तुम,
रोम-रोम मे मेरे भीतर
समा असंशय
तुम तद्गत आनन्द स्पर्श
सौन्दर्य बोध में
नव जीवन स्वर-संगति भरती अक्षय !—
नया मूल्य दे ध्यान-बोध को
आत्म-सत्य का
भू जीवन से कर नव परिणय !

तुम्ही चेतना स्पर्श
शुभ्र हीरोज्वल—
मेरे इन्द्रिय मन जीवन के
क्रिया कलापों में तुम प्रतिक्षण
सार्थकता भरती ' संगोपन,
नये भाव भर, नव संवेदन !

तुम्हीं अगोचर सूत्र चिरन्तन
अनुस्यूत जिसमें समस्त
अग जग का जीवन,—
तुम्हीं हृदय स्पन्दन
निज जन का प्रणय निवेदन,
अन्तर्यौवन !

चौवालीस

फूलों के क्षण !
श्री सुषमा मे पले,
रूप रंगो मे निरुपम ढले
हृदय-सौरभ में निर्मल सने—
प्रतीक्षा करते
अपलक लोचन !

ये तद्‌गत अन्तःसुख में स्थित
निज व्यक्तित्व स्वयं कर निर्मित
उर की शोभा करते वितरित—
आभिजात्य गरिमा
हरती मन !

कण्टक कुण्ठित स्थिति में बढकर
घास पात खर से उठ ऊपर,
ऊर्ध्व वृन्त पर
एक ध्येय रत
पाते किरणों के सित चुम्बन !

भू-कर्दम में मूल गहनतर,
मधु रस के भर कलश निरन्तर
उर्वर रखते वन उपवन ये
बिखरा स्वर्णिम
रज मरन्द कण !

निश्चय, भीतर ही सच्चा सुख,
देखो हे वन फूलों का मुख—
अन्तःस्थित ही
भव सागर का
कर सक्ते निर्बाध सन्तरण !

यह फूलों ही का न रंग वन,
नये क्षितिज का रे उद्‌घाटन,
आत्मा के वैभव से विस्मित
मन मधुकर
भरता रस गुंजन !

नया विश्व होता दिक् कुसुमित
शिशुओं की पीढ़ी मे सस्मित,
फूलों के पग धर
जन भू पर
अन्तर्यौवन करता विचरण !

अग्नि अर्चि
तुम रक्तोज्वल,
मेरे प्राणों के
अन्ध कूप में पैठ
लालसाओं को उच्छल
तप्त स्वर्ण-सी सहज निखार
बना चिर निर्मल कोमल—
उन्हें ढालती नव जीवन मूल्यो में
जिससे हो भू-मंगल !

सूर्य रश्मि
तुम रजतोज्वल,
मेरे विचार चिन्तन के
वाष्प-गहन में घुस कर
धूमिल तर्कों बोधों में
अभिनव प्रकाश भर
नयी प्रेरणा से रचती
कल्पना दिगन्तर !—
शत वर्णों के सुरधनु से रँग
सित चिद् अम्बर !

प्रीति मरीचि
सुवर्णोज्वल तुम,
रोम-रोम में मेरे भीतर
समा असंशय
तुम तद्गत आनन्द स्पर्श
सौन्दर्य बोध मे
नव जीवन स्वर-संगति भरती अक्षय !—
नया मूल्य दे ध्यान-बोध को
आत्म-सत्य का
भू जीवन से कर नव परिणय !

तुम्ही चेतना स्पर्श
शुभ्र हीरोज्वल—
मेरे इन्द्रिय मन जीवन के
क्रिया कलापों में तुम प्रतिक्षण
सार्थकता भरती संगोपन,
नये भाव भर, नव संवेदन !
तुम्हीं अगोचर सूत्र चिरन्तन
अनुस्यूत जिसमे समस्त
अग जग का जीवन,—
तुम्ही हृदय स्पन्दन
निज जन का प्रणय निवेदन,
अन्तर्यौवन !

चौवालीस

फूलों के क्षण!
श्री सुषमा में पले,
रूप रंगों में निरुपम ढले
हृदय-सौरभ में निर्मल सने—
प्रतीक्षा करते
अपलक लोचन!

ये तद्गत अन्तःसुख में स्थित
निज व्यक्तित्व स्वयं कर निर्मित
उर की शोभा करते वितरित—
आभिजात्य गरिमा
हरती मन!

कण्टक कुण्ठित स्थिति में बढ़कर
घास पात खर से उठ ऊपर,
ऊर्ध्व वृन्त पर
एक ध्येय रत
पाते किरणों के सित चुम्बन!

भू-कर्दम में मूल गहनतर,
मधु रस के भर कलश निरन्तर
उर्वर रखते वन उपवन ये
बिखरा स्वर्णिम
रज मरन्द कण!

निश्चय, भीतर ही सच्चा सुख,
देखो हे वन फूलों का मुख—
अन्तःस्थित ही
भव सागर का
कर सकते निर्बाध सन्तरण!

यह फूलों ही का न रंग वन,
नये क्षितिज का रे उद्घाटन,
आत्मा के वैभव से विस्मित
मन मधुकर
भरता रस गुंजन!

नया विश्व होता दिक् कुसुमित
शिशुओं की पीढ़ी में सस्मित,
फूलों के पग धर
जन भू पर
अन्तर्यौवन करता विचरण!

ये अन्तः प्रहर्ष के सित पल,
हृदय चेतना दर्पण निर्मल,—
जिनमें बिम्बित
ईश्वर का मुख
जिससे व्याप्त निखिल जग जीवन !
फूलों के क्षण !

पेंतालीस

मुझे न कुछ कहने को नूतन !
प्राण, पुरातन ही चिर नूतन
जान गया मन !

शाश्वत आता क्षण के पग धर,
चिर असीम स्थिति-सीमा बन कर,
नव-नव रूपों मे, भावों में
नित पुराण ही करता विचरण !

समाधिस्थ-से कब से पर्वत,
बहिःसुप्त, अन्तर्मुख जाग्रत्,—
उनका मौन रहस मुखरित हो
श्रुति-अशब्द वाणी जाता बन !

कब से बहता सरिता का जल
नित्य नयी गति में कल-कल छल,
खींच चपल लहरों का अंचल
नये खेल खेलता समीरण !

नया पुराने ही से आता,
परिचित नव प्रभात मुसकाता,
ध्यान मग्न-सी सन्ध्या आ,
नव स्वप्नो से भरती भू-प्रांगण !

क्या न शशि कला लगती नित नव ?
बासी पड़ता रवि का वैभव ?
आँचल ओट किये दीपक लौ
क्या न तारिका हरती लोचन ?

कल का पतझर नव वसन्त बन
जरा जन्म ले बनती बचपन,
जो अनादि वह अन्तहीन भी,
प्राक्तन कब रह सकता प्राक्तन !

जहाँ कहीं जाता मेरा मन
दृष्टि चमत्कृत रहती तत्क्षण,—

जीर्ण जगत् से काढ नवीन जग
कवि उर का करता अभिवादन !

सच यह, सब नवीनता भीतर,
बाहर केवल जड प्रतिकृति भर,—
नित्य नवोन्मेषिनी चेतना
वृद्ध विश्व मे भरती यौवन !
जड को कर नव चेतन !

छियालीस

मृत्यु ?
मृत्यु के लिए सोचना
व्यर्थ—व्यर्थ है !
जीवन ही है सत्य,—
हमारे लिए उसी का मात्र अर्थ है !

जीवन का परिवार है जगत्
तृण तरु कृमि पशु खग मानव तक—
जीवन का विस्तार है महत् !

आयें,
मन का नीड बसायें
जीवन के आँगन में गायें,
हम सबको मिल
गले लगायें !

मृत्यु द्वार कर पार
नये जीवन शिशु बन
नव चरण बढ़ायें !

जीवन की क्षमता अनन्त है,
पतझर के भीतर वसन्त है !—

वह रस पावक—करता पावन,
जड को छू करता नव चेतन,—
वन गिरि सागर तिरता क्षण में
मरुतों का गति-जव दुरन्त है !

जीवन ही का पथ-सारथि मन,
वही साध्य,—इन्द्रिय मन साधन !—

जीवन भव सम्राट्,
इन्द्रियाँ पार्षद,
बुद्धि मनस् मन्त्रीगण !

आओ, हम नृप के स्वागत में
सादर शीश झुकायें,
युग स्वप्नों के सेतु
भावनाओं के बन्दनवार बँधायें !

यौवन के मंजरित मार्ग से
उसको लायें,
उस पर आशाऽकांक्षाओं की
गुंजित पंखड़ियाँ बरसायें !

दिशा अकल, अनन्त काल पथ,
नव विकास गति क्रम से बढ़ता
चिर अबाध जीवन रथ !

विस्तृत करो,
हृदय मन विस्तृत,
जीवन गैल
महापुरुषों के
पद चिह्नों से अंकित,—

स्वतः पूर्ण होगा
प्रयत्न पथ से
जीवन में
जो चिर वांछित !

सैंतालीस

कभी गीत गा सका,
तुम्हारे गीत, प्रिये, गाऊँगा,
तुमको पाकर ही
अपने को जीवन में पाऊँगा !

विचर चुका चिद् आकाशों मे
सुरधनु सेतु सँजोकर,
डूब चुका रस सिन्धु में अतल,
तन्मय,—मति से दुस्तर !

अब मन को विश्वास,
तुम्हें मैं भू पथ पर लाऊँगा !

किसे खोजने, कहाँ गये बुध,
नेति नेति कह
चकित—लौट सब आये,
मार्ग बनाये ज्ञान ध्यान के
स्वर्ग दिखाये यज्ञ दान के
बिना तुम्हें ही पाये !

तुम्हें मूर्त कर
जीवन मन्दिर में
मैं दिखलाऊँगा !

सूक्ष्म स्थूल में
इह पर में
तुमको विभक्त कर खोया,
निष्फल, नीरस, कृच्छ्
साधना बोझ
पीठ पर ढोया !

धर्मों ने आचारों में मथ
जीवन सत्य बिलोया,
शास्त्रों ने जन मन में
स्थापित विश्वासों को बोया !

क्षीर नीर
गत जीवन सागर से
मैं बिलगाऊँगा !

मैं विकास का अग्रदूत,
प्रिय हंस तुम्हारा भास्वर,
मेरी वाणी में रस मुखरित
भावी जीवन के स्वर !

अर्जित किया मनुज श्रम ने जो,
पाया जो तुमसे वर,
उसे विश्व संस्कृति प्रतिमा में
मुझे ढालना निर्भर !

संस्कृति की उस स्वर्ण पीठ पर
तुमको बिठलाऊँगा ! —
कभी गा सका तो मैं
गीत तुम्हारे ही गाऊँगा !

अड़तालीस

बासी जग को प्यार न कर पाता मन,
नया जगत् रचने के कवि को दो रस साधन !

सर्व प्रथम छूना चाहूँगा मानव का मन,
क्षुब्ध, अहं दंशित वह, बाह्य बोध से उन्मन !

भाव रुद्ध उर द्वार, भार उसको जग जीवन,
आत्मनिष्ठ, स्वार्थों मे लिप्त, अतृप्त प्राण-धन !

बुद्धि भ्रान्त, श्राकुल अशान्त, भव क्लान्त अकारण,
भय संशय सन्त्रस्त, मृत्यु का जीवित वाहन !—

मनुज प्रेम के प्रति करने दो आत्म समर्पण,
नया मनुज गढ़ने के शिल्पी को दो साधन !

कितने कर-पद मनसों का संयुक्त स्वेद-श्रम
विश्व पीठ निर्मित करता जीवन की निरुपम !

भूत सिद्धि कर प्राप्त मरुस्थल को कर उर्वर,
गिरि समुद्र तर मानव-गृह बनने को अम्बर !

जन-भू की स्थितियों को पिला तड़ित् संजीवन,
जड के उर की ग्रन्थि खोल नर ने युग चेतन—

भौतिक पर्वत-बाधा का अब किया निवारण,
किया शक्तिमय दुर्जय अणु ने आत्म समर्पण !

आज नयी गरिमा से मण्डित भू का आनन,—
मनुज हृदय छूने के दो श्रद्धानत साधन !

बाहर विद्युद् दीप दूर करते निशि का तम,
कौन प्रकाश हरेगा मानव उर का तम-भ्रम ?

आज भूत विज्ञान विभूषित भू का प्रांगण—
राग द्वेष कृमि वहाँ करेंगे जीवन यापन ?

राष्ट्रों का उद्वेग ध्वंस करने को उद्यत,—
क्या न कभी होगा मानव अपने प्रति जाग्रत् ?

क्या न सभ्य परिहास बाह्य जग का रूपान्तर,
भीतर से यदि मनुज क्षुद्र प्रस्तर युग का नर !!

बहिरन्तर चाहिए उदात्त, महत् परिवर्तन,—
सभ्य मनुज संस्कृत बन सके, अमर दो साधन !

उनचास

मुक्त महासंगीत सुन रहा हूँ
मैं गिरि कानन का—
भूत जगत् जीवन का !

इस असीम के स्वर सागर में ऊब डूब करता मन,
महानन्द के अमृत स्पर्श का उर में जगता स्पन्दन !

रोमांचित अन्त: प्रहर्ष से लगते चीडों के वन
विश्व प्रकृति सौन्दर्य-मूर्त गिरि वन मे करती विचरण !

अतल सिन्धु-सी शान्ति पर्वताकार रूप कर धारण
मुझे समेट रही बाँहों में—शान्त हृदय का मन्थन !

मैं बटोर इस महाशान्ति को मुक्त करूँगा वितरण
जहाँ मनुज को पीस रहा जग जीवन का संघर्षण!

गहरी मखमल की हरियाली देती-सी आलिंगन,
वन गन्धों में रहा समीर रोम्रों में भरती चुम्बन!

सरिता-सी बहती छायाएँ कँपती रहती प्रतिक्षण,
मौन दोपहर, रुद्ध स्वतः अब वन विहगों का गायन!

वन विशिष्ट अभिव्यक्ति प्रकृति की, गिरि उदात्त उन्नत कृति,—
जाने जगती किस निसर्ग-जीवन की आदिम सुख स्मृति!

मन में कद शावक मन क्रीड़ा करता गिरि आँगन में
नीड़ों से अमरूप चिड़ियों-सी स्मृतियाँ उड़ती क्षण में!

हिरनों संग चौकड़ी मारने को मन होता चंचल,
गिरि स्रोतों के स्वर में स्वर भर गाने लगता कलकल!

जी करता, सो जाऊँ क्षण में इस मरकत के जग में
किन्तु सीचता मुझे नव जीवन का रण पग पग में!

कभी मुझे लगता, तृण तरु जग मनुज जगत् से चेतन,
मन से परे, स्वयं में स्थित, आनन्द रूप, श्यामल तन!

तरुवन का सम्पर्क हृदय मन को करता आह्लादित,
वह प्राणों को शान्त, बुद्धि को महत् व्याप्ति में मज्जित!

गीत-प्राण वन की साँसों को अपनी साँसों में भर
सभ्य जगत् को दूँगा मैं उन्मुक्त प्रकृति-जग का वर!

पचास

वन्य विहग—
ये मुझे घेर मंडराते,
नीड बसा कानों में गाते—
सौ-सौ स्वर मन को भाते!

बिम्ब विहग,
भावों के खग!

हलकी गहरी
तूलि भरी
इनके पंखों की
रोमिल रंगों की छायाएँ
दृष्टि चमत्कृत करती
इन्द्रधनुष मद हरती!

मुझे उड़ा ले जाती जाने
किस अदृश्य कल्पना लोक में,

बिना रोक मैं
विचरण करता
सूक्ष्म अतीन्द्रिय स्वप्न जगत् में,
जिसके रंध्र नहीं बंधन में!

(वहाँ अनिर्वच नाद—
नहीं माधुर्य नहीं भी;
मुक्त मौन आह्लाद,
भाव शब्द नहीं, नहीं भी!)

गाती, गाती,
ये अबूझ छायाएँ गाती—
गा-गाकर
पथ मुझे सुझातीं!—

गाते आओ, गाते आओ
गाते आओ,
(वे मुझसे सिखलातीं)
शब्दों में न रमाओ,
भावों में न समाओ!

हृदय खोलकर
गा लेना ही
सत्य है परम,
कुछ न बोल कर
कह लेना ही
कला है चरम!

शब्द अर्थ
ध्वनि अलंकार
सब व्यर्थ—
कला की हार,
सृजन के लिए भार!

गाओ, गाओ,
ऐसे गाओ
गाने ही में लय हो जाओ!

स्वर संगति में सम्भव
बँध जाये संसार!—
चिन्मय-पंख पसार
खोल अन्तर के द्वार!

व्यर्थ,—व्यर्थ शब्दों की पलटन,
व्यर्थ वृथा उपदेश, प्रबोधन,
इससे सम्भव नहीं जागरण!

मनुज हृदय को करता संस्कृत
अन्तर्लय में बाँध अतन्द्रित !—
निखिल सृष्टि अच्छिन्न छन्द है,
स्रोत सृजन का महानन्द है !—

सृष्टि छन्द निःशब्द प्रेम है,
वही सूक्ष्म स्वर संगति जग की,
वही पूर्ण रति,
वही क्षेम है !

इक्यावन

छायाएँ कँप - कँप कर
क्या जाने कुछ लिखतीं
चुपके भित्ति-पटल पर !

ये प्रकाश-अंगुलियाँ थीं,—
छू वस्तु जगत्
तृण तरु पर्वत
अब छायाएँ बन गयीं बृहत् !

मन की भाषा से व्यापक
जीवन की वाणी,—
वह शब्दों में नहीं,
प्रतीकों संकेतों में कहती
मन के भीतर
गूढ़ भाव-धारा-सी बहती
चिर कल्याणी,—

शब्द तुच्छ हैं,
कृत्रिम, सीमित,
यह अशब्द वाणी असीम—
मन छूती निश्चित !

छायाएँ कब हुईं
आँख से जाने ओझल,
देख रहा मैं विस्मित
पंख फड़फड़ाते कुछ पक्षी
भित्ति-चित्र ही-से
मन की आँखों में चित्रित !

जाने कितने चिड़ियों के स्वर
उर-श्रवणों में गये सहज भर !

मैना गाती,
कोकिल, लाल,

पपीहा गाते,
मोर टेरते,—
सारे ही वन विहग
असंख्य अतन्द्र स्वरों में
कुछ गोपन सन्देश सुनाते !

मैं सन्देश सुनाने को था,
और, आप हँसते भी सम्भव,—
पर, पक्षी उड़ गये अचानक
उर में भर निज नीरव कलरव !

यह क्या ?
कलरव के उग आये पँख
अतीव मनोहर—
अब कुछ परियाँ-सी मँडराती
भित्ति पटल पर !

छाया-उपकरणों का
एक महल ही सुन्दर
खड़ा हो गया दृग सम्मुख
शशि-रेख कलश धर !

परियाँ झुक-झुक
अपनी सम्राज्ञी का
करतीं स्मित अभिवादन,—
नयन देखते नृत्य,
श्रवण सुनते सम्भाषण !

लो, प्रकाश के कर की
ये छाया-अंगुलियाँ
छूतीं अब अन्तरतर !
एक नया जग
उद्घाटित होता
उर भीतर !

वस्तु-जगत् मुख से
उठता रहस्य-अवगुण्ठन,
सूक्ष्म, सर्वगत भाव सत्य के
होते दर्शन !

गहन, और भी गहन
और भी गहन डूब मन
लीन हो रहा—
अब छाया न प्रकाश,—
शान्त, एकान्त समर्पण !

धीरे जगता समाधिस्थ
अब अन्तर,
उसे खेल यह भाया,—
मन अदृश्य की चिर रहस्यमय
सृजन कला को
स्वयं चुरा भी लाया!

अब मैं हूँ आश्वस्त
सहज अभ्यस्त,—
और, नव स्वप्नों का मैं
प्रीति मंजरित
गीति गुंजरित
नव संसार बसाऊँगा!
नया विश्व गढ जाऊँगा!
ऊब रूढियों
विधि नियमों से
नयी प्रेरणा का प्रकाश बन
मैं सर्वत्र समाऊँगा!

फूलो के रंग
मधुकर के स्वर
जुगनू के पर
सुरधनु अम्बर—
सभी असम्भव सम्भव से मैं
सुरभित सामग्री बटोर कर
उन असंख्य वन विहगों संग गा
नव वसन्त को लाऊँगा!

सत्य भित्ति पर
कल के स्वप्नों का
दिग्चुम्बी सौध
गढा कर

वस्तु सत्य को
विगत पंक से ऊपर
उच्च उठाऊँगा!

मनुज प्रेम के
लोक क्षेम के
स्वप्नों का भू-स्वर्ग बना मैं
नयी चेतना का
दिक् स्वर्णिम
युग केतन फहराऊँगा!

बावन

गीत ढल गया,
स्वप्न फल गया !
इसमें भाव पिरोना होगा,
भाव—वही जो भोगा !—
इसमे छन्द सँजोना होगा !

यह जाने कब मन मे उतरा
पूर्ण अनिन्द्य रूप धर सुथरा,—
फूलों की पंखडियों में
पड़ गया हो भँवर,
स्वर संगति में बँध
सरोज खिल उठा हो सुघर !

गीत बन गया,
शिल्प स्वर नया !

दूज कला क्या दी दिखलायी
ज्योत्स्ना सहज लजा मुसकायी ?
तारा ने जग
ली अँगड़ायी !

हृदय क्षितिज
अनजान खुल गया,
मन का मलिन
विषाद घुल गया !

इसको स्वर दो,
इसमें सागर
अम्बर की लय भर दो !

कब अन्तर में ज्वार आ गया,
वधू-रूप संसार भा गया,
कब आँखों में प्यार छा गया ! ...

शब्द अर्थ के पुलिन लाँघकर
हृदय प्रेरणा-द्वार पा गया ?

लय की स्वर संगति में बँध मन
तन्मय करता आत्म समर्पण !—
रोम - रोम अन्तः सुख झंकृत,—
जीवन में प्रतिक्षण अब गायन !

गीत मिल गया,
हृदय खिल गया !

फैल गये अग जग में नव स्वर
काँप रहे जड़ चेतन थर् थर्,
अन्तर-पावक की झंकारें
वेष्टित करती अब भू-अम्बर !

कला पूर्ण अपने में—
लो, नव गीत आ गया
स्वयं सर्वत्र छा गया !

तिरपन

ओ रहस्य,
तुम बनो नये मन,
बनो नये जन !
जीर्ण शब्द—अर्थों के जड़ शव
भावों में बह रहा न वैभव,
तुम रहस्य,
इससे चिर अभिनव,—
तुमसे
सृजन स्पर्श सुख सम्भव !

जग के भीतर से छन नव जग
मनोमुकुर में रहा स्वयं जग,—
ओ रस शिल्पी,
गढ़ो नया मग
बढ़ें सूक्ष्म की ओर
मनुज पग !···

मूल्य न भाते,
तथ्य सताते,—
स्वप्नों - से क्षण
आते - जाते
किसे सुहाते ?

काँटे खिल बन रहे फूल अब
पिघल रहे निर्मम जड़ पत्थर,—
नियम कहाँ रह गये ?
बदलता
निरत धुएँ में
बोध-दिगन्तर !

मुकुल नहीं ये
शिशुओं के मुख,
मारुत नहीं,—रेशमी अंचल,
सौरभ कहाँ ?

प्रिया की साँसें
पी-पी मन हो उठता चंचल !

क्या है नहीं यहाँ रहस्यमय ?
मन के अभ्यासों से उठकर
देख सृष्टि मुख
होता विस्मय !

गुह्य बना अब जो साधारण
वह सब जग का बासी जीवन,—
नया बनाओ साधारण को
ओ रहस्यमय,

करो नव सृजन,
रचो नया मन,
गढ़ो नये जन !

चौवन

आत्म निवेदन भर
मेरे ये अस्फुट गायन,—
स्पर्श-मुखर रस-वाद्य तुम्हारे,
हृदय प्राण मन !

कभी अजाने ही
समस्त अस्तित्व
सहज हो उठता झंकृत—
बरबस ही
आनन्द उदधि में
आत्म बोध हो उठता मज्जित !

कितना मादक लगता जीवन—
सुरा प्यालियाँ पी हों अगणित,—
प्राण, तुम्हारा अधरामृत पी
जीता मैं, अन्तर्मुख जागृत !

वैज्ञानिक मन करते
वस्तु जगत् का नित विश्लेषण,
सूज्ञ दार्शनिक
अन्तःसत्यों का करते संश्लेषण !

विश्व समस्याओं प्रति जाग्रत्
प्रौढ़ मनीषी चिन्तक,
आत्म तत्व में ऊर्ध्व समाधित
तप रत योगी, साधक !

मैं पद प्रिय कवि,
भावों का शिशु,
भाता जीवन का मुख,
प्यार जगत् जीवन को करता—
इसमें ही मिलता सुख !

हृदय प्राण मन के माखन से
पोषित शाश्वत जीवन,
आत्मा का वैभव
इसके चरणों पर
करता अर्पण !

भोग सकूं मैं जीवन मधु
सित प्रीति दृष्टि कर अर्जित,
गहन पैठना पड़ता मन को—
तन्मय, सजग,
अतन्द्रित !

जीवन द्रष्टा बन, रहस्य ज्ञाता,
अपने पर पा जय,
महोदार जीवन का पाता
सच्चा प्रेमी परिचय !

अमित महत्ता के प्रति पद-नत
रहता ज्ञाता सविनय
अर्पित कर मंगलमय को
तन - मन प्राणों का संचय !

लेटा शोभा वक्ष: स्थल पर
तद्गत रस से छक कर
श्रद्धा - मधु
संचित कर जी भर
गा उठता मन मधुकर !

आत्म निवेदन भर
मेरे ये तुतले गायन,
स्पर्शाऽकांक्षी रहता अहरह
भावाकुल मन !

पचपन

अपने को उन्मुक्त दे सकूं गीतों में भर—
अपने ही को नहीं जानता मेरा अन्तर !

तुम्हें समर्पित कर सब कुछ मैं शेष न किंचित
जो कुछ भी मुझमें अशेष वह मुझसे अविदित !

सत्य रहेगा अकथित ही, वह रे चिर गोपन,
फिर भी कुछ पावक कण यदि कर जाऊँ रोपण—

जन मन में—होंगी प्रकाश में दिशा प्ररोहित,
शोभा स्पर्शों से भू जीवन क्षेत्र प्रहर्षित!

गीत जहाँ से आते सम्भव, वहाँ नही मैं,
गीत जहाँ जन गाते प्रस्तुत वहीं कहीं मैं!

युग गायक मैं नहीं, विश्व गायक का गायन,
रोओं में उसके स्पर्शों का जगता कम्पन!

स्वर्ग-वाद्य कवि : भाव-बोध अंगुलि-स्वर झंकृत,
अन्तरिक्ष अन्तर का कर जाना उद्घाटित!

लो, अब मनः शिखर पर ऊषा मुख दिखलाती,
गिरि शृंगों, वन नीड़ों में जग चिड़ियाँ गातीं!

आज इन्हीं से युग प्रभात का चुन नव गायन
गाता मैं, नव युग चारण बन, नया जागरण!

लाँघो मन की सीमा, भू पर करो पदार्पण,
जीवन प्रांगण में खेलो, भूलो उर-दंशन!

सागरवत् आनन्द-तरंगित जीवन यौवन,—
प्रीति पाश में बँध, नारी नर, दो अभिनन्दन!

छप्पन

देख रहा हूँ, पिछड़े ही रह गये प्राण मन,
बदल गया जग जीवन, बदल गया भू-आनन!

नयी वास्तविकता लेती अब जन्म धरा पर
एक नयी शोभा का अनुभव करता अन्तर!

जी करता, इस रूप जगत् ही में खो जाऊँ,
जीवन की सौरभ में प्राणों को नहलाऊँ!

भीतर का ऐश्वर्य जगत मे देखूँ बाहर,
बाहर का सौन्दर्य हृदय में लूँ समग्र भर!

भव प्रतिमा मे मूर्तिमान देखूँ ईश्वर को,
भोगूँ मासल कोमलता के अक्षय वर को!

फिर से यौवन का मधु-पावक लिपटा निर्भय,
कूद पड़ूँ जीवन समुद्र तल मे रस तन्मय!

सुन्दरता से कहीं सत्य लगता सुन्दर तन,
रोम-रोम में झंकृत अब आकुल उर स्पन्दन!

शोभा की लपटों मे नहला कर इन्द्रिय-मन,
सित लालसा स्फुलिंगों से खेलूँ मैं पावन !

खीच बादलों मे उलझे सुरधनु को भास्वर
जीवन की वेणी मे गूँथूँ स्पर्श मनोहर !

जी करता, पिछड़े तन-मन से बाहर आकर
मैं यथार्थ की तन्त्री का फिर बनूँ नया स्वर !

जो कुछ भी सम्भव हो जीवन मे हो सम्भव,
भू पर विचरे रूप-मूर्त स्वप्नों का वैभव !

भाव, कल्पना, कला, शिल्प—कर निखिल निछावर
अन्तर के ईश्वर को करूँ प्रतिष्ठित बाहर !

लगता मुझको, पिछड़े ही रह गये प्राण मन,
जीवन - रस - भू पर लोटें अब मेरे गायन !

सत्तावन

वन फूलों की गन्ध मुग्ध करती मेरा मन,
फिर मेरे भावों से गुंजित भू का आँगन !

फूल पँखड़ियाँ लिपट - लिपट नयनों से जाती,
फूलों - सी भू की कोमलता मन को भाती !

खीच सूक्ष्म साँसों से वन फूलों की सौरभ
रचता अब उर एक नया ही भावों का नभ !

ऐसी सुन्दरता उग सकती धरा धूल से ?—
मुझको होना होगा फिर संयुक्त मूल से !

मैं धरती ही का जन होकर सदा रहूँगा,
मधु समीर - सा रज पर लोट प्रसन्न बहूँगा !

मेघो सँग उड़, नव स्रोतो के सँग गाऊँगा,
जन मन मे भावो के नीड बसा जाऊँगा !

ओ बाहर के जीवन, मुझको दो आलिंगन,
चाँपो मेरे मुख पर सौ सौरभ के चुम्बन !

किस अथाह सागर मे जाने डूब रहा मन,
तन्मय करता मुझे रूप - जग का आकर्षण !

ओ अवाक् नभ, सबसे लगते तुम्ही अब मुखर,
यह आनन्द समाधि ! नील सुख मे लय अन्तर !

आओ, घेरो मुझे मुक्ति की बाँहों मे भर,
मुझे मुक्ति के लिए बनाना धरती पर घर !

काँटों की शय्या, पलता फूलों का जीवन,—
तप रत रहना : बाहर हो प्रभु मुख का दर्पण !

अट्ठावन

तुम मेरे गीतों से प्रिये, कहीं महान् हो,
जीवन की जीवन, प्राणों की पुलक, प्राण हो !

निखिल कामनाएँ तुमको दे जीवन - वांछित,
अपने को पाता मैं नव वैभव से वेष्टित !

काम अग्नि को भी मैं तुमको करता अर्पित,—
वह जीवन आलोक बन सके रचना - प्रिय नित !

झाड़ केंचुली सर्प सरकता ज्यों जव - गर्वित
शोभाओं से शोभा - सी तुम कढ अति जीवित—

लिपट हृदय से जाती,—प्राणों को कर प्रविदित
कोटि यौवनों की रति मदिरा से उद्दीपित !

मन की रति से ऊब चित्त जग के प्रति उन्मुख
तुमको जीवन-बाँहों में भर पाता अब सुख !

शुभे, तुम्हारी श्री - सुषमा से प्रेरित निर्भय
तुमसे रस - सम्भोग प्राण जब करते तन्मय—

वीर्यवान् तब मेरे गीत स्फुलिंगों - से झर
धरती को चैतन्य - अग्नि से करते उर्वर !

नव शिशुओं को जन्म धरा पर देते गायन,
मानवता के प्रतिनिधियों का कर आवाहन !

तुम मेरे गीतों से प्रिये, कहीं महान् हो,
निखिल भाव - सौन्दर्य कला - रस की विधान हो !

उनसठ

यह धरती
मुक्ताभ दल कमल !—
राशि रेणु
स्वर्णिम मरन्द है !
मैं इसकी रज में लोटूंगा,
इसके रोओं मे
सौंधी मादक सुगन्ध है !
भू विराट् वपु
वाद्य यन्त्र है !

सूक्ष्म अनिल तारों से झंकृत;—
अमर राग
मैं छेड प्यार का
दशों दिशाएँ कर जाऊँगा
मनुज प्रेम में मज्जित!

धरती नव यौवना वधू है,—
मृदु समुद्र जल
रेशमी वसन!—

इसे अनावृत,
अंक से लगा
पाना चाहूँगा इसका मन!
रज-तन-सौरभ
साँसों में भर
चापूँगा मुख पर शत चुम्बन!

धरती यज्ञ-कुण्ड है जाग्रत्!
पावन जीवन पावक का
मैं करता स्वागत!

इसकी ज्वाला में
प्राणों की आहुति देकर
तन-मन स्वाहा—के निनाद से
अम्बर को भर,
मैं इससे माँगूँगा
जीवन-मंगल का वर!

यह धरती रहस्य है गोपन!
खोल नील नीरव मुख गुण्ठन
देखूँगा साध्वी का आनन,—
हटा हिरण्मय भाव-आवरण
थाहूँगा मैं सत्य चिरन्तन!

ओ हँसमुख प्रभात,
तुम क्षण-भर
आँगन में रुक जाओ,
ओ नव जाग्रत विहगो
मेरी पर्ण कुटी में गाओ!

सूर्य, उगो फिर,
मनः कक्ष में
स्वर्णिम कर फैलाओ,—
चन्द्र कले,
मेरे मस्तक पर
ज्योति मुकुट बन जाओ!

मेरा ही व्यक्तित्व विश्व यह,
मेरा ही उन्मुक्त प्रसार,—
इसे अपनाओ !

मन: शिखर से उतर
स्वर्ग के देवो, अब तुम
मनुज धरा पर पग धर
नव कृतार्थता पाओ !

यह धरती ही स्वर्ग अचेतन !—
सुरगण
मनुष्यत्व के वाहन,
सृजन शक्तियों के प्रतीक वे
बना रहे जन धरणी को
प्रभु मुख का दर्पण !

साठ

लुढक रहे तम-रुद्ध घाटियों में कितने ही सूरज,
भाव दीप्त प्रातिभ प्रकाश से चमक उठी अब भू-रज !

रोम-रोम में वन फूलों ने आँखें खोली विस्मित,
कोमल पावक में लिपटी भू-शोभा करती मोहित !

नगरों से वन में आ सौन्दर्योत्सव लोक मनायें
वन कण्ठों से कण्ठ मिला कर खग पिक स्वर में गायें !

रोमिल पंखों संग उड नभ का निभृत नील छू आयें,
वन जीवन का रोमांचित आनन्द भोग सुख पायें !

वन परियों की हरीतिमा के पावक से हो भूषित
नवल यौवनाएँ नाचें छाया वसनों मे आवृत !

सिंहों की पीठों पर चढ वे पायें जन अभिवादन,
सिंह रीछ मृग—भाव उल्लसित आज मनुज के परिजन !

बारहसिंगों से उधार ले शृंग किरीट मनोहर
वन - भू के सिंहासन पर हों शोभित आत्मजयी नर !

वन से ले प्रेरणा मुक्तिकामी हों नगरों के जन,
प्राण उच्छ्वसित रहें, बहे साँसों मे गन्ध समीरण !

जीवन रूपान्तर का युग यह विकसित होते गृह वन,
मिलते सुर-नर,—सूर्य दीप-लौ का करता अभिवादन !

इकसठ

रूप-मूर्त कर सकूँ तुम्हें मैं ओ अरूप के स्पन्दन,
तुमको बाँहों में भरने को व्याकुल कब से तन-मन !

निराकार थे जब तुम मुझमें मातृ योनि के भीतर
तुम्हें रूप देने को रहती क्षुद्र अहंता कातर !

कोमल से कोमल तुम, निर्मम से निर्मम जीवन-धन,
जगता आकुल प्राणों में तुमको पाने का क्रन्दन !

पूर्ण समर्पित कर न सका मैं तुमको अपना अन्तर,
छीन लिया मुझसे मुझको तुमने जाने कब आकर !

रोम-रोम में रति दंशन प्राणों को करते पुलकित,
आकांक्षा का भूखा पावक झुलसाता तन-मन नित !

मैं दुहरा हो, अपने ही में हो उठता रस-तन्मय,
अपने ही को बाँहों में भर, अपने से कर परिणय !

विहँस अगोचर में तुम मुझमें होते तद्गत गोचर,
अपने यौवन को मेरे यौवन के प्याले में भर !

शोभा-मांसल तन धर आओ तुम जीवन-आँगन में
तुमको पाने, मौन प्रतीक्षारत रहता प्रतिक्षण मैं !

ओ अरूप, अवतरण करो अब अन्तर्मन से तन मे,
मूर्तिमान होओ आरोहण करते भू-जीवन में !

बासठ

जग जीवन में जो कुछ भी वह मुझको स्वीकृत,
मानव का परिवार हो रहा अब भू-विस्तृत !

गत जीवन सामग्री को कर नव संयोजित
नयी जागतिकता करनी अब भू पर निर्मित !

सावधान रे विश्व, टूटने को दिक् संकट,
पड़ी भँवर मे नाव, सूझता कहीं नहीं तट !

राजनयिक आर्थिक साधन से ही जन मंगल
सम्भव नहीं,—सत्य पर मुझको आस्था निश्चल !

बाह्य साम्य-पूँजीवादी दर्शन से ऊपर
और अनेकों सत्य—जानता युग कवि अन्तर !

युग वाष्पों का जो घनत्व वादों में इस क्षण
रिक्त खोखलापन उनका कल देखेंगे जन !

जीवन सुख-सुविधाओं का ही जन में वितरण,
युग प्रबोध संग आवश्यक आन्तरिक उन्नयन !

भले आज टकरायें शक्ति-शिविर आणव में
समाधान संकट का घोर न इनके वश में !

निखर रहा जो मनुष्यत्व मानव उर में नव
जन श्रेयस्, भव शान्ति उसी से भू पर सम्भव !

निर्भ्रम हो जायेगा शीघ्र मनुज का हृत मन
ध्वंस करेगा सिर पर जब कटु ताण्डव नर्तन !

हमें न सिंहों - सा दहाड़ना ही आवश्यक,
फुला वृकोदर रक्त चूसना निर्मम घातक !

श्वानों - सा भूँकना झगड़ना कुत्सित निश्चय,
मानव को होना सहिष्णु, विनयी, दृढ़, सहृदय !

मानवीय साधन, संस्कारों को कर विकसित
विश्व सन्तुलन हो सकता जीवन में स्थापित !

भोग काम का सत्य, प्रेम का सत्य त्याग रे,
अविच्छिन्न दोनों, दोनों ही महायाग रे !

भोगी सुलभ, किन्तु जो त्यागी महा भाग रे,
जीवन के उर में अक्षय अनुराग आग रे !

अधिक सभ्य जन - भू के नेताओं से जनगण,
प्रकृति मनुज वे, मानवीय संस्कार प्रथित मन !

पद - मद - कामी शासक मनुज जगत् उर के व्रण,
सभ्य प्रवंचक, कूट नीति से करते शोषण !

मनुष्यत्व ही सत्य, प्रतीक्षा - रत भू - प्रांगण,
राजनयिक आर्थिक आन्दोलन अस्थिर साधन !

जड़ रे शाश्वत अश्व, चेतना का प्रिय वाहन,
कभी न ले सकता वह सम्राज्ञी का आसन !

कवि आ कथ्य न,—मनुष्यत्व का महत् सत्य यह,
अन्त: साधन बिना श्रेय जीवन में दुर्वह !

अत:, श्लाघ्य बहिरन्तर यत्नों का आवाहन,
सत्य विचार विमर्श, सत्य श्रद्धा आराधन !

तिरसठ

काव्य प्रेरणा कर्म प्रेरणा यदि बन जाती
तो मैं तुमको सौंप मधुर गीतों की थाती—

नये छन्द में गढ़ता जन धरणी का जीवन,
नयी चेतना का भर मानव-उर में स्पन्दन !

काव्यात्मक होते भू - कर्म सृजन - सुख झंकृत
जीवन - शोभा - रचना प्रति जन मानस प्रेरित !

देश देश की मति - गति कहीं न होती खण्डित,
स्वर संगति में बँधी मनुजता होती संस्कृत !

मैं अन्त: सौन्दर्य बीज कर रज में रोपण
मनुष्यत्व के शस्यों से भरता भू प्रांगण !

अग्नि पंख होते चिद् बीज प्रकाश प्ररोहित,
मनोदिगन्तो को कर जन के प्रीति पल्लवित,—

नव भावों, स्वप्नों मे अपलक रखते लोचन,
कला शिल्प के उगते मन में नव सवेदन !

भौतिक सम्पद् से समधिक चेतस् का संचय,
उससे समधिक होता आत्मिक वैभव अक्षय !

अन्तर्मुख मन, बहिर्व्याप्त मति,—उभय सन्तुलित,
सत्य स्पर्श से होता हृदय मनुज का पुलकित !

सर्वोपरि होता जग जीवन तुमको अर्पित,—
मनुज प्रीति से निखिल विश्व-जीवन आलिंगित !

गीति चेतना कर्म चेतना यदि बन पाती—
धरती होती स्वर्ग—सृष्टि उपकृत हो जाती !

चौंसठ

मन के प्रकाश - प्याले मे जीवन मदिरा भर मादक
मैं भाव मत्त हो पीता,—स्वप्नों से अब दृग अपलक !

तम के उर में जगने को सोयी रस ज्योति अचेतन,
मैं हृदय-दीप मे उसको स्मृति जाग्रत् रखता प्रतिक्षण !

मन अब जीवन की भू पर अवतरण कर रहा प्रतिपग,
खुलते प्राणों के बन्धन, वे खोज रहे अभिनव मग !

घन नील तिमिर शय्या पर जब सो जाता मेरा मन
जगते उर में विद्युत् - से तुम भाव-देह कर धारण !

तन्मय हो उठते तन-मन, इन्द्रिय प्रहर्ष से पुलकित,
अविदित रति सुख स्पर्शों से हो उठता अन्तर झंकृत !

तम से प्रकाश बनकर तुम करते जीवन-पथ दीपित,
बनकर प्रकाश से तम फिर भव-रस में करते मज्जित !

मिल व्यक्ति - विश्व अब तुममें चैतन्य-रश्मि से प्रेरित
अतिक्रम कर गत भू-पथ को नव जीवन करते निर्मित !

मन के प्रकाश की प्याली, जीवन की मदिरा का तम—
दोनों के मधुर मिलन से चलता विकास-प्रिय भव-क्रम !

पैंसठ

सृजन कर्म ही धर्म बन गया, मुक्ति न उससे सम्भव,
हृदय-कमल पर मँडरा कृष्ण भ्रमर भरता स्वर्णिम-रव !

वह सहस्रदल-भृ-जीवन का रस-मरन्द चख गोपन
उन्मन गुंजन भरता—संचित कर मधु चिन्तन के क्षण !

दशों दिशाओं की समीर उसको करती आमन्त्रित,
मन अजस्र उड़ता—भावों का गन्ध-क्षेत्र पा विस्तृत !

कौन प्रेरणाएँ करतीं कवि के अन्तर को मन्थित ?—
वह समष्टि का दूत, गिरा का सुत, सौन्दर्य पुरोहित !

अतिक्रम करते शब्दों को उसके अस्फुट ध्वनि इंगित,
उसे ज्ञात, स्वर स्पन्दन से ब्रह्माण्ड समस्त निनादित !

उसके स्वर जाकर अनन्त के उर को करते झंकृत,
वह असीम के हृत्स्पन्दन से रहता अहरह प्रेरित !

मधुवन, मुकुल, सुमन, मरन्द नव, मलय पवन रज सुरभित—
यह भी सच है, रूप जगत् मधुकर उर करता मोहित—

किन्तु, और ही शक्ति उसे करती रहस्य में दीक्षित—
सूक्ष्म सुरभि और ही मर्म को छू करती नित पुलकित !

बाहर से ले मधु पराग स्वर शब्द, भाव लय संचय,
अन्तरतम को चीर गीत देना होता रस-तन्मय !

तभी विशद् मधु छत्र लोक मंगल का होता निर्मित
भाव बोध, रस कक्ष शिल्प—सम्पूर्ण ऐक्य संयोजित !

छियासठ

यह सृष्टि साँस लेती अहरह, रहती समीर इससे चंचल
शोभा में करती धरा स्नान, ज्योत्स्ना जल-सी लगती उज्ज्वल !

निशि की वेणी में मुक्ताफल गूँथता निभृत तारा-अम्बर,
यह प्रकृति पुरुष का प्रिय कुटुम्ब— रस-उपकृत रहते सचराचर !

धरती की आकांक्षाएँ ही खिल पड़ती रंग सुमन बनकर
अविराम प्रतीक्षा में उठ-उठ तकते रहते—लहरा सरि सर !

यह रति उन्मद पद पायल ध्वनि-सुन पड़ती सरिता की कल-कल,
प्राणों के जीवन से प्रमत्त जगती रोमांचित रंगस्थल !

घट-बढ़, ओझल हो चन्द्रकला खेलती मिचौनी श्री-सस्मित,
भाती ऊषा लज्जा लोहित, सन्ध्या प्रियतम में ध्यानस्थित !

पूछते गगन से प्रश्न मौन अँगूठे के बल उठ पर्वत,
तरु बाँह उठाये रहते नित जाने क्या कहने को उद्यत !

क्यों देख चन्द्र मुख—सागर में उठता रस ज्वार ? बताऊँ क्या !
यह मानव हृदय अथाह, भला, उसका रहस्य समझाऊँ क्या !

खग गाते, रहते फूल मौन, दोनों ही कुछ कहते निश्चय,
भाषा से मुखर अशब्द भाव, उनसे भी मुखर सृष्टि-विस्मय !

जग जीवन मन को अतिक्रम कर यह परा चेतना अति जीवित,
ब्रह्माण्ड समस्त अखण्ड सत्य—भूमा के जीवन से स्पन्दित !

सड़सठ

अब भी व्यक्तिमुखी मन
मेरे भीतर जगकर
भव यथार्थ से भगकर
मुझको रखता भाव समाधित !

मैं अपने को खींच
मुक्त बाहर के जग में
पूर्ण चाहता होना प्रसरित !

मन अब गीत गा चुका अनगिन,
भावों के तिन
चुनकर बुनकर
भू-स्वप्नों के नीड़
बसाता रहा सभी दिन !

अब इन गीतों के स्वर को
भू-कर्म मे पिरो
मुझे संजोने दो जन हित
जीवन के घर को !
जग को सौंप
तुम्हारे सृजन-कला के वर को !

शान्त, सौम्य, अन्तः स्थित अन्तर
बाहर निकले,
दुख मे पिघले,—

भाव-बोध बाँहें फैलाकर
छुए प्रसन्न धरा दिगन्त को—
बाहर के जीवित अनन्त को !

चिड़ियों के कलरव से
पशुओं की पुकार से,
जनगण कोलाहल से
स्वर की प्रखर मार से

जगे युगों से समाधिस्थ
उर-अम्बर !

और नहीं तो,
मैं मिट्टी के पात्र बनाऊँ
कुम्भकार बन
जन धरणी का गात्र सजाऊँ !
मन को जीवन-छात्र बना
सुख पाऊँ !

यह भी नहीं,
धरा पर टेढ़ी रेखा खींचूं,
विधि से भीत न आँखें मीचूं,
रेखा भले न पथ-दर्शक हो,
पर अपने में आकर्षक हो,—

इसी प्रकार
कर्म के रस से
मन को सींचूं !

कर्म काव्य हो,
भले कृच्छ्र—
सम्भाव्य हो !

कला कुशल कर से
जग का निर्माण करूँ मैं,
विश्व कर्म तन्त्री में
जीवित गान भरूँ मैं !

अब भी मध्ययुगी मन
मुझको आत्म निष्ठ कर
जग के प्रति करता आशंकित,—

कर्म विरत, जीवन उपरत,
रस रूप स्पर्श आकांक्षा को
करता अस्वीकृत,—

अनजाने भय संशय से
मन को रख नित
आतंकित !

अड़सठ

इस युग का यह दोष,
चाहता समझ सभी कुछ लेना
तर्क बुद्धि के बल पर—
बन तथ्यों का बृहत् कोश !

आस्था का देता न स्थान
वह उर में तिल भर !

नहीं जानता,
मेरे बाह्य तर्कविद्
बुद्धि की हो निधि विस्तृत,—
बोध-क्षेत्र भी व्यापक निश्चित,—
किन्तु सत्य के भीतर पैठ
बुद्धि की सीमित !

अंश बोध देती
समग्र को कर वह खण्डित,
पूर्ण सत्य से निपट अपरिचित !
वह सन्देह चेतना-कर में—
जो अनात्म को पकड़
तुष्टि पाती यत्किंचित् !

आस्था का पा स्पर्श
हृदय के रुद्ध द्वार
खुलते मन-कुण्ठित,
सत्य बोध का अन्तरिक्ष नव
हो उद्घाटित
अन्तर को करता आलोकित !

आस्था पथ कर ग्रहण
सत्य मुख का खुल पड़ता
हिरण्मय अवगुण्ठन !
शनैः गहन अनुभूति स्पर्श से
सहज उतर तद्गत अन्तर में
अन्तर्मुख साक्षात्कार का सत्य—
समाधित देता निःस्वर दर्शन !

द्रष्टा, मात्र सत्य ज्ञाता ही नहीं,
सत्य बन जाता स्वयं
अकिंचन से ईश्वर बन !

उनहत्तर

आओ, बैठो,
व्यर्थ न ऐंठो !—

हृदय खोल, हम कण्ठ मिलायें
नवोन्मेष से गायें !

तर्क न जहाँ पहुँच पाये,
दे सकी बुद्धि भी समाधान
जिसका न,—

वहाँ
गीतों के पंखों पर उड़ जायें,
प्राणों की झंकारों से
उसको छू आयें!

भावात्मक एकता भ्रान्ति!—
(भावना बँटी परिवारों
गाँवों, प्रान्तों,
खेतो, खलियानों में—

गुटों, गिरोहों, वर्गों,
सम्प्रदाय पन्थों में
रूढ़ि रीति
धार्मिक नैतिक जीवन मानों में!)

प्रथम विवेकात्मक एकता
करें हम स्थापित,—

राष्ट्र सशक्त, सजग हो,
दीर्ण धरा पर शान्ति
प्रतिष्ठित हो चिर वांछित!

कभी भावना भी
हो पायेगी युग-विकसित,
अभी स्वस्थ संकल्प शक्ति से
विघटित मध्ययुगी मन को
करना संयोजित!

भव कुण्ठित अन्तर्विरोध
मन के कर मर्दित,
अन्न वस्त्र भाषा के स्तर पर
देश एक स्वर
एक ध्येय वर
बने संगठित!

श्रम ही सम्पद्,—
कोटि कर पद मनसों की शक्ति
धरा-रचना प्रति प्रेरित—
जीवन वैभव के समुद्र से
करे जगत् को प्लावित!
मनुष्यत्व के स्वाभिमान से
जन-आनन हो मण्डित!

आओ, बैठो,
दाय समेटो !—

नया जागरण भू पर लायें,
ह्रास धुन्ध से कढ हम
नव प्रकाश में आयें !

युग प्रभात के चारण बन
सब कण्ठ मिलायें !

खोल हृदय मे
नव आशा का अन्तरिक्ष
श्रद्धा-नत गायें !—

असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय !

सत्तर

पीला फूल न मुझे सुहाता,—
फीका, मुरझाया-सा मुखड़ा
मन के सम्मुख आता !
मुझे तुम्हारा प्रिय मुख भाता,
गौर गुलाबी वर्ण,
सलज सुन्दरता मे
प्यासा मन न्हाता !

शोभा-पावक-सा
तन का रँग सुन्दर—
सिकती आँखें,
सिकता अन्तर !

क्यों न मुझे छूने देती हो
तुम अपना तन ?
तुम्हे प्यार करता मेरा मन !

मेरी ही वय मे—
यह उर का अनुभव,
प्यार किसी को करना सम्भव !

स्फटिक शरद घट में
वासन्ती मदिर ज्वाल भर
भावो के कर-पुट में
रस आकुल प्राणों का
अग्नि स्पर्श धर—

अक्षय प्यार, असीम प्यार में
तुम्हें डुबा कर
तन्मय सुख का दे आलिंगन
हृदय प्यार मे करता
तुमको पूर्ण समर्पण !

निखर काम के अन्ध धूम से
अमर प्रीति का पावक
शोभा के चरणों पर रचता,
निज श्रद्धा का जावक !

दधि, मधु, द्राक्षा से सुमधुर
पोषक अधराऽमृत
पी कर,—तुममें करता
जीवन ताप विसर्जित !

बाँहों में भर तुम्हें
सृष्टि से होता परिणय,
उर मे समा असीम
मुझे करता रस-तन्मय !—
मिटा निखिल भय संशय !

तड़ित् शक्ति की धाराएँ हम
प्रीति - सम्मिलित,
भू जीवन पथ को
कर पायेंगे आलोकित !

सखी, प्रिये, मा,
तुम सर्वोपरि शोभा शाश्वत,—
तुममें मैं
भू पर ईश्वर का करता स्वागत !

सरल बनो, निश्छल, प्रियतमे,—
प्रतीक्षा - रत जन,
मनुज हृदय प्रतिनिधि बन
करो धरा - पथ पावन !

इकहत्तर

कोकिल कैसे गाती !
कभी न की स्वर शब्द साधना,
लय को भी सीखा न बाँधना,
किन जन्मों की समाराधना ?—

ध्वनि मसोसती छाती,
कोकिल कैसे गाती !

सुना नहीं यदि स्वर्गिक गायन,
सम्भव क्या शब्दों में वर्णन ?
अकथनीय लय, कण्ठ सन्तुलन,—
तीव्र मधुर का मधुरतम मिलन !—

स्वतः स्फूर्त स्वर !
कहाँ प्रेरणा पाती !
कोकिल कैसे गाती !

कुहू ! कूक मग-जग में छायी,
कूक मर्म में मौन समायी !
कुहू ! विजन ने ली अँगड़ाई—
मग्नि तीर !—

घुल स्वर लहरी में
मधु दिगन्त में आग लगायी !
गूढ़ व्यथा न सिराती,
कोकिल कैसे गाती !

निखिल शब्द स्वर हुए कहाँ लय
सिन्धु-मधुरिमा में रस तन्मय,
छाया मग-जग में सित विस्मय—
भेद न गुह्य बताती,
कोकिल कैसे गाती !

जागी गिरि तरुवन में मर्मर,
रोम हर्ष से कँपते थर-थर,
किसकी स्मृति लेती तन-मन हर !—
मनसा नहीं अघाती,
कोकिल कैसे गाती !

सौरभ के उच्छ्वसित [illegible],
स्पन्दित-से सपने पावक पास,
[illegible] [illegible]—[illegible],
प्रीति न हृदय समाती,
कोकिल कैसे गाती !

विहग विमन नीड़ों मे सोये, छाया-लुण्ठित कानन,
कहाँ खो गया मर्मर भरता सहज स्फुरित वन गायन !

सूर्य ग्रस्त, सन्ध्या प्रदीप की स्वर्णिम कान्ति समापन,—
घिरता धीरे धूम्र वर्ण तम निर्जन अब गिरि कानन !

ध्यान लीन तुम नील शान्ति में—उगी कौन अम्बर में ?
चन्द्रकला का मुकुट पहन उतरी चुपके अन्तर में !

बिखरा उलझा-सा धूमिल मन पुनः हो उठा केन्द्रित,
विस्मृत-सा सौन्दर्य हृदय में कला-स्पर्श से जागृत !

देख रहा हूँ, अन्धकार में भी प्रकाश अन्तर्हित,
घन विषाद में भी रहता आह्लाद अपरिचित मिश्रित !

सूनेपन के भीतर भी जीवन का गोपन कम्पन,
जब विराम लेता निष्क्रिय बन नया जन्म लेता मन !

मुक्त साँस-सी ली गिरि-वन ने, जगा सुपुप्त समीरण,
उदय हृदय में नया छन्द अब प्राणों मे नव स्पन्दन !

तारापथ-सा मन प्रसन्न हो उठता कर भव दर्शन,
कैसी ऋतु आती जाने प्रेरणा-पंख उड़ते क्षण !

तिहत्तर

अब एकान्त शान्त जीवन से भाता मुझको सक्रिय जीवन
आमन्त्रण दे जहाँ बुद्धि को पग-पग पर जग का संघर्षण !

समाधान खोजे संकट का मन,—सतर्क, चिन्तनपर प्रतिक्षण
अपराजित, धीरज में दृढ़, पथ बाधाओं का करे निवारण !

उठा सके वह वर्तमान के मुख मे ह्रास निशा अवगुण्ठन,
सजग, सुन सके भू आँगन पर नये पगों की आहट गोपन !

बने परीक्षित सैनिक जीवन का,—जन मंगल के प्रति दृढ़प्रण,
स्वार्थ लोभ के पंजे फैला नोचें नहीं मनुज का आनन !

देख रहा, गिरि तरु, वन खग पशु खड़े वही—ये जहाँ अरक्षित,
सुलभ रहे कुछ प्राकृत साधन,—कर पाये न प्रगति, हो विकसित !

भव संघर्षण के पाटों में पीस मनुज की तृष्णा-जर्जर,
चूर्ण अस्थि पंजर से जीवन निर्मित करता नया पूर्ण नर !

अन्ध कूप मे पड़ा मनुज—इसको समझे वह ईश्वर का वर,
सुख-दुःखों से जूझ निरन्तर तमस-योनि से निकले बाहर !

काम भँवर में घूम, सृष्टि सुख लेता वह रस का प्यासा नित,
खीच बोध-अनुभूति-दंश से सदसत् के प्रति होता जागृत !

निर्मित करता वह जग-जीवन क्रूर परिस्थितियों पर पा जय,
बागडोर जीवन विकास की शनैः करों में ले निज निर्भय !

रक्त स्वेद में सना मनुज करता न क्रोधवश भौंहें कुंचित
ग्रथक जूझने में जीवन से पुलकित तन - मन होते उपकृत !
प्रकृति शिक्षिका—लड़ा ग्रखाड़े में—तन - मन में भरती नव बल,
धरा वीर भोग्या—तन से रे मन का शौर्य सम्य का सम्बल !
ग्रब एकान्त शान्त जीवन से भाता मुझको कर्मठ जीवन,
मन संयुक्त ग्रसीम शक्ति से विघ्नों का करता ग्रावाहन !
ज्यों - ज्यों काल मुझे निचोड़ता ग्रन्तर होता नव रस प्लावित,
शाप बना वरदान मनुज को—नरक स्वर्ग वैभव से गर्भित !
पावक स्पर्श तुम्हारा हृत्तन्त्री को करता विद्युत् झंकृत,
पर्वत बाधा लाँघ—करूँगा भू जीवन मे तुमको स्थापित !

चौहत्तर

मुझे दीखता गिरि ग्रंचल में जब फूलों का उपवन,
बाँहों में भर जाता, प्रिये ! तुम्हारा ही कोमल तन !
गिरि ग्राँगन को भूल, तुम्हारी पायल ध्वनि बन चंचल
नृत्य हृदय में करती मेरे जल स्रोतों की कल - कल !
कितनी बार तुम्हारा ग्रंचल समझ—पकड़ने को मन
बढ़ता—जब सौरभ बखेरता बहता चपल समीरण !
चन्द्र कला-सा गौर पार्श्व मुख नील - मुकुर में बिम्बित,
हृदय निकष मे कनक रेख - सा होता शोभा ग्रंकित !
रंग - रंग के विहगों के पंखों में उड़ मेरे गायन
तुममें वास बसाने को रहते भावाकुल उन्मन !
लहरों में उठ - उठ मिलनातुर ग्राकांक्षा रस - विह्वल
तुम्हें बुलाती—ग्रंगुलि से गोपन इंगित कर प्रतिपल !
तारापथ में स्तम्भित मेरे ग्रन्तर के विस्मय - क्षण
कब से मौन प्रतीक्षा - रत, बन सौ - सौ ग्रपलक लोचन !
भव सागर में भँवर, भँवर में नाव भार से जर्जर,
बिना डाँड पतवार—तुम्हीं खे, पार लगातीं दुस्तर !
कौन वस्तु सृष्टि में सकल जड़ चेतन से सम्बन्धित
जो न बाँधती मुझको तुमसे कर सर्वस्व समर्पित !
जीवन के सुख - दु:खों में तुम वर्तमान रहती नित
जीवन की जीवन, तुमसे ग्रस्तित्व निखिल चिर उपकृत !

पचहत्तर

वर दो मा,
घन ग्रन्धकार को,

वह बन सके सौम्य नव मानव,—
इसे प्रभय दो !—
अन्धकार ही बन सकता
भू - मानव अभिनव !

तारामों का हार इसे पहनाओ,
मुक्त मोतियों के
झलमल निर्झर - सा—
चन्द्रकला का मुकुट धरो मस्तक पर
सोहे वह
भास्वर अनन्त अम्बर - सा !

अन्धकार को आशी दो, मा,
वह बन सके मनुष्य
सदाशय, निर्मय !

क्रुद्ध रीछ - सा लगता जो
अति उद्धत
काले कुत्ते - सा वह
पूँछ हिलाये पद नत !

उसे नम्र,
पालतू बनाओ,
जन संरक्षक,—
क्रोध विरोध करे भी वह
हो व्यर्थ न जग जीवन पथ बाधक !

अन्धकार को निष्ठ बनाओ,
वह बन सके
जननि, जीवन का साधक !

रस कुबेर वह,
अपना वैभव करे
विश्व को अर्पित,
रचना प्रिय हो—
मेघ वक्ष में
इन्द्र धनुप - सा सर्जित !

सर्वोपरि,
वह मानवीय हो,
भू - जीवन - प्रिय, संस्कृत,
निज आदिम संस्कारों को धो
वह बन सके परिष्कृत !

अन्धकार से
नयी सृष्टि मा, गढ़ो निरामय !

मिटें निखिल निश्चेतन
उपचेतन भय संशय !
वह समुद्र है : मथो उसे,
जग को दो रत्नाकर का परिचय !
अन्धकार को
पूर्ण मनुष्य बनाओ, मा,
वह प्रीति स्पर्श पा
उर प्रकाश में हो लय,—
शोभा तन्मय !

छिहत्तर

भोग सृष्टि का यज्ञ :
परम आनन्द - देव को अर्पित,—
भोग - दासता
सृजन हर्ष को
करती तामस - कुण्ठित !
काम - द्वेष को जन्म
भोग का देता पाशव - बन्धन,
आज परस्पर बन्दी
कामी स्त्री पुरुषों का जीवन !

भोग दासता से जब मानव
मुक्त करे द्वेषी मन
तभी प्रेम में सम्भव होगा
निश्छल आत्म समर्पण !

शोभा का उपभोग करेगा नर—
शोभा की वाहन
मुक्त देह होगी न फूल बन्धन,
अनन्य रस - साधन !
स्वतः मुक्त आत्मा,
आत्मा का वाहन बने
मनुज तन,—
देह मुक्ति पाती,
मन के
कटु राग द्वेष से कर रण !
आत्म जयी स्त्री नर ही
भोगेंगे स्वर्गिक भू - जीवन !
काम विजित के लिए
नरकवत्
अन्ध धरा का आँगन !

कामजयी बन,
राग द्वेष की अग्नि परीक्षा देकर
गुह्य प्रहर्ष भरा अक्षय वर
भोगे जीवन का नर !

खोलेगी शोभा
असीम ऐश्वर्यों का वक्ष: स्थल,
अमरों के हित रक्षित जिसका
यौवन वैभव पुष्कल !

लौटेगा शाश्वत आनन्द,
धुलेगा पंकिल भू तल,
होगी वधू स्वतन्त्र,
कालिमा मुक्त चेतना अंचल !

परिष्कार अनिवार्य राग का,
संस्कृत हो भू - प्रांगण,
मानव को करना भूपर
निज से भीषण संघर्षण !

राग - मुक्ति की नींव धरे
जीवन प्रबुद्ध विकसित नर,
नव संस्कृति प्रासाद उठे
सित प्रीति कलश घर सिर पर !

मुक्त प्रेम सम्भव न,
वृथा पाले मन में न मनुज भ्रम,
सूक्ष्म नियम से संचालित
जीवों का आकर्षण-क्रम !

प्रेम - मुक्ति की गुह्य खोज
अन्तर्मन का अन्वेषण,—
अन्तरैक्य ही से, रे सम्भव
पूर्ण सम्मिलन का क्षण !

पूर्ण प्रीति की खोज
साधना मार्ग मात्र रस-पावन,
हृदय - सत्य साक्षात्कार ही
निश्चय भगवत् दर्शन !

भुंजीथा त्यक्तेन तेन,
भव राग - यज्ञ नि:संशय,
ब्रह्मानन्द सहोदर सुख
भोगें स्त्री पुरुष अनामय !

ईशावास्यमिदं सर्वं—
उपनिषद् दृष्टि हो सार्थक,

अनघ राग-भू-गरिमा देखे
स्वर्ग—चकित दृग, अपलक !

सतहत्तर

मत सोचो,
हम सभ्य देश के
महाप्राण हैं !—
आज सभी देशों की
सीमाएँ महान् है !
जग किशोर वय अभी,
और हममे
बहुतों का शैशव,
प्रज्ञा प्रौढ न बुद्धि—
चपल प्राणो का
पुष्कल वैभव !

आत्म नम्र हम,
बहिरन्तर का
करें सूक्ष्म अन्वेषण,
चिन्तन मन्थित मन हो,
जीवन प्रति हो पूर्ण समर्पण !

इतिहासों के छाया-सोपानों को
अतिक्रम कर हम
उबरें गत पंकिल यथार्थ से
मिटे विगत ममता भ्रम !

पहचानें भावी का मुख—
नव मानवता का यौवन
जहाँ प्रतीक्षा रत—
जीवन-स्वप्नों से अपलक लोचन !

विश्व सभ्यता में घिर भीषण
वन युग हुआ उपस्थित,
बर्बर मानव विध्वंसक
आणव अस्त्रों से सज्जित !

विश्व प्रकृति ने किया
मनुज विक्रम को आत्म समर्पण,
महत् बुद्धि विद्या वैभव का
युग अप्रतिम निदर्शन !

अंग - अंग अब मूत प्रकृति के
मानव मे उद्घाटित,—

विश्व विजय से बहिर्भ्रान्त नर
हतप्रभ, आत्म पराजित !

देह प्राण मन से भी भीतर
कर प्रवेश अब निर्भय
आत्मान्वेषण करना नर को
मिटे मृत भय संशय !

हृदय तत्व आये सम्मुख,
भोगेच्छा स्वस्थ नियन्त्रित,
स्थित, अन्तः सन्तुलित दृष्टि,—
जीवन पथ हो आलोकित !

आत्म सत्य को (मनुज सत्य जो)
प्रकृति विभव कर अर्पित
बुद्धि, प्राण, मन हों
रचना मंगल मे नव संयोजित !

अन्तर का आलोक मात्र
ज्योतित कर सकता भव-तम,
श्लाघ्य न, बाहर हो दिग् दीपित,
उर में नर पाले भ्रम !

एक नया युग कवि-मन की
आँखों में अब रूपायित,—
अन्तर्द्रष्टा मनुज
बहिः स्रष्टा बन,—
विधि सम्भावित
नये कल्प का महत् हर्म्य
करता जन-भू पर निर्मित,
बहिरन्तर जीवन का वैभव
जिसमें पूर्ण समन्वित !

संस्कृति के स्फाटिक प्रांगण में
करता नव नर विचरण,
ईश्वर में जग के,
जग ही में
ईश्वर के कर दर्शन !

अठहत्तर

बाह्य जगत के कोलाहल को चीर
कहाँ से आते जाने
मेरे उर में
अस्फुट रस प्रिय गायन ?

भावों की सौरभ पी सूक्ष्म
कौन वह मधुकर
भरता जो नित
स्वर्ण पंख गुंजन मधु-मादन !

कैसा वह रस मानस मधुवन
स्वप्नों की पद चाप जहाँ
सुन पड़ती गोपन—
शोभा का ऐश्वर्य जहाँ
यौवन दिगन्त में
रहता अग्नि प्रवाल प्रज्वलित प्रतिक्षण !

या बाहर ही का संघर्ष
अनन्त तुम्हारी
स्वर संगति में बँध
बनता संगीत अतन्द्रित—
मन विस्मय - हृत सुनता,
जब तुम गाती भीतर
रोम - रोम
आनन्द स्पर्श से
होता पुलकित !

ज्ञात नहीं, गति-नील शिराओं में
कँप कैसे
गीत गुंजरित
जीवन-शोणित रहता स्पन्दित !

कैसे चलता हृदय यन्त्र
अहरह लय - मोहित,—
आदिम विस्मय से
मेरा मन मन्थित !

नयन देखते,
सुनते आहट श्रवण,
रूप रस गन्ध स्पर्श प्रति
कैसे
तन्मय इन्द्रिय रहती जागृत !

इससे क्या आश्चर्य परम,
किससे हो प्रेरित
कैसे रहता अनायास मैं जीवित !
और सोचता जब,
यह रवि शशि ग्रह गुम्फित जग
निराधार,
किसके तप से संयोजित,

निर्निमेष रहते लोचन,
कर्तव्य मूढ़ मति,
भूमा - विस्मय में अन्तर
हो उठता घर-घर अम्लान !

एक मौन अनुभूति
हृदय में सहज प्रवाहित—
गुह्य रहस्य स्पर्श - सा देती नि:स्वर,
तुम्हीं ध्येय जीवन की,
महत् जगत् प्रपंच की,
तुमसे ही
संचालित सृष्टि अगोचर !

बहिर्जगत् के कोलाहल को मूँद
तुम्हीं देती गीत नित
मेरी उर तन्त्री को कर स्वर-झंकृत—
तुमसे ही बहुमी सुगन्ध
रस भाव बोध की—
श्रद्धा नत तन - मन
तुमको ही अर्पित !

उन्नासी

अपने बूढ़े गीतों को मैं किसको करूँ समर्पित ?—
उनकी अन्तर्ज्वाला को जन छू पाएँ न कदाचित् !

अनुभव में वे पक्व, भावना में स्वर रस-उद्वेलित,
अन्तर का तारुण्य अतन्द्रित उनकी लय में झंकृत !

तब वसन्त था : रंग ज्वाल, यौवन - दिगन्त थे मुकुलित,
प्रणत फलों में रस परिणत अब शोभा-उत्सव जीवित !

सरिता - सी कलकल गाती बीती किशोर-वय चंचल,
यौवन ने मंजरित किए प्राणों के मुखर दिगंचल !

प्रौढ़ शरद निज रजत कलश में भर लायी बोधामृत,
बाहर विचरण करता मन अपने में फिर ध्यान-स्थित !

जरा ग्रस्त अब देह प्राण मन—घेरे रोग मरण भय,
अपने को अतिक्रम कर तुममें होता अन्तर तन्मय !

रंग मंच जग, पट परिवर्तन होता उसमें प्रतिक्षण,
नयी पात्रता अर्जित करता रहता मानव जीवन !

नव युग की संचेतना लिये गत यथार्थ से उपरत,
एक नयी भावना भूमि में हृदय प्राण मन जाग्रत् !

बना विश्व - यौवन ही अब मेरे यौवन का दर्पण,
प्राण भोगते युवक युवतियों के आलिंगन चुम्बन !

तरुण स्पृहाओं का खुलता नव अन्तरिक्ष - सा मन में,
जीवन का ऐश्वर्य प्रस्फुटित होता प्रेरित क्षण में !

यौवन ही रे परम सत्य नित नूतन भू जीवन का,
मुक्त विश्व यौवन अनन्त यौवन जन-जन के मन का !

सुख-दुख से ही भाव चेतना भू - जीवन की पोषित,
दंश हीन दुख अब भुजंग - सा उर को किये विभूषित !

अर्पित,—जीवन-मुक्त अस्मिता के मोहित बन्धन से
लोक श्रेय रत, तुम्हें रिझाता उन्मन उर गुंजन से !

गाता मन, गाता हृत्स्पन्दन, पा नव अन्तर्यौवन,
विश्व प्रगति ही अब मन की गति, भाव-बोध, संवेदन !

अस्सी

गा - गा कर तू मेरे उर को फिर निज स्वर मे करती मोहित,
ओ गिरि कोकिल, तेरे सम्मुख मुझको आत्म पराजय स्वीकृत !

निभृत गहन का अतल मौन तू अपने स्वर में कर रस केन्द्रित
गाती नित, स्वर सिद्धि प्राप्त कर, जाने किस रहस्य से प्रेरित !

कहाँ सुलभ मुझको ऐसा एकान्त विजन, एकाग्र प्राण मन,—
जो तुझसे प्रतियोगिता करूँ ! अत: प्रणत, करता अभिवादन !

इस संघर्ष निरत जग मे भी वन पिक, मुझको मिलता गायन,
स्वेद सिक्त, श्रम श्रान्त शिराओं में बहता जो भर उर स्पन्दन !

कर्म जनित आयास—भले हों अर्ध सफल या सफल कि निष्फल,
उन सब में निर्वाक् सृष्टि - संगीत प्रवाहित रहता निस्तल !

रचना कौशल ही स्वर-संगति, खग, अश्रान्त यत्न जीवन-लय,
गूढ सृजन सन्तोष स्वयं निःस्वर आत्मिक संगीत असंशय !

नव कृति का सौन्दर्य देख अपलक अवाक् बिछ जाते लोचन,
प्राणों में उल्लास भ्रमर गाता, रोओं में जगता हर्षण !

विहग, विवादी विकृत स्वरों का भी कुछ अर्थ जगत् जीवन हित,
सम्यक् नव रचना मूल्यों से जीवन शिल्पी होता परिचित !

सत्य, सृष्टि का गीत एक ही प्रेम—एक ही सत्य, सृष्टि स्वर,
जिसमें तुम गाती हो तन्मय निज अर्पित अन्तर उँडेल कर !

किन्तु, एक बहु का संयोजन—जीवन - सृष्टि - कला का द्योतक
इसीलिए, खग, मानव अन्तर नये प्रयोगो का नित पोषक !

फिर भी, हाँ, आत्मा का गायक नित्य एक ही स्वर में गाता,
उपनिषदों के ऋषि हों या तुलसी कबीर—जो द्रष्टा, ज्ञाता !

बहु शाखाओं के जग में तुम अन्तः स्थित हो आत्म निवेदन
एक कण्ठ से करती—मैं नत मस्तक फिर करता अभिवन्दन !

इक्यासी

कितने प्यारे लगते
छोटे हँसमुख बच्चे,
भेंट कभी हो जाती उनसे
क्रीडा स्थल पर—

आँखें मिलते ही
वे तुरत लजा-से जाते
मौन मधुरिमा में डूबे मुख
लगते सुन्दर !

शील-नम्र उनका स्वभाव,
निश्छल, अबोध मन,
गीत स्रोत, जीवन पथ में
अज्ञात प्रवाहित,—

कवि से ही कल्पनाशील
अपने भीतर से
गढ़ लेते संसार नया
स्वप्नों का कुसुमित !

लो, लाठी के घोड़े पर चढ़
प्रमुदित मन में—
पृथ्वी परिक्रमा कर शत
जाने किस क्षण में
चन्द्र लोक मे पहुँच गये वे—
इठला अक्षत !

मुझको अब
बच्चों की संस्था में होना था,—
उनके संग बैठती
वृद्ध शिशु मन की संगति,—

वे स्वभाव से संस्कृत होते,
क्रीडा प्रिय भी—
कोमल प्राण,
कौतुकों में नव
रमती नित उनकी मति !

मुझे सरलता, स्वाभाविकता ही
अब भाती,
कृत्रिम चेष्टा नहीं सुहाती,—
सहज बोध से होकर मन संचालित
स्वयं समझ ले, किधर सत्य—
मुझको यथेष्ट अब इंगित !

बौद्धिक - कौतूहल वश आते
मुझसे मिलने
आत्म तुष्ट नागरिक—
तर्क वे देते मौलिक,
ईश्वर के प्रति, जग के प्रति
युग जीवन के प्रति
जिज्ञासा व्यंजित करते भौगोलिक !

कहता उनसे,—
बन्धु, बोलने को वाणी
पर्याप्त भले हो
जन कल्याणी,—

किन्तु, अमर संगीत के लिए
इष्ट साधना स्वर की !—
ऐसे ही मति अलम्
विचार विमर्श के लिए—
साक्षी हो सकती न कभी ईश्वर की !

सत्य बोध के लिए
शुद्ध संस्कार चाहिए,—
गहन सूक्ष्म अनुभूति
सिद्ध अन्तर की,—

स्थूल बुद्धि यह—
जिससे जग जीवन संचालित,—
जागरूकता
श्लक्ष्ण सूझ के स्तर की
सम्भव उससे नहीं !—

तार ही से झंकार निकल सकती नित,
धातु यष्टि से नहीं—
सबल वह निश्चित !
राशि-गुणात्मक मूल्य-सिद्धि
उनकी चिर परिचित !

इससे प्रियवर,
बौद्धिक रिक्त प्रदर्शन कर अब

मुझको आप करें न पराजित—
विद्या उपकृत !

सरल, सहज केन्द्रित
शिशुओं-सा उर कर निर्मित,
शील नम्र बन,
अन्तर्मुख जिज्ञासा से ही प्रेरित,
आप कृतार्थ करें अपने को,—

सत्य बोध
भीतर से करना होता
सब को अर्जित !

बयासी

मृदुल मोम का गुड्डा-सा यह जीवन निश्चित,
बाल खिलौना शिशु मन का प्रिय साथी परिचित !

गोद खिलाऊँगा मैं इसको लोरी गाकर,—
शौर्य कथाएँ विविध सुनाऊँगा साहस भर !

इसे प्यार दूँगा, यह कब से पड़ा उपेक्षित,
म्लान तन वदन, और वसन भी जीर्ण जर्जरित !

शनैः उतारूँगा मैं इसके वस्त्र पुरातन,
वेश सँवारूँगा, स्वरूप दे इसको नूतन !

कब से पथराया यह बन निष्क्रिय, निश्चेतन,
इसके भीतर भरना मुझे नया हृत्स्पन्दन !

मौन प्रतीक्षा रत रे जग के देश काल क्षण,—
जीवन में रूपान्तर हो, मन मे परिवर्तन !

निकल घरौंदों से चींटी-से पंक्ति बद्ध जन
जीवन के प्रांगण मे मुक्त करें मिल विचरण !

निज अगणित कर-पद का श्रम उसको कर अर्पित
नव संस्कृति प्रासाद करें मनुजोचित निर्मित !

नयी दृष्टि के खोल हृदय मन में वातायन
नव गरिमा मण्डित पहचानें जीवन-आनन !

जीव जनित सुख सुविधाएँ जन में कर वितरित
संस्कृति का ऐश्वर्य मनों में भरें अपरिमित !

जीवन की आत्मा का मुख भी पहचानें जन,
शोभा मांसल तन हो, मानस अन्तश्चेतन !

जग जीवन क्रीड़नक, नव्य चैतन्य स्पर्श भर,
आत्म दीप बन उबरे बौद्धिक शैशव से नर!

तिरासी

अब बीता यौवन का वसन्त, बीता अब काम-निदाघ प्रबल,
संशय धूमिल न रहा पावस, सित शरद स्पर्श करता शीतल!

अब पहिली बार मुझे लगता शोभा का क्षितिज खुला मन में,—
ऐसा पवित्र सौन्दर्य कभी अनुभव न हुआ था जीवन में!

आनन्द कहूँ इसको?—अन्तर अनजाने हो उठता तन्मय,
अनुभूति अनिर्वचनीय मुझे रस में मज्जित करती अतिशय!

प्राणों के सुख दुख से परिचित मन, इच्छाओं से सम्मोहित—
यह आत्म मुक्त आनन्द,—अखिल अस्तित्व बोध करता प्लावित!

भय संशय का अवगुण्ठन-सा उठ गया विषाद-तिमिर गुम्फित,
जग से वियुक्त, संयुक्त उभय मन स्वतः हुआ अब अन्तः स्थित!

सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द किसे कहते—न जगत् परिचित किंचित्,
तुमसे सम्भव ऐश्वर्य सकल—सित रजत शान्ति रस से परिवृत!

जग के भीतर से सूक्ष्म जगत् अन्तर में होता उद्भासित,
स्वर्णिम नीहारों के पथ पर मन विचरण करता रोमांचित!

अपने ही में थी बुद्धि व्यस्त, अब जग-जीवन के प्रति अर्पित,—
तुम हो जग में, इससे मुझको प्रिय लगता जग—न मृषा जल्पित!

अनुभव करता अवकाश चित्त, अब दिशा अधिक लगती विस्तृत,
स्थिर काल विश्व गति द्योतक, मैं निज प्रति विस्मृत, तुममें जागृत!

तम रज पर प्राण मनस् हों स्थित, पर सृष्टि चक्र का संचालन
करता सात्विक चैतन्य सूक्ष्म जिससे पोषित जीवन-प्रांगण!

चौरासी

नव तारुण्य? शिखर वह धरती के जीवन का,
रस वसन्त वह, नित्य हरित प्राणों के वन का!

यौवन? भीत न मन से, वह जीवन-आराधक,
यौवन को दो दिक् प्रशस्त पथ, बनो न बाधक!

वह दुविधा से मुक्त, सहज इच्छा से प्रेरित,
प्राण शक्ति सम्राट्, मरुत गण से नित सेवित!

नयी चेतना का नव यौवन निर्मल दर्पण,
समझ न पाता नवोन्मेष प्रवयस् पतझर वन!

भू विकास गति क्रम यौवन से हो संचालित,
जीवन श्री शोभा हो नव शोणित से शासित !

तोड़ो, तोड़ो, अन्ध रूढ़ियों के जड़ बन्धन,
घुमड़ रहा नव रस जलधर उर में भर गर्जन !

पावक पग धर विचरे जन-भू पर नव यौवन,
जीवन-आकांक्षा से कुसुमित हो दिक् प्रांगण !

भाव यज्ञ यह : तन मन के कल्मष हों ईंधन,
राग द्वेष हों सामूहिक वेदी को अर्पण !

स्वाहा, स्वाहा, लघु स्वार्थों की आहुति पावन
सुलगे जीवन-शोभा की लपटों में नूतन !

गाओ, पिक, यौवन के कुसुमित गायन गाओ,
उसके पथ पर सौरभ पंखड़ियाँ बरसाओ !

तन्मय शोभा का कोमल आस्तरण बिछाओ,
मृदु बाँहों में भर यौवन को अंक लगाओ !

रचना स्वप्नों से जीवन-क्षण उन्मेषित हों—
नयी प्रेरणाओं के रस सागर मन्थित हों !

गत इतिहास न हो भविष्य के लिए निदर्शन,
घुटनों के बल चला मृत में जग का जीवन !

काम-द्वेष का गरल पिओ, छोड़ो भय संशय,
प्रीति मुक्ति का पथ हो जीवन,—विचरो निर्भय !

नव यौवन को दिग् विस्तृत पथ दो हे भू जन,
यौवन दुर्बलता हो नयी सिद्धि की साधन !

आशाऽकांक्षा के संघर्षों में तप प्रतिक्षण,
निखरे जन मन में जीवन-मंगल का कांचन !

जीवन की क्षमता यौवन,—विघ्नों पर पा जय,
धरो मुकुट यौवन मस्तक पर करो न विस्मय !

पिचासी

सुन्दरता खींचती मुझे, सुन्दरता ही करवाती प्रणयन,
मैं गायन को छोड़ूँ भी यदि, मुझको नहीं छोड़ता गायन !

विविध गूढ़ आयाम जगत् में जिनमें विश्व विबुध सम्बन्धित,
शोभा का आयाम ही मुझे निखिल जगत् में करता मोहित !

देखा करता—रज तृण कृमि पशु पक्षी स्त्री नर से जग परिवृत,—
एक महत् सौन्दर्य तत्व के अल्प अंश भर ये सब निश्चित !

और कौन होता ईश्वर सौन्दर्य-शक्ति को छोड़ जगत् में,
नीरव वंशी-ध्वनि वह : मुग्ध चराचर : पग पग मौन प्रणत मैं !

हृदय ग्रन्थि खुलती भर, उठता स्थूल अस्मिता का गुण्ठन भर,
उमड़ सिन्धु-सौन्दर्य ज्वार प्लावित कर देता प्राण दिगन्तर !

रोम रोम में शक्ति-पात होता असीम सौन्दर्य स्पर्श से—
निर्निमेष रहते दृग, स्तम्भित बुद्धि, हृदय तन्मय प्रहर्ष से !

भाव बोध, रस संवेदन—ये केवल शोभा के हृत्स्पन्दन,
निखिल सृष्टि सौन्दर्य-सुरा-उन्मत्त—रभस गति करती नर्तन !

मुक्त प्रकृति सौन्दर्य अनावृत—भाव मुग्ध रहते जड़ चेतन,
व्यग्र प्रतीक्षा मे रत प्रतिक्षण कितने प्रणय निवेदन, यौवन !

मैं शोभा ही के माध्यम से विविध वस्तुओं से हूँ परिचित,
वे स्त्री नर हों, पशु पक्षी हों,—निखिल द्रव्य जिनसे जग निर्मित !

ज्ञान कर्म हो, नीति धर्म, श्रद्धा आस्था, जिनसे उर प्रेरित,
मैं सौन्दर्य-प्राण मूल्यों से उनके प्रति होता आकर्षित !

मुझे ज्ञात, सौन्दर्य साधना सर्वोपरि साधना सुसंस्कृत,
ईश्वर नत सौन्दर्य पदों पर, शान्ति प्रीति आनन्द समर्पित !

शिल्प कला कृति—शोभा ही के भ्रू-विलास से जग में सम्भव,
सुन्दरता छूती मेरा उर स्पर्श गीत बन जाता अभिनव !

देह, प्रेम के आत्मा की, सित शोभा—जिसमें होता गोचर
दिव्य अगोचर प्रेम,—दृश्य रस गन्ध स्पर्श स्वर मूर्त, परात्पर !

छियासी

जब मैं धूल उठाकर
धरती की मुट्ठी भर
उसे कान के पास लगा
सुनने लगता हूँ—

तो विस्मित रहता मैं—
वह गाने लगती है !

मिट्टी हो पत्थर—
तुम सब मे मुझे अचानक
दिख जाती हो !
वास्तव में, जग की समस्त वस्तुएँ
मात्र पर्याय शब्द हैं,—
जिनका अर्थ तुम्ही हो—
गोपन तत्व तुम्ही हो !

जैसे कोई सजी धजी
बहुमूल्य सुरंग वस्त्रों
मणि रत्नों से आभूषित
नव युवती
अपने शोभा वेष्टन उतार कर
उनसे भी अनिन्द्य
प्रिय हंस-गौर वक्षःस्थल
दिखलाने को
स्वत. अनावृत होकर
दृष्टि चमत्कृत कर दे —

ऐसे ही तुम
देश कालमय, नामरूपमय
जग के सब आवरण हटा कर
मनोदृगों मे आविर्भूत
सहज हो उठती—
तन्मय कर
अस्तित्व बोध को !

रोम रोम जग
गाँसों के वन-से नवांकुरित
गाने लगते
मौन तुम्हारी वंशी बन कर !
प्यारा लगने लगता सब जग,
खो जाता चुपके मन तुममें !

रोग शोक क्या बुरे ?
मृत्यु का भी भय क्यों हो ?
तुम जो हो सर्वत्र—
अभय दे रही सभी को
मृत्यु पार से !

सागर तिरना
गोपद से भी सरल,—
तुम्हारी स्नेह दृष्टि पा !

जब असीम ने गुण्ठन खोला
तृण-सी ही सुकुमार
दिखायी दी तुम मुझको !
तृण-सी चिर सुकुमार—
अजेय महत् पर्वत-सी !

और जी किया
तुम्हें हृदय मे बिठा
छिपा लूं,—

सह न सकेगा
सौकुमार्य की शक्ति
जड़ जगत् !

प्राण,
तुम्हीं में है समस्त सुख,
और तुम्ही वह काव्य भूमि हो,—
जिसमें नित विचरा करता मन,
इसीलिए,
भौंरे शुक पिक ही नही
मूक जड द्रव्य भी सभी
गाते मेरे भीतर—

सुनता दृष्टि से उन्हें
पा नव दर्शन !

सतासी

खोलो नव परिचय वातायन !
क्षण की अतिथि,
उठाओ मन से
भेद भाव भय का अवगुण्ठन !

मनुज एक ही—इसमें संशय ?
फिर उससे मिलने मे क्या भय ?
ज्ञात, छिपा क्या मनुज हृदय मे,
क्या कहता गोपन उर-स्पन्दन !

शोभा कृति उसका तन सुन्दर,
मुझसे दुरा न मानव अन्तर,
विदित, कौन भावना कल्पना
उसके उर का करती मन्थन !

आओ, और निकट आ जाओ,
मुझको मन की बात बताओ,—
विश्व परिस्थितियों के शिशु हम,
वही एक सुख-दुख संवेदन !

लो, मन में सद्भाव जगा कर
हम दोनों आ गये निकटतर,
सहज बोलती हँसती अब तुम—
रहा न लज्जा भय का कारण !

मनुज मिलन के सुख से बढ़कर
और नहीं सुख जग में, ईश्वर !

गहन धैर्य, दायित्व बोध से
सम्भव मिलन-मुक्ति संरक्षण !

रक्त मांस हों एक परस्पर,
एक प्राण मन के भी हो स्तर,—
किन्तु, एकता के संग ही
वैविध्य प्रकृति का सत्य चिरन्तन !

व्यक्तीकरण भले आवश्यक,
मनुज वैश्व जीवन का साधक,
हिलें मिलें, खुल खेलें हम सब
हो कृतार्थ जन-भू का प्रांगण !

व्यक्ति प्राण मन भी हों विकसित
सामाजिक जीवन भी विस्तृत,
व्यक्ति समाज, बाह्य अन्तर का
हो जग में व्यापक संयोजन !
आओ, खोलें नव वातायन !

अठासी

सरल बनो, सध मेरी वाणी !
मनुज हृदय को
मनुज हृदय के
अधिक निकट लाओ, कल्याणी !
सरल बनो, प्रिय, मेरी वाणी !

मत बिलमो मति सोपानों पर,—
रिक्त तर्क वादों से ऊपर
सूक्ष्म मर्म अनुभूति स्पर्श से
छुओ मनुज मन, रानी !

तर न सका मन से भव सागर,
रहा कूप मण्डूक निरन्तर—
अपनी ही बातों पर
अड़ता रहा, मूढ अभिमानी !

भटका स्वर कितनी राहों पर,
मँडराया वन - वन उर मधुकर,
उलझाते ही रहे वेष्टनों मे
तुमको बुध ज्ञानी !

ऐसा नही कि हो श्रद्धा नत
कहें, रहस्य न हमको अवगत,—
तुम्हीं व्यक्त करती निज भेद
व्यक्ति चुन, परम सयानी !

केवल सहज समर्पित होना,
आसुर आत्म दर्प निज खोना—
शब्द नहीं तब, सृष्टि नहीं—
रहती तुम चिर पहचानी !

मिले आत्म द्रष्टा बहु साधक
भू जीवन रचना पथ बाधक,
देख न पाये,
तुम जग में,
जग तुममें योगी ध्यानी !

छुओ हृदय निज स्वर से, लय से,
तुममें जगें मनुज तन्मय-से,
दिखे रूप ही में अरूप
जीवन कृतार्थ हों प्राणी !
सरस बनो कवि वाणी !

नवासो

लो, तुम्हें सौंपता हूँ अपने को,
तुम्ही मुझे देखो ! —
भौंहों की चिन्ता
चूम चूम कर
ऋजु कर दो उर-दृष्टि !

जीर्ण देह रज,
जरा रोग जर्जर—
पहिले इसको सँभाल लो,
अपने सुधा सरोवर में
नहला, सहला कर
इसको स्वस्थ, सशक्त करो !

चिर चंचल प्राणों का मधुकर !—
अपनी श्री शोभा सौरभ से
इसे लुभा कर
गीत निमग्न करो उसको !

वह गूँजता रहे,
गूँजता रहे,
भ्रमर प्रीति मधु संचय करने,
तुमको वरने !

यह उन्मन मन !
युग-युग के मकड़ी-के जाले
झाड़, पोंछ, कर

इसे स्वच्छ रख—
आत्म प्रबुद्ध करो,
यह मन्दिर बने तुम्हारा !

रहा हृदय !—
वह मेरा कहाँ ?
इसे गुण ग्राही
निज छवि-मुकुर बनाकर—
निज समस्त ऐश्वर्य करो
भावों बोधों में बिम्बित !

इसको निज तृण वास बनाओ,
मुग्ध पिकी - सी
रस तन्मय
भीतर से गाओ !
मेरे लघु अस्तित्व सत्य का
अपने से कर परिणय !

कहाँ जगत् में प्रेम ?
महत् स्वार्थों का सम्मोहन भर !
भिन्न देह मन प्राण प्रकृति हों जहाँ
वहाँ सम्भव क्या पूर्ण मिलन ?—
या आत्म समर्पण ?

तुम हो केवल प्यार,
प्यार—सम्पूर्ण प्यार—
दिव्य प्रेम के अग्नि-स्पर्श से
सत्ता के तृण पंजर को छू
उसे हृदय की तन्मय लौ में
करती अक्षय परिणत !

हृदय चाहता,
तुम सामाजिकता का आसन
ग्रहण कर सको—
जग प्रतिक्षण
समवेत हृदय स्पन्दन में
विकसित मानवता के—

पूर्ण करो निज सृष्टि प्रयोजन,
अमर धाम बन सके तुम्हारा
जीवन प्रांगण !

नब्बे

उठ रे मन, उठ ऊपर
उतर सके तू भू पर !

अभी दबाये हुए तुझे भू,
राग द्वेष भय से पीड़ित तू,
क्या कर पायेगा कहू, जग में
अहं दंश विष जर्जर !

अपना ही, न जगत् ही का हित
तुझसे सम्भव होगा किंचित्,
इन्द्रिय रस दुहने को भी
संयम चाहिए निरन्तर !

विश्व चेतना ? वह दिग् विस्तृत,
उसे प्राप्त करते अन्त: स्थित,—
बूड़ पार करते भव सागर
दृढ पुरुषार्थी ही नर !

अल्प, तुच्छ होता न समादृत,
नाश अहंता का ध्रुव निश्चित,—
क्रूर कंस रावण मिट जाते,
विश्व प्रगति का खा धार !

दिशा पास आती अब उड़कर
काल प्रगति की गति पर निर्भर,
निकट आ रहे विविध धर्म
विज्ञान ज्ञान—बाधा तर !

मन: क्षितिज अब नव आलोकित,
आज विश्व प्रेमी ही संस्कृत,
क्रम विकास गति से नव प्रेरित
मानव का रूपान्तर !

अत: जगो, भव कर्म करो मन,
भू रचना प्रति हो युग-चेतन,
छोड़ो अन्ध विवर निजत्व का
नव प्रकाश से उर भर !

जग के संग रह, जग का यौवन
भोगो, अतिक्रम कर निज तन मन,
श्री शोभा आनन्द प्रीति का
स्वर्ग रचो, भू को वर !

उठते साथ, बैठते प्रतिक्षण
मानव संग विचरण कर सुरगण,—
निष्क्रिय स्वर्ग प्रतीक्षा रत
सक्रिय हो वह छन भू पर !

इक्यानबे

मैं जन भू का कवि हूँ
जन जीवन मन हित
नव स्वप्नों की
स्वर्गिक सम्पद् लाया हूँ !

निर्मम यथार्थ पाटों में
पिसते भू जन,
सह रूढ़ि रीति के
लौह शृंखला बन्धन,—
मैं स्वप्नों के चिन्मय
विद्युत् स्पर्शों से
उनको उबारने
तापों से आया हूँ !

मैं प्रेम गीत लिखता
साँसों को दुह कर,
खोजा सर्वत्र,—न मिला
प्रेम धरती पर !

मेरे स्वप्नो की स्त्री
कल रूप धरेगी,
वह युग-आत्मा,
मैं युग की स्वर-काया हूँ !

मैं विचर चुका
भौतिक आध्यात्मिक स्तर पर
दोनों एकांगी—
उनसे मंगल दूभर !

मैं सृजन प्रीति स्वप्नों से
अन्तः प्रेरित,
सौन्दर्य साँस-सा
उर-उर मे छाया हूँ !

आत्मा औ' मन की
धूप-छाँह संचित कर
मुझको रचना जन भूपर
जीवन का घर,—
जग ही मे मुझे
प्रतिष्ठित करना प्रभु को,
मैं भाव कोख से
ईश्वर का जाया हूँ !

गत देश काल के
मूल्यों को अतिक्रम कर
जीवन का स्वर्ग
बसाने आया भू पर,—

वाणी का सुत,
युग अग्रदूत, नव मधु पिक,
समझो तो सत्य,
न समझो तो माया हूँ!

बयानवे

चन्द्र लोक में प्रथम बार मानव ने किया पदार्पण,
छिन्न हुए लो, देश काल के दुर्जय बाधा बन्धन!

दिग् विजयी मनुसुत,—निश्चय, यह महत् ऐतिहासिक क्षण,
भू विरोध हों शान्त, निकट आएँ सब देशों के जन!

युग - युग का पौराणिक स्वप्न हुआ मानव का सम्भव,
समारम्भ शुभ नये चन्द्र युग का भू को दे गौरव!

फहराये ग्रह उपग्रह में धरती का श्यामल अंचल,
सुख सम्पद् सम्पन्न जगत् में बरसे जीवन-मंगल!

अमरीका सोवियत बनें नव दिक् रचना के वाहन,
जीवन पद्धतियों के भेद समन्वित हों,—विस्तृत मन!

अणु युग बने धरा जीवन हित स्वर्ग सृजन का साधन,
मानवता ही विश्व सत्य : भू राष्ट्र करें आत्मार्पण!

धरा चन्द्र की प्रीति परस्पर जगत् प्रसिद्ध, पुरातन,
हृदय - सिन्धु में उठता स्वर्गिक ज्वार देख चन्द्रानन!

भू बाँहों में बँधने चन्द्र कला शोभा - तन्वी बन
अधिक सुहाती—अंक नहीं भू मुख बिम्बित शशि दर्पण!

ताराओ, अब मानव का नव वास तुम्हारा ही घर,
सुभग स्वर्ग अप्सरियो, फिर से बनो मनुज की सहचर!

उषे, लजाओ नहीं, उदय हो प्रणय स्वप्न नव लेकर,
अन्तरिक्ष के पार तुम्हें अब अंक लगायेगा नर!

सुनता मैं पद चाप मनुज की उपकृत शशि-आँगन में,—
खुला क्षितिज स्वर्णिम आशा का भू-विधु-सम्भाषण में!

रिक्त जल्पना मात्र विजय, उल्लास न जन के भीतर,
अह, भू जीवन हित होता दिग् यात्रा व्यय न्योछावर!

यह जो हो, दिग् चालक मानव बने न जन-भू-घातक,
भू को छोड़, चन्द्र को वरना होगा दारुण पातक !

वैसे स्वर्ग पंक्ति में अब भू स्थित, नव गरिमा मण्डित,
जय साहसी दिगारोही, शशि से जिसके पद चुम्बित !

तिरानबे

दीप स्तम्भ-से कौन खड़े उस पार दूर पर,
निज प्रकाश अंगुलि से जो अदृश्य इंगित कर
निर्देशन करते जन का पथ !
संकट क्षण मे
जो अविचल निर्भीक रहे युग संघर्षण में !

उफनाता उद्वेलित दुर्गम जीवन सागर
पदनत जिनके सम्मुख लगता रहा निरन्तर—
पर्वत-सा संकल्प लोक तृण तरणी पर धर
पार कर गये जो अकूल भव जलनिधि दुस्तर !

तोड़ लौह शृंखला दासता की चिर दुर्जय
बना गये अघ-नियति-भीत जनता को निर्भय !
स्वार्थ लुब्ध, कटु द्वेष क्षुब्ध, बहु मुण्ड विभाजित
निखिल देश को युग प्रबुद्ध कर, ऐक्य संगठित—
खोल गये चिर रुद्ध हृदय-पट जो क्षण-भर में
भाषा की दे स्वर्ण कुंचिका जन-जन कर में !

धन्य अमर युग सेनानी, पुरुषोत्तम गांधी,
साँसों में भर लाये तुम स्वतन्त्रता-आँधी !

चौरानबे

वन्दन, शत अभिनन्दन !
जटिल जगत् के कर्म चक्र में
तुम्हें नहीं भूले मन !

वयः शिखर अब दिखता सम्मुख
परिचित जग जीवन के सुख-दुख—
हृदय तुम्हारे प्रति हो उन्मुख
करता आत्म समर्पण !

जब तक उर साँसों से स्पन्दित,
शिरा जाल में बहता शोणित,
प्राणों में इच्छाएँ झंकृत,—
गूँथे मन नव गायन !

मू समर्पण के प्रति जाग्रत,
घृणा द्वेष में रख उर अक्षत,
आत्म शान्ति मे न्हाकर शाश्वत
भरूँ मनुज-उर के व्रण !
नव मानवता के युग - रण में,
नव शोभा रचना के क्षण में,
मू जीवन ही के आँगन में
करूँ तुम्हारे दर्शन !

सूर्य चन्द्र तारा से अम्बर,
आत्म वोध लौ से साधक वर,
हृदय दीप से श्रद्धा नत नर
करता नित नीराजन !
खोलो नर नारी उर बन्धन,
प्रीति-मुक्ति हो संस्कृति दर्पण,
काम अग्नि से निखरे कांचन—
तुमसे प्रणय निवेदन !

मृत्यु दंश से भीत न अब मन,
व्यक्ति न मैं, मानव नव चेतन,
लेता जन्म धरा पर प्रतिक्षण
क्रम विकास का कारण !
वन्दन है, अभिवन्दन !

२० मई '५० अब '७०

वर्ष गाँठ पर, प्रिय सुहृदों को
मेरी हार्दिक स्नेह बधाई !
वयस सूत्र में पड़ी गाँठ नव
जीवन की बन गोपन अनुभव,
यह अजात क्षण का स्वर्णोत्सव
जगी चेतना की तरुणाई !

वृद्ध सही होता जाता तन,
बढ़ता जाता उर का यौवन,
जन्म मरण मे मैंने जीवन-
ज्योति-दृष्टि शाश्वत अपनाई !
सपनों-से दिन मास वर्ष कब
बीत गये, क्या स्मरण मुझे अब !
कालातीत सदा के तुम जब
जिससे मेरी हुई सगाई !
हृदय-पद्म में रश्मि-चरण धर
रिक्त विश्व को बना पूर्णतर,

चिर अमूर्त को नव्य मूर्त कर
आये तुम, छायी अरुणाई !

मौन स्वरों में हुआ गुंजरित
काल-सिन्धु क्षण - बिन्दु तरंगित,
दिखे विश्व में तुम प्रतिबिम्बित
रहस दृष्टि सहसा नव पायी !

काँपी छाया भव कानन में
काँपी माया भू के मन में,
काँपी अमर चेतना तन में
तुमने जीवन भीति भगायी !

बोली धरा, गगन खुल बोला,
बोली वह्नि, पवन डुल बोला,
बोला सलिल, कमल-मुख खोला,
जड़ता ने पट - लाज हटायी !

देवों के सँग कर सम्भाषण,
मर्त्यों के सँग मिला आचरण,
मिट मिट बना मनुज मैं नूतन,
तुमने ऐसी राह दिखायी !

चुना विगत मे मैंने अभिमत,
भावी के स्वप्नों में रह रत
जन जन के ईश्वर के प्रति नत
मैंने अब तक आयु वितायी !

शेष अशेष बना मेरे हित
इन्द्रिय भोगी अब इन्द्रियजित,
मुझ परिमित में सतत तुम अमित,
राम कहानी मैंने गायी !

विश शती अब प्राय: बीती
उत्तरार्ध पर मुझे प्रतीतिऽ
पाता रहूँ तुम्हारी प्रीतिऽ
उर मे इच्छा एक समायी !

तुमको जीवन ही में पाऊँ
जग में तुम पर ही बलि जाऊँ,—
डूबूँ, जन को साथ डुबाऊँ,
मैं बन सकूँ अतल गहराई !

ये जो ईर्ष्या स्पर्धा करते
ये क्यों अपने मन में डरते !
ये भी भीतर तुमको वरते
घृणा प्रेम ही की परछाँई !
वर्ष रत्न की सब मित्रों को
देता उर से प्रीति बधाई !

श्री सुमित्रानंदन पंत

कौसानी, जि० अल्मोड़ा में जन्म : २० मई, १९०० । जन्म के छ घण्टे बाद माँ की मृत्यु । गोसाईंदत्त नामकरण। १९०५ में विद्यारम्भ । १९०७ मे स्कूल में काव्यपाठ के लिए पुरस्कार । १९१० में अपना नाम बदलकर सुमित्रानंदन रखा । १९११ में अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में प्रवेश १९१२ में नेपोलियन के चित्र से प्रभावित होकर केशवर्धन। १९१५ से स्थायी रूप से साहित्य-सृजन । पहले हस्तलिखि पत्रिका 'सुधाकर' में कविताओं का प्रकाशन, और १९१७-२१ के बीच 'अलमोड़ा अखबार' तथा 'मर्यादा आदि पत्रो मे । जुलाई १९१९ में म्योर सेन्ट्रल कालिज प्रयाग, मे दाखिल हुए, लेकिन १९२१ में असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर कालिज छोड दिया । १९३० में द्वि पदक । १९३१ से '३४ और '३६ से '४० तक की अवधि कालाकांकर में । १९३८ मे 'रूपाभ' का सम्पादन; रवीन्द्र नाथ, कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी के विचारों का अवगाहन । १९४० मे उदयशंकर संस्कृति केन्द्र मे ड्रामा-क्लासे लिये । १९४३ मे उदयशंकर संस्कृति केन्द्र के वैतनिक सदस्य बने और 'कल्पना' फिल्म के सिनेरियो की रूपरेखा तैयार की, कुछ गीत भी लिखे । १९४४ में पाण्डिचेरी की यात्रा अरविन्द की विचार-साधना से विशेष प्रभावित । १९४७ में सास्कृतिक जागरण के लिए समर्पित संस्था 'लोकायन' क स्थापना । १९४८ मे देव पुरस्कार, १९४९ मे डालमि पुरस्कार । १९५०-५७ मे आकाशवाणी के परामर्शदाता १९६० में कला और बूढ़ा चांद पर साहित्य अकादमी पुरस्कार । १९६१ मे पद्मभूषण की उपाधि । १९६१ मे रूस तथा यूरोप की यात्रा । १९६५ में उत्तर प्रदेश की ओर से १०,०००रु० का विशेष पुरस्कार । १९६५ में ह सोवियतलैण्ड नेहरू पुरस्कार लोकायतन पर । १९६७ मे विक्रम, १९७१ में गोरखपुर, और १९७६ मे कानपुर तथा कलकत्ता वि. वि. द्वारा डी. लिट्. की मानद उपाधियां । दिसम्बर १९६७ में भाषा-विधेयक के विरोध में पद्मभूषण की उपाधि का परित्याग । १९६९ में साहित्य अकादमी की 'महत्तर सदस्यता' । १९६९ में ही चिदम्बरा पर भारत ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला । २८ दिसम्बर, १९७७ को देहावसान ।